विज्ञापन

गूजरातपुरातत्त्वमंदिरनी प्रबंधसमितिना संवत् १९८३ ना मागशर सुद ९ ना बीजा ठराव मुजब आ पुस्तक प्रसिद्ध करवामां आवे छे.

भाद्रपद १५
संवत् १९८३

प्रकाशक

प्रकाशकः—श्यामलाल ह. भगवती कामचलाउ महामात्र, गूजरातविद्यापीठकार्यालय,
अमदावाद

मुद्रकः—रामचंद्र येसू शेडगे, निर्णयसागर प्रेस, नं. २६-२८, कोलभाट लेन, मुंबई

टीका-टिप्पण्युपयुक्तावतरणस्थानानां सङ्केताः ।



अनुयोग०	अनुयोगद्वारसूत्रम् ।
अभिधानप्प०	अभिधानप्पदीपिका (पालीशब्दकोशः)
आप्तमी० आप्तमीमां०	आप्तमीमांसा ।
तत्त्वार्थटी०	तत्त्वार्थसूत्रटीका ।
तत्त्वोपप्लवः	
दशवै० निर्यु०	दशवैकालिकसूत्रनिर्युक्तिः ।
धर्मसं०	धर्मसंग्रहः (बौद्धः) ।
नयचक्र० लि० को०	नयचक्रम् अस्मदीया लिखितप्रेसकोपी ।
नयोप०	नयोपदेशः ।
न्यायप्र० सू०	न्यायप्रवेशसूत्रम् ।
न्यायप्रवेशसू० वृ०	न्यायप्रवेशसूत्रवृत्तिः ।
न्यायबिं० न्यायबिन्दुप्र०	न्यायबिन्दुप्रकरणम् ।
न्यायवा० ता० टी० न्यायवार्तिकता०	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका ।
न्यायाव०	न्यायावतारः ।
पञ्चास्तिका०	पञ्चास्तिकायः ।
प्रमाणनयत०	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रम् ।
प्रवचनसारः	
प्रशस्त० कं०	प्रशस्तपादभाष्यम् कन्दलीसमेतम् ।
बृ०	बृहत्ताडपत्रम् ।
बोधिचर्याव० प्रज्ञापार०	बोधिचर्यावतारः प्रज्ञापारमितापञ्जिकासमेत
भगवती० भगवती० सू० भगवती० टी०	भगवतीसूत्रम् टीकासमेतम् ।
मज्झिमनिकायः	
मध्यमकवृ० प्रत्ययप० आर्यसत्य० प्र०	मध्यमकवृत्तिः मध्यमककारिका प्रत्ययपरीक्षा प्रकरणम्, आर्यसत्यपरीक्षाप्रकरणम् ।
महायानसूत्रालङ्कारः	
राजवा०	राजवार्तिकम् ।
ल०	लघुताडपत्रम् ।
लौकिकन्याया० भा०	लौकिकन्यायाञ्जलिः, भागः ।
विशेषा० बृ० वृ०	विशेषावश्यकबृहद्वृत्तिः ।
विशेषाव० भा०	विशेषावश्यकभाष्यम् ।
शास्त्रदीपिका युक्तिस्नेह— प्रपूरणीसिद्धान्त०	शास्त्रदीपिका युक्तिस्नेहप्रपूरणी- सिद्धान्तचन्द्रिकाव्याख्यायुता ।

शिक्षासमु० परि०	शिक्षासमुच्चयः परिच्छेदः।
सम्मति० द्वि० का०	सम्मतितर्कप्रकरणम् द्वितीयं काण्डम्।
सप्तभङ्गीत०	सप्तभङ्गीतरङ्गिणी।
सिद्धिवि० टी० लि०	सिद्धिविनिश्चयटीका लिखितप्रेसकोपी गूजरात-पुरातत्त्वमन्दिरसत्का।
सुत्तनिपातः	
सुमङ्गलविलासिनी सामञ्ञफलसुत्तव०	सामञ्ञफलसुत्तवण्णना।
सूत्रकृ० टी०	सूत्रकृताङ्गसूत्रम् टीकासहितम्।
स्थाना० सू०	स्थानाङ्गसूत्रम्।
स्फोटसि० / स्फोटसिद्धिन्यायविचारः / अनन्त०	स्फोटसिद्धिन्यायविचारः अनन्तशयनग्रन्थमाला।

विषयानुक्रमः ।

संपादकीय निवेदन.



आ त्रीजो भाग विद्वानो समक्ष उपस्थित करतां संकल्पनी आंशिक सिद्धिने लीधे अमने कांइक भार हळवो थयानो अनुभव थाय छे अने जाणे तेटले अंशे थाक उतर्यो होय तेम भासे छे. बे वर्ष पहेलां आ भागने लगतुं संशोधनकार्य प्रारंभेलुं अने जो ते सतत चालु रह्युं न होत तेम ज पुरातत्त्वमंदिर अने अन्य विद्यारसिक मित्रो तरफथी अमारे जोइती बधी मदद वखतसर मळती रही न होत तो बीजा भाग पछी एक ज वर्षने अन्तरे आ भाग प्रसिद्ध करवानो जे प्रसंग मळ्यो छे ते कदी न मळत.

प्रस्तुत भागमां आवता ग्रन्थ अने तेना संशोधनने लगती केटलीक खास बाबतोनुं स्पष्टीकरण अहीं करी देवुं आवश्यक छे. ग्रन्थने लगती मुख्य बे बाबतो छेः–(१) मूळ गाथाना परिमाण संबंधी अने (२) टीकागत अशुद्धि संबंधी.

(१) पहेला कांडनी ५४ गाथाओमांथी प्रथमनी ४ गाथाओ प्रसिद्ध थयेल पहेला अने बीजा भागमां आवेली छे अने बाकीनी ५० गाथाओ आ त्रीजा भागमां आवी जाय छे अने ए रीते आ भागमां आखुं प्रथम कांड पूर्ण थाय छे. मूलकार श्रीसिद्धसेनदिवाकरे आखा प्रथम कांडमां नयनी सूक्ष्म, व्यवस्थित अने विशद मीमांसा करी छे तेम ज टीकाकार श्रीअभयदेवे अति-विस्तृत दार्शनिक विविध विषयोनी चर्चा द्वारा ए मीमांसाने बहु ज पल्लवित करेली छे. आ त्रीजो भाग प्रकाशित थवाथी मूलकार अने टीकाकारना नयसंबंधी संक्षिप्त तेम ज विस्तृत ऊहापोहने संपूर्णपणे जाणवानुं साधन प्राप्त थाय छे.

(२) प्रस्तुत भागमां पांचमीथी चोपन सुधीनी पचास गाथाओनी टीका आवी जाय छे. तेमां बीजी बधी गाथाओ करतां पांचमी अने छट्ठी ए बे गाथाओनी टीका घणी मोटी छे. तेमां य वळी छट्ठी करतां पांचमीनी टीका तो वधारे मोटी छे. आ भागना लगभग बे तृतीयांश पांचमी अने छट्ठी ए बे गाथानी टीकाथी ज रोकाएला छे अने पांचमी गाथानी टीकाथी एक तृतीयांश करतां वधारे रोकाएल छे. पांचमी गाथानी टीका जेम विस्तारमां तेम अशुद्धिमां पण बाकीनी बधी गाथाओनी टीका करतां चडे छे. सातमी गाथाथी चोपनमी गाथा सुधीनी टीकामां अशुद्धि बहु ज जुज हती अने जे थोडी हती ते दूर करी शकाय तेवी होवाथी तेटला भागमां प्रायः सर्वत्र पाठशुद्धि थइ गइ छे. छट्ठी गाथानी टीकामां अशुद्धि जरा वधारे हती पण ते पांचमी गाथानी टीकाना प्रमाणमां बहु ज थोडी कहेवाय ज्यारे पांचमी गाथानी टीका जेटली अने जेवी अशुद्धि तो हजी सुधी एके गाथानी टीकामां जणाइ नथी. बीजा भागमां आवेली बीजी गाथानी टीका जो के बहु अशुद्ध हती छतां तत्त्वसमहनी प्राप्तिने लीधे ते संपूर्णपणे शुद्ध करी छपावी शकाइ. पांचमी गाथानी टीकाने शुद्ध करवा तेवुं कोइ पण साधन छेवट सुधी प्राप्त थयुं नहि.

जेम बीजी गाथानी टीकामां बौद्धदर्शनने लगती चर्चा मुख्य छे तेम पांचमी गाथानी टीकामां पण मात्र बौद्धतत्त्वोनी चर्चा छे. बीजी गाथानी टीकामां चर्चाएलुं प्रकरण जेम अखंडपणे तत्त्वसंग्रहमां मळी आव्युं अने ते बीजी गाथानी टीकाने शुद्ध करवामां सर्वांशे उपयोगी थयुं तेम पांचमी गाथानी टीकामां चर्चाएल सौत्रांतिक, वैभाषिक, योगाचार अने माध्यमिक ए चार बौद्धशाखाना मंतव्योवाळा टीकाकारे उतारी लीधेला मूळ प्रकरण ग्रंथो जो मळी आवे तो ज ए टीकानी अशुद्धि

सर्वांशे दूर करी शकाय. परन्तु प्रयत्न छतां तत्त्वसंग्रहनी पेठे अखंडपणे संगतिनी टीका साथे सरखावी शकाय तेवा बौद्ध के अन्यदर्शनसंबंधी कोई ग्रंथो ठेठ सुधी मळ्या नहि तेथी पांचमी गाथानी टीकाने संपूर्णपणे शुद्ध करवानुं काम अमारे माटे अशक्य ज रही गयुं.

श्रीअभयदेवसूरिए पांचमी गाथानी टीकामां पर्यायास्तिकनयनो विभाग तेम ज तेनुं उत्तरोत्तर सूक्ष्मपणुं दर्शाववा ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ अने एवंभूत ए चार नयोनुं विस्तृत स्वरूप सौत्रांतिक आदि चार शाखाओना जे बौद्धग्रंथो के तेना प्रकरणोने आधारे वर्णव्युं तेम ज घटाव्युं छे ते मूलभूत ज बौद्धग्रंथो के तेना उपरथी अक्षरशः थयेल उतारावाळा अन्य ग्रंथो ज्यांसुधी न मळे त्यांसुधी पांचमी गाथानी टीकाने संपूर्ण शुद्ध करवी कोई पण रीते शक्य नथी. ए टीकाने शुद्ध करवाना मौलिक अने महत्त्वना साधनो प्राप्त न थया छतां तेने शुद्ध करवामाटे अमे बीजा उपलब्ध साधनोनो बहु छुटथी अने कंटाळया विना उपयोग कर्यो छे. ए साधनोमां अनेक बौद्ध, जैन अने वैदिक ग्रंथोनो समावेश थाय छे परन्तु ते बधामां शुद्धिकार्यमां उपयोगी थवानी दृष्टिए प्रमेयकमलमार्तंडनुं स्थान मुख्य छे.

लेखकोनो असली प्रतनी लिपि वांचवानो भ्रम, अर्थनुं अज्ञान के तेनो विपर्यास, पठन–पाठननो अभाव अने प्रतिना पत्रोनुं खंडितपणुं के अस्तव्यस्तपणुं इत्यादि अनेक कारणोने लीधे अशुद्धिओ पण विविध प्रकारनी उत्पन्न थयेली छे. एने सुधारवा अमे मुख्यपणे त्रण रीतो अनुसार करेली छे. (१) संमतिटीकानी तेना पूर्ववर्त्ती के उत्तरवर्त्ती समानविषयक ग्रंथो साथे सरखामणी, (२) अर्थदृष्टि अने (३) भाषादृष्टि. ज्यां टीकाने शुद्ध करवामां अन्य ग्रंथोनी सरखामणीनो उपयोग कर्यो छे त्यां पण अर्थ अने भाषादृष्टि छोडी नथी. परन्तु ज्यां तेवी सरखामणीनुं साधन नथी मळ्युं त्यां अर्थदृष्टिने प्रधान राखी भाषादृष्टिनी मददथी पाठशुद्धि कल्पी छे अने ज्यां अर्थदृष्टि पण काम न करी शकी त्यां केवळ भाषादृष्टिनो उपयोग करी पाठशुद्धि कल्पी छे अने चालु संकेतप्रमाणे असली पाठने कायम राखी शुद्धरूपे कल्पेला पाठने कोष्ठकमां दाखल करेल छे अने बनी शक्युं त्यां ते कल्पेला पाठना संवादी उल्लेखो नीचे टिप्पणीमां ते ते ग्रंथना नाम साथे कर्या छे.

आ त्रणे पद्धतिओनो यथाशक्ति संपूर्ण उपयोग कर्या छतां पण पांचमी गाथानी टीका घणे स्थळे घणा प्रमाणमां अशुद्ध अने असंलग्न रही गई छे. जे जे अंशो अमने खंडित, पुनरुक्त, विपर्यस्त अने असंलग्न लाग्या छे ते बधानो आदिभाग (??) अथवा [?? तथा अंतभाग (??) अथवा ??] आवा चिह्नथी अंकित कर्यो छे. उदाहरणार्थ जुओ पृ० ३२२ तथा ३३३ वगेरे. बहु प्रयत्नने परिणामे पांचमी गाथानी टीकाना पूर्वार्द्धमांथी तो घणी अशुद्धिओ ओछी थई छे परन्तु उत्तरार्द्ध अने तेमां य तेना अंत भागमां मोटी अने खटके एवी घणी अशुद्धिओ रही ज गई छे.

छट्ठी गाथानी टीकानो केटलोक प्राथमिक अंश (पृ० ३७९–३८५) तो तत्त्वसंग्रहना शब्दब्रह्मपरीक्षाप्रकरणनो प्रायः अक्षरशः उतारो छे. तेथी एटलो भाग तत्त्वसंग्रहनी मदद द्वारा तद्दन शुद्ध थयो छे. एटलुं ज नहि पण नीचे टिप्पणीमां सरखामणी माटे अपाएल तत्त्वसंग्रहनी मूल कारिकाओ अने कचित् कचित् पंजिकाना अंशोवडे एटलो भाग अभ्यासको माटे बीजी गाथानी टीकानी पेठे ज वधारे उपयोगी बनेलो छे. एटला अंश पछीनो छट्ठी गाथानी टीकानो बाकीनो पृ० ३८६ थी बधो अंश मोटे भागे बौद्ध मंतव्यनी चर्चाथी भरेलो छे. ए भाग साथे अक्षरशः सरखावी शकाय तेवो ग्रंथ न मळवाथी घणी अशुद्धिओ दूर कर्या छतां पण कचित् कचित् अशुद्धि रही गई छे पण ते पांचमी गाथानी टीका जेवी गूढ नथी. एकंदर आ त्रीजा भागमां (पांचमी गाथानी टीका बाद तो) अशुद्धिओ बहु विरल रहेवा पामी छे.

हवे प्रस्तुत भागमां आवेल ग्रंथना संशोधननी बाबत लइए. ए बाबतो मुख्य त्रण छे. (१) प्रतिओ संबंधी, (२) पाठान्तरो संबंधी अने (३) ग्रंथान्तरोना उपयोग संबंधी.

(१) पहेला अने बीजा भागना संशोधन कार्यमां जे प्रतिओनो उपयोग थयेलो छे ते प्रतिओ उपरांत बीजी बे विशिष्ट प्रतिओए आ त्रीजा भागना संशोधनकार्यने बहु सरल अने महत्त्वनुं बनाव्युं छे. ए बे विशिष्ट प्रतिओ ते ताडपत्रनी छे. बेमां एक ताडपत्र लांबा आकारनुं अने बीजुं टुंकुं छे. ताडपत्रनी बन्ने प्रतिओ शुद्धप्राय अने कचित् कचित् टिप्पणीयुक्त छे. आ बृहत् अने लघु बन्ने ताडपत्रोमां सटीक संमतितुं उत्तरार्द्ध छे. कारण के तेना नंबरो प्रथमथी शरु थइ अनुक्रमे वधता जाय छे. आ बन्ने प्रतिओना पूर्वार्द्धवाळा खंडो जेमां पहेली गाथाथी छट्ठी गाथानी टीकाना लगभग अर्धांश सुधीनुं पूर्वार्द्ध हशे ते हजी प्राप्त थया नथी. जो ए बन्ने पूर्वार्द्धना खंडो विनाशना पंजामांथी बची कोइ पण स्थले सचवाइ रही गया हशे अने क्यारेक कोइने पण सद्भाग्ये मळी आवशे तो आ उत्तरार्द्धवाळा खंडोनी पेठे ते खंडो पण अशुद्ध रही गयेल टीकाने शुद्ध करवामां अमूल्य मदद आपशे. केवल पांचमी गाथानी टीका पूरतो पण ताडपत्रनो भाग मळ्यो होत तो कदाच एनी आटली जटिल अशुद्धिओ रही न होत. उत्तरार्द्धना जे बे भागो सद्भाग्ये प्राप्त थया छे तेमां बृहत् ताडपत्रमां उत्तरार्द्ध पूर्ण छे एटले प्रथम कांडनी छट्ठी गाथानी टीकाना मध्यभागथी लइ प्रथम कांड पूर्ण अने द्वितीय तथा तृतीय कांड पण पूर्ण छे. ए बृहत् ताडपत्रना कुल ३३४ पानां छे. ज्यारे लघु ताडपत्र उपर उत्तरार्द्ध पण पूर्ण नथी. एनुं प्रथम पत्र नथी अने छेल्लुं पत्र १८७ मुं छे. तेटला पत्रोमां बीजुं कांड पण अपूर्ण छे अने वचे घणे स्थले पत्रो गुम थयां छे तेम ज घणे स्थले लींटीओनी लींटीओ घसाइ भुंसाइ गयेली छे. ए बन्ने ताडपत्रना सुंदर अक्षरोए, शुद्ध पाठोए अने महत्त्वनी टिप्पणीओए प्रस्तुत भागना संशोधनमां जे मदद आपी छे तेने लीधे पांचमी गाथानी टीकामां रही गयेल अशुद्धिओनी त्रुटि जरा ओछी खटके छे. कागळनी अन्य प्रतिओनी पेठे आ ताडपत्रनी प्रतिओनी पण विशेष माहिती भविष्यमां आपवानी धारणा होवाथी अत्यारे एटलुं ज सूचववुं बस थशे के, आ बे ताडपत्रना खंडोने लीधे प्रस्तुत त्रीजा भागना संशोधनने वधारे महत्त्व मळ्युं छे अने हवे पछी प्रसिद्ध थनार बीजा कांडनो चोथो भाग अने त्रीजा कांडनो पांचमो भाग पण आ बे खंडोने लीधे ज वधारे महत्त्व प्राप्त करशे.

परन्तु जेम एक बाजु उपलब्ध ताडपत्रना खंडो सगवडमां उमेरो करे छे तेम बीजी बाजु वा० अने बा० प्रतिनो थोडो खंडित भाग संशोधनकार्यमां साले छे. वा० बा० बन्ने प्रतिओ वधारेमां वधारे अशुद्ध छतां कचित् कचित् अन्य बधी प्रतिओ करतां वधारेमां वधारे शुद्ध छे. ए बन्ने समान प्रतिओना पांचमी गाथानी टीकाना अंतवाळां अने छट्ठी गाथानी टीकाना आरभवाळां केटलांक पानां उपलब्ध न होवाथी एनुं खंडितपणुं खास साले छे. जो ए बे प्रतिओनां एटलां पानां क्यारेक उपलब्ध थाय तो ते ते स्थळनी अशुद्धिने अल्पांशे दूर करवामां तेनो किंमती उपयोग थइ शकशे.

(२) प्रस्तुत भागना संशोधनमां पाठान्तरनुं कार्य प्रथमना बे भागो करतां कांइक जुदुं पडतुं थयेलुं छे. प्रथमना बे भागोना संशोधन वखते पाठान्तरो लीधा पछी तेमांथी पसंदगी करवानो अने छोडी देवानो क्रम सामान्य रीते एक सरखो राखवामां आव्यो हतो. ज्यारे प्रस्तुत भागमां ए क्रम जाणी जोइने ज एक सरखो राख्यो नथी. प्रस्तुत भागमां पांचमी गाथानी टीका अशुद्धिबहुल छे अने छट्ठी तथा खास करी सातमी आदि बधी गाथाओनी टीका वधारे शुद्ध छे. तेथी ज्यां ज्यां जटिल अशुद्धिओ जणाइ त्यां त्यां प्रतिओमांथी मळेला तद्दन खोटा जणाता पाठान्तरो पण

नीचे नोंध्या छे—जेथी ते ते स्थळोमां सघळी प्रतिओ एक सरखी रीते फेरी अने केटली विलक्षण विलक्षण रीते अशुद्ध थइ गई छे ते अभ्यासीने मालूम पडे अने अशुद्धिनी उत्पत्ति केम थाय छे? ते थया पछी केम वधे छे? तेम ज घणीवार शुद्ध करवा जतां उलटी अशुद्धि केम आवे छे? एवुं सूक्ष्म ज्ञान अशुद्धिनो इतिहास लखनार विद्वान्ने एवा पाठान्तरो उपरथी थइ शके. तेम ज कोई अभ्यासीने ए अशुद्ध जणाता विविध पाठान्तरो उपरथी कालान्तरे शुद्ध पाठ कल्पवानी प्रेरणा मळे—आथी उलटुं जे भाग तद्दन शुद्ध अगर शुद्धप्राय छे त्यां प्रतिओमांथी मळी आवेला अनेक पाठान्तरोमांथी जे उपयोगी लाग्यां ते ज बहुधा राख्यां छे अने घन्तर्गडु जेवा अनुपयोगी जणायेलां पाठान्तरो तद्दन छोडी दीधां छे.

(३) पहेला बे भागना संशोधनमां उपयोग नहीं कराएल एवा पण अनेक ग्रंथोनो प्रस्तुत भागना संशोधनमां उपयोग करवामां आव्यो छे. टीकामां आवेल अवतरणोना मूल स्थान बतावबा, प्रतिपाद्य विषयनी अने पाठनी सरखामणी करवा, कल्पित शुद्ध पाठनो संवाद आपवा, एक ज विषयने भिन्न भिन्न दर्शनना ग्रंथकारो के एक ज दर्शनना भिन्न भिन्न समय भावी ग्रथकारो केवी केवी रीते चर्चे छे ते जणाववा कोई पण विषय परत्वे अभ्यासीनी दृष्टीने व्यापक बनावी तेना अभ्यासनो मार्ग वधारे सरळ करवा अने कया ग्रंथ के कया ग्रंथकार उपर कोनी कोनी केटकेटली असर पडी छे तेनुं पृथक्करण करवानी सरळता करी आपवा एम अनेक दृष्टिथी प्रेराई प्रस्तुत भागना संशोधनमां कराएलो प्रचुरग्रंथराशिनो उपयोग अभ्यासको आपोआप जोई शकशे.

प्रस्तुत भागना संशोधनमां अनेक ग्रंथनो उपयोग कर्या छतां पण एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथनो उपयोग करवो बाकी रही गयो छे. बौद्धभिक्षु धर्मकीर्तिप्रणीत हेतुबिन्दुना दुर्लभ विवरणनी जीर्ण ताडपत्रनी प्रति प्राप्त थयानुं सूचन अमे सम्मतिना द्वितीय भागना प्रारंभिक निवेदनमां ज करी गयेला छीए. प्रस्तुत भागना संशोधनमां ए प्रतिनो उपयोग करी शकायो होत तो केटलीक अशुद्धिओ दूर करवामां बहु किंमती मदद मळत पण प्रस्तुत ग्रन्थ छपाववा लाग्या पछी तेनी वांची शकाय तेवी नकल तैयार थई शकी. तेथी ए विवरणनी सरखामणी भविष्यना विशिष्ट परिशिष्ट माटे मुलतवी राखवानी फरज पडी छे.

आ भागनी तैयारीथी मांडी प्रसिद्धि सुधीमां खास विद्यारुचिमहानुभावो तरफथी जे जे विविध सगवड मळी छे तेनी नीचे नोंध लई अने अमारी कृतज्ञता प्रदर्शित करीए छीए.

ख्यातनामा श्रीमद् आत्मारामजी महाराजना पट्टधर प्रशिष्य श्रीमद् **विजयवल्लभसूरि**नी प्रेरणाथी लाहोर शहेरना श्रीसंघे करेली आर्थिक मददथी आ कार्यने लायक सहकारी कार्यकर्ता मेळववामां अमने अतिउपयोगी राहत मळी छे.

प्रवर्त्तक श्रीकान्तिविजयजीना प्रशिष्य अने अमारा हमेशना सहकारी सुशील **मुनिश्रीपुण्यविजयजी**ए दूर रह्या रह्या पण संशोधनकार्यमां करेली विविध मददने लीधे अमने अतिकिंमती अनुकूलता प्राप्त थई छे. ते उपरांत उपर सूचवेल हेतुबिन्दु विवरणनी तद्दन जीर्ण अने घसाएल भुंसाएल अक्षरवाळी तथा मुश्केलीथी पण वांची न शकाय एवी प्राचीन लिपिनी ताडपत्रनी प्रति उपरथी बहु परिश्रम लई तेओश्रीए अमारा उपयोग माटे एक सुवाच्य अक्षरवाळी सुंदरतम नकल करी आपी छे. जे पुरातत्त्वमंदिरना पुस्तकसमूहमां तेओश्रीना नाम साथे मूकवामां आवी छे.

सुखलाल
अने
बेचरदास.

संपादकीयं निवेदनम्।

वयमद्याऽयं तृतीयः संमतेर्विभागो विदुषां समक्षमुपस्थापयन्तो लेशमात्रसंकल्पसिद्धिकृतेन कियन्मात्रेण भारलाघवेन स्वल्पं श्रमापनोदमिव अनुभवामः। प्रस्तुतविभागसंशोधनकर्म वर्षद्वयात् प्रागेव प्रारभ्यत किन्तु यदि तत् सततं नाऽकरिष्यत न वा अस्मदपेक्षिता सकलाऽपि साधनसम्पत्तिः पुरातत्त्वमन्दिरेण इतरैश्च विद्याप्रियमहानुभावैः यथासमयमुपाहरिष्यत तदा प्रस्तुतविभागप्रकाशनं द्वितीयविभागाऽनन्तरमेकेनैव वर्षेण कथमपि शक्यविधानं नाऽभविष्यत्।

प्रस्तुतभागगतग्रन्थ–तदीयसंशोधनसम्बन्धिनः कतिपये विशिष्टविषया अत्र लेशतः स्पष्टीकर्त्तु-मभिप्रेतास्सन्ति। तत्र मूलगाथापरिमाणं टीकागतमशुद्धत्वं चेति द्वावेव ग्रन्थसम्बन्धिनौ विषयौ प्रधानतया वक्तव्यौ स्तः।

(१) प्रथमप्रभृतिगाथाचतुष्टयस्य प्रकाशितपूर्वे विभागद्वये शेषगाथापञ्चाशतश्च प्रकाश्यमानेऽस्मिन् विभागे लब्धसमावेशतया प्रथमं काण्डं प्रस्तुतविभाग एव परिपूर्यते। मूलकारैः श्रीसिद्धसेनदिवाकरैरखिलेऽपि प्रथमे काण्डे सूक्ष्मतया, व्यवस्थिततया, विशदतया च मीमांसिता नया एव टीकाकारैः श्रीमद्भिरभयदेवैरतिविस्तरवत्या दार्शनिकविविधतत्त्वचर्चया विशदीकृता वर्त्तन्ते। प्रस्तुतविभागप्रकाशनेन च मूलकार–टीकाकारकृतनयगोचरसंक्षिप्तविस्तृतसमग्रमीमांसापरिज्ञानसामग्री सुलभतया समुपतिष्ठते।

(२) प्रस्तुतविभागसन्निविष्टायां गाथापञ्चाशट्टीकायां षष्ठयाष्टीका विस्तृततरा पञ्चम्याश्च विस्तृततमा विद्यते। पञ्चमगाथाटीका विस्तरेणेवाऽशुद्ध्याऽपि शेषसमस्तगाथाटीकामतिशेते। सप्तमीप्रभृतिसमस्तगाथाटीका सुनिवारविरलाऽशुद्धिमती समासीत्। अत एव सा सर्वत्र शुद्धप्राया समपद्यत। षष्ठगाथाटीकायां किंचिदधिकाऽप्यशुद्धिः पञ्चमगाथाटीकातः स्वल्पतमैवाऽऽसीत् पञ्चमगाथाटीकायां तु यादृशी यावती चाऽशुद्धिरायाता तादृशी तावती च क्वाऽपि टीकांशे नाऽवलोकनपथमवतीर्णा। यद्यपि द्वितीयविभागसन्निविष्टा द्वितीयगाथाटीकाऽप्यशुद्धतरैवाऽऽसीत् तथापि तत्त्वसंग्रहसाहाय्येन सा सर्वात्मना शुद्धीकृत्य मुद्रयितुमशक्यत। पञ्चमगाथाटीकां शुद्धीकर्तुं तथाविधं किमपि साधनमद्ययावन्नाऽलभ्यत।

द्वितीयगाथाटीकायामिव पञ्चमगाथाटीकायामपि बौद्धवक्तव्यगोचरैव चर्चा मुख्यतामनुभवति। यथा द्वितीयगाथाटीकाचर्चितं बौद्धप्रकरणं संशोधयितुं तत्त्वसंग्रहीयं तत्रैव प्रकरणमविकलतया उपायुज्यत तथा पञ्चमगाथाटीकाचर्चितसौत्रान्तिक–वैभाषिक–योगाचार–माध्यमिकाख्यचतुर्विधबौद्धशाखामन्तव्यप्रतिपादकाः टीकाकारैरक्षरशोऽनुकृता मूलप्रकरणग्रन्था एव तां टीकां संशोधयितुं सर्वात्मना उपयुज्येरन्; परन्तु सत्यपि यत्ने तत्त्वसंग्रहवत् सम्मतिटीकाऽविकलतुलनोपयोगिनां केषांचित् बौद्धतथ्राणामन्यतमीयानां वा ग्रन्थानामिदानीं यावदप्राप्ततया पञ्चमगाथाटीकायाः सर्वाङ्गीणं शुद्धत्वं अस्माकमशक्याऽनुष्ठानमेव परिशिष्यते।

श्रीमदभयदेवसूरिभिः पञ्चमगाथाटीकायां पर्यायास्तिकनयस्य विभागमुत्तरोत्तरसूक्ष्मत्वं च प्रदर्शयितुम् ऋजुसूत्र–शब्द–समभिरूढैवंभूतनयचतुष्टयस्य विस्तृतं स्वरूपं सौत्रान्तिकादिशाखाचतुष्टयसम्बन्धिनो यान् ग्रन्थान् समाश्रित्य व्यावर्णितं समर्थितं च, ते मूलभूतबौद्धग्रन्था अक्षरशस्तदुपजीविनोऽपरे ग्रन्था वा यावन्नोपलभ्येरन् तावत् पञ्चमगाथाटीकायाः सर्वथा शुद्धिविधानं

शक्याऽनुष्ठानं नैव प्रतिभाति। तट्टीकासंशोधनोपयोगिनां मौलिकानां महत्त्वभाजां च साधनानामनुपलब्धत्वेऽपि अन्यान्युपलब्धानि साधनानि असंकुचिततया अगिन्नगनस्कतया च तत्संशोधनकर्मणि कृतोपयोगानि। यद्यपि उपयुक्तेषु तेषु साधनेषु बौद्ध-जैन-वैदिकतन्त्रीया अनेके ग्रन्थाः समाविशन्ति तथापि शुद्धिकार्योपयोगदृष्ट्या प्रमेयकमलमार्तण्ड एव तेषु सर्वेषु प्रथमतामुपयाति।

लेखकानां मूलप्रतिस्थलिपिवाचनगोचरेण भ्रमेण, अर्थाऽज्ञान–विपर्यासाभ्याम्, पठन–पाठनाऽभावेन, प्रतिसपत्राणां खण्डिततया अस्तव्यस्ततया वा अन्यैश्च बहुभिर्हेतुभिरशुद्धयोऽपि विविधाकारारसमुत्पन्नाः दृश्यन्ते। ताः परिष्कर्तुं तिस्रः पद्धतयोऽत्र मुख्यतयाऽस्माभिः समाश्रीयन्त। तद्यथा–पूर्ववर्त्तिभिः उत्तरवर्त्तिभिर्वा समानविषयकैर्ग्रन्थैः संमतिटीकायास्तुलना, अर्थदृष्टिर्भाषादृष्टिश्चेति। यत्र टीकां संशोधयितुं ग्रन्थान्तरतुलनाऽकारि तत्रापि नाऽर्थदृष्टिर्भाषादृष्टिश्च उपेक्षिषाताम् परन्तु यत्र तथाविधतुलनासाधनं नालम्भि तत्राऽर्थदृष्टिं प्रधानीकृत्य भाषादृष्टिमाहाय्येन, यत्र चाऽर्थदृष्टेरपि अकिंचित्करत्वमन्वभावि तत्र केवलां भाषादृष्टिमुपष्टभ्य पाठशुद्धिं कल्पयित्वा यथापूर्वसंकेतं मौलिकपाठं स्थापयित्वैव कल्पितः पाठः कोष्ठके न्यवेश्यत। यथासाध्यं च कल्पिततत्पाठसंवादभागिन उल्लेखा अधस्तात् टिप्पण्यां तत्तद्ग्रन्थान् नामग्राहमुपन्यस्ताः।

एतस्य च पद्धतित्रयस्य यथाशक्ति सर्वात्मना कृतोपयोगत्वेऽपि पञ्चमगाथाटीका बहुषु स्थानेषु बाहुल्येन अशुद्धाऽसंलग्ना च स्थितैवाऽऽस्ते। ये येऽशाः अस्माकं खण्डिततया, पुनरुक्ततया, विपर्यस्ततया, असंलग्नतया च प्रतिभान्ति स्म ते सर्वे आदौ (??) अथवा [?? अन्ते च (??) अथवा ??] एतादृशचिह्नैरङ्कयित्वा मुद्रिताः। तद्यथा पृ० ३२२ तथा ३३३ प्रभृति। यद्यपि पञ्चमगाथाटीकायाः पूर्वार्द्धवर्त्तिन्यः बहुशोऽशुद्धयः भूयसा प्रयत्नेन निराक्रियन्त तथापि तस्या उत्तरार्द्धवर्त्तिन्यः विशेषतस्तु तत्प्रान्तवर्त्तिन्यः शल्यायमाना महत्यो बहुशोऽशुद्धयः परिशिष्टा आसत एव। षष्ठगाथाटीकान्तर्गतः कियन्मात्रः प्राथमिकोंऽशः (पृ० ३७९–३८५) अक्षरशः तत्त्वसंग्रहीयशब्दब्रह्मपरीक्षाप्रकरणप्रतिकृतितया तत्साहाय्येन न केवलं सर्वथा शुद्ध एव प्रत्युताऽधस्तात् टिप्पण्यां तुलनार्थं निवेशिताभिः तत्त्वसंग्रहीयमूलकारिकाभिः क्वचित् क्वचित् पञ्जिकापङ्क्तिभिश्च द्वितीयगाथाटीकावत् गवेषकदृष्ट्या उपयुक्ततरः समपद्यत। ततोऽग्रेतनस्तु पृ० ३८६ प्रभृति तदीयः सर्वोऽप्यंशः बहुधा बौद्धमन्तव्यस्पर्शिन्या चर्चया व्याप्तो वर्त्तते। तत्र च भूयसीनामशुद्धीनां निराकृतत्वेऽपि अक्षरशः तुलनोपयोगिनो ग्रन्थस्याऽशक्यलाभतया काचित् काचिदशुद्धिः अवशिष्यत एव परन्तु सा पञ्चमगाथाटीकाऽशुद्धिवद् गूढा नैवाऽस्ति। फलतः पञ्चमगाथाटीकावर्जं पश्यतां प्रस्तुते विभागे शिष्यमाणा अशुद्धयो विरलतमा एव दृष्टिपथमुपयास्यन्ति।

अथाऽतः प्रस्तुतग्रन्थसंशोधनसंबन्धिनो विषयान् गृह्णीयाम। ते पुनः प्रतिगोचरतया, पाठान्तरगोचरतया, ग्रन्थान्तरोपयोगगोचरतया च मुख्यास्त्रय एवाऽत्र चर्चितुमुद्दिष्टाः।

(१) प्राक्तनविभागद्वयसंशोधनोपयुक्तप्रतिव्यतिरिक्ताभ्यां द्वाभ्यां ताडपत्रमयीभ्यां विशिष्टप्रतिभ्यां प्रस्तुतविभागस्य संशोधनं निष्प्रत्यवायं प्रकर्षपात्रं च संपन्नम्। तत्र च एकं ताडपत्रं दीर्घम्, अन्यच्च ह्रस्वं विद्यते। द्वयमप्येतत् शुद्धप्रायं क्वचित् क्वचिच्च सटिप्पणिकं वर्त्तते। प्रथमादारभ्य क्रमवर्त्तिगणुभिरङ्कैरुपेततया तद् बृहल्लघुताडपत्रद्वयमपि संमतिउत्तरार्द्धयुक्त संलक्ष्यते। प्रथमगाथाटीकाप्रभृतिषष्ठगाथाटीकाऽर्द्धपर्यवसानसंमतिपूर्वार्द्धवर्ती बृहल्लघुताडपत्रद्वयसंबन्धिनी द्वे अपि खण्डे अद्यापि नोपलब्धे। यदि ते द्वे अपि पूर्वार्द्धवती खण्डे विनाशमहद्विमुक्ते क्वापि स्थाने ... ...विष्येयातां भाग्यवशाच्च कदाचित् केनचिदुपाप्येयातां तदा इमे उत्तरार्द्धवती खण्डे

स्य ते अपि अवशिष्टां टीकावर्त्तिनीमशुद्धिमपाकर्तुं बलवत्सहायप्रदे संपद्येयाताम्। यदि केवल-पञ्चमगाथाटीकात्मकोऽपि ताडपत्रीयपूर्वार्द्धांशः प्राप्स्यत तदा एतावत्यस्तदीया जटिला अशुद्धयः प्रायः अवशिष्टा नाऽभविष्यन्। उपलब्धयोः खण्डयोः चतुस्त्रिंशदधिकशतत्रयमितपत्रे बृहति ताडपत्रे षष्ठगाथाटीकामध्यांशप्रभृतिप्रथमकाण्ड–पूर्णद्वितीय–तृतीयकाण्डपरिमाणं सटीकसंमत्युत्तरार्द्धं पूर्णतया वर्त्तते। प्रथमाङ्कपत्ररहितसप्ताशीत्यधिकशतसंख्यकपत्रशालिनि अन्तराऽन्तरा विलुप्तानेकपत्रे घृष्टध्वस्त-प्रचुरतराक्षरपङ्क्तिके लघुनि ताडपत्रे तूत्तरार्द्धमपि अपूर्णद्वितीयकाण्डपर्यन्तमेव विद्यते। एतत्ताडपत्र-द्वयवर्त्तिभ्यः सुन्दराऽक्षरेभ्यः शुद्धपाठेभ्यः उपयोगिभ्यश्च टिप्पणकेभ्यः संप्राप्तेन समाश्वासेन पञ्चमगाथाटीकाऽवशिष्टा त्रुटिः किंचिदूनं कण्टकायते। एनयोस्ताडपत्रप्रत्योरितराभिः पत्रप्रतिभिः सहैवाग्रे विशिष्य परिचाययितुमिष्टतया सांप्रतमेतावदेव सूचयितुं पर्याप्तम् यत् उक्तताडपत्रप्रतिद्वयेन प्रस्तुततृतीयविभागस्येव प्रकाशयिष्यमाणयोः द्वितीयकाण्डशालिचतुर्थविभाग–तृतीयकाण्डशालिपञ्च-मविभागयोः संशोधनमपि समभ्यधिकां समञ्जसता समासादयिष्यति।

परन्तु एकत उपलब्धताडपत्रखण्डद्वयं साधनसंपदं प्रगुणीकरोति अन्यतश्च खण्डितो भा० भा०-संज्ञकप्रतिद्वयस्याऽल्पीयान् भागः संशोधनकर्मणि शल्यायते। पञ्चमगाथाटीकाप्रान्त–षष्ठगाथाटीका-प्रारम्भभाजां कतिपयानां पत्राणां व्यपगतत्वेनाऽशुद्धतमयोरपि क्वचित् क्वचित् शुद्धतमयोः समानयोः भा० भा०संज्ञकप्रत्योः खण्डितत्वं शल्यायतेतराम्। यदि तावन्ति पत्राणि प्राप्येरन् तदा तत्तत्स्थलीय-टीकागतामशुद्धिमंशतो व्यपनेतुमुपयुज्येरन्।

(२) प्रस्तुतविभागे पाठान्तरकृत्यं प्राक्तनविभागद्वयात् किंचिद् भिन्नमिव संपन्नम्। प्राक्तनविभा-गद्वयसंशोधने पाठान्तरस्वीकारपरित्यागक्रमः समानप्राय एवाऽङ्गीकृत आसीत् किन्तु प्रस्तुतविभागे स क्रमो विचार्यैव परिवर्त्तितः। तथाहि—पञ्चमगाथाटीकाया अशुद्धिबहुलत्वात् जटिलाऽशुद्धिमत्सु स्थलेषु सर्वथा अशुद्धतया भासमानान्यपि पाठान्तराणि अधस्ताद् निर्दिष्टानि—यतः तत्र तत्र स्थले सर्वा अपि प्रतयः समानभावेन कीदृश्या कियत्या च विलक्षणविलक्षणरीत्याऽशुद्धाः संवृत्ताः? इत्येतत् विज्ञातुं शक्नुयुः संशोधनकुशलाः, अशुद्धयः कथमुत्पद्यन्ते? उत्पन्नाः पुनः कथं प्रवर्धन्ते? शुद्धौ क्रिय-माणायामपि पुनः अशुद्धयः कथं जायन्ते? इत्येतत् सर्वं सूक्ष्मतयाऽवगन्तुं पारयेयुरशुद्धीतिहास-रचनाकोविदाः, तानि पाठान्तराणि निरीक्ष्य पाठशुद्धिमपि परिकल्पयितुं प्रभवेयुः केचिद् व्युत्पन्नाः— अतो वैपरीत्येन च षष्ठीप्रभृतिसमस्तगाथाटीकायाः शुद्धप्रायत्वात् सर्वथा शुद्धेषु शुद्धप्रायेषु च स्थलेषु उपयोगीन्येव पाठान्तराणि बहुधा स्वीकृतानि अन्तर्गडुकल्पानि च शेषाणि परित्यक्तानि।

(३) प्राक्तनविभागद्वयसंशोधनानुपयुक्ता अपि अनेके ग्रन्थाः प्रस्तुतविभागसंशोधने कृतोप-योगाः। टीकागतानामवतरणानां मूलस्थानानि ज्ञापयितुम् प्रतिपाद्यं विषयम् अन्तर्गतं पाठं च तोलयितुम् कल्पितं शुद्धपाठं संवादयितुम् युगपद्भाविनामसमानतन्त्रीयग्रन्थकाराणां क्रमभाविनां च समानतन्त्रीय-ग्रन्थकाराणामेकमेव विषयमधिकृत्य प्रवर्त्तमानां पर्याग्शैलीमवगमयितुम् काऽपि विषये प्रेक्षावतां दृष्टिं विस्तार्य अभ्यासमार्गं सरलीकर्तुं कस्को ग्रन्थो ग्रन्थकारो वा कस्य कस्य कियता कियता प्रभावेणाऽनु-प्राणितः इत्येतत् पृथक्करणविधानं सुकरीकर्तुं चेच्छद्भिः एवंभूतान् अन्यानपि लाभान् संभावयद्भिः अस्माभिरनुष्ठितः प्रचुरग्रन्थराशेरुपयोगः परिशीलनपटिष्ठैः स्वयमेव दृष्टिगोचरीकरिष्यते।

एवंसत्यपि एतस्योपयोगिनो ग्रन्थस्योपयोगविधानं प्रस्तुतसंशोधने परिशिष्यत एव। यद्यं पूर्वमेव संमतिद्वितीयविभागीयनिवेदने [illegible]

णयतो जीर्णताडपत्रपुस्तकस्य उपलब्धिं सूचितवन्तः । यदि प्रस्तुतसंशोधने तत् पुस्तकमुपयोक्तुमशक्ष्यत तदा कतिपया अशुद्धीर्दूरीकर्तुमशक्ष्यन्त । परन्तु तथाविधीयमाने प्रारब्धमुद्रणप्रस्तुतविभागप्रकाशनं बहु विलम्बमानमपेक्ष्याऽस्माभिः तद्विवरणतुलना भाविविशिष्टपरिशिष्टतश्रीकृता ।

विशिष्टविद्यारुचिभ्यो महानुभावेभ्योऽस्माभिः प्रस्तुतविभागस्य संपादने या विविधरूपा सहायता समासादि तां निर्दिश्य कृतज्ञतां प्रकाशयितुं लब्धावसरा भवामः ।

विख्याततनामधेयश्रीमद्आत्मारामजीपट्टधरप्रशिष्यश्रीमद्**विजयवल्लभसूरि**प्रबोधितलाहोरपत्तनीयश्रीश्वेताम्बरसंघसमर्पितद्रव्यसहायकसमासादितसहकारिकार्यकर्तृका वयं प्रस्तुतकर्मणि प्रशस्यरूपामनुकूलतां प्राप्तवन्तः ।

*प्रवर्त्तकश्रीकान्तिविजयप्रशिष्यसुशील***मुनिश्रीपुण्यविजय***कृतैरङ्गभूतैर्विविधकार्यैः* प्रस्तुतसंशोधनं शीघ्रतरतामगात् । एतद्व्यतिरिक्तं चाऽस्मिन्नवसरे तैरन्यदपि स्मरणीयमुपयोगि कार्यं व्यधायि तच्च द्वेतुबिन्दुप्रतिकृतिरूपम्—दुष्पठतरप्राचीनलिपिकलिताम् अतिजीर्णाम् घृष्टत्रुटिताक्षरवतीम् नाशसविधवर्त्तिनीं ताडपत्रीयप्रतिमवलम्ब्य बहु परिश्रम्य तैर्या सुन्दरतमाऽक्षरशालिनी प्रतिकृतिः कृत्वोपयोगाय पुरातत्त्वमन्दिरीयपुस्तकसंग्रहे समर्पितास्ति । सा तत्रैव तेषां नाम्ना सहैव संरक्षिता वर्त्तते ।

सुखलालः
बेचरदासश्च ।

संमतितर्क-प्रकरणम् ।



तृतीयो विभागः ।



पञ्चमगाथाव्याख्या ।

[पर्यायास्तिकैकप्रकृतिकानाम् ऋजुसूत्रादीनां शुद्धाशुद्धभावेन विभजनम्]

विशेषप्रस्तारस्य पर्यायनयो मूलव्याकरणी, शब्दादयश्च शेषाः पर्यायनयभेदा इति प्रागुक्तम्[1] ५ तत्समर्थनार्थम्—

मूलणिमेणं पज्जवणयस्स उज्जुसुयवयणविच्छेदो ।
तस्स उ सद्दाईआ साहपसाहा सुहुमभेया ॥ ५ ॥

इति गाथासूत्रम् ।

अस्य तात्पर्यार्थः—पर्यायनयस्य प्रकृतिराद्या ऋजुसूत्रः स त्वशुद्धा, शब्दः शुद्धा, शुद्धतरा १० समभिरूढः, अत्यन्ततः[3] शुद्धा त्वेवंभूत इति ।

अवयवार्थस्तु—मूलमादिः[4] ने(णि)मेणं[2] आधार, पर्यायो विशेषः तस्य नयः उपपत्तिबलात् परिच्छेदः तस्य, ऋजु—वर्तमानसमयं वस्तु स्वरूपावस्थितत्वात् तदेव—सूत्रयति परिच्छिनत्ति नातीताऽनागतम् तस्याऽसत्त्वेन कुटिलत्वात् तस्य वचनम्—पदं वाक्यं वा तस्य विच्छेदोऽन्तः[5]सीमेति यावत् । 'ऋजुसूत्रवचनस्य' इति कर्मणि षष्ठी, तेन 'ऋजुसूत्रस्य एवमयमर्थो नान्यथा'[6] इति १५ प्ररूपयतो वचनं विच्छिद्यमानं यत् तत् मूलनिमेनम्[7] अत्र गृह्यते । ननु कथं वचनविच्छेदः शब्दरूपः परिच्छेदस्वभावस्य नयस्याधारः? नैष दोषः, विषयेण विषयी(यि)कथनरूपत्वादस्य । न च वचनार्थोऽस्य विषयः न शब्द इति वक्तव्यम्, वचनार्थयोरभेदात् वचनमपि यतो विषयः । अथ विषय एव किं नोक्त इति न प्रेरणीयम्, शब्दनयानां यत् शब्दहतस्यैव[8] प्रमाणत्वमिति ज्ञापनार्थत्वादेवमभिधानम्, तस्य च पूर्वापरपर्यायैवि(यैर्वि)विक्ते[9] एकपर्याय एव[10] प्ररूपयतो वचनं विच्छिद्यते एकपर्यायस्य २० ऽपरपर्यायासंस्पर्शात् । उक्तं च तन्मतमर्थं प्ररूपयद्भिः—

"पलालं न दहत्यग्निर्दह्यते[11] न गिरिः क्वचित् ।
नासंयतः प्रव्रजति भव्यजीवो[12] न सिद्ध्यति ॥" [ ]

पलालपर्यायस्य अग्निसद्भावपर्यायादत्यन्तभिन्नत्वात् यः यः पलालो नासौ दह्यते यश्च भस्मभावमनुभवति नासौ पलालपर्याय इति । २५

---

१ पृ० २७१ पं० ७–८ । २ "णिमेणमवि ठाणे"–"णिमेण स्थानम्"—देशीना० च० व० गा० ३७ टी० पृ० १५० पं० १७ । ३–त्यन्तः शु–आ० वा० या० विना । ४–मादिर्निर्माणमा–वा० या० विना । ५ दोतः–सी–वा० या० विना । ६–न्यस्येति वा० या० विना । ७ मूलनियमेनमत्र वा० या० । मूलंनियमेनमत्र आ० । मूलंनि—मेनमत्र हा० । ८ यच्छब्दहतस्यैव भा० । यच्छहाहतस्यैव वा० या० । यच्छब्द इती हतस्यैव वि० । ९–पर्यायर्विक्ते भा० मा० ।–पर्यायवत्यन्त(र्यायादत्यन्त)विविक्ते वा० या० । १०–क एव पर्याय–आ० हा० । ११ तत्त्वार्थ० टी० पृ० ४०२ पं० २२ । भगवतीसू० टी० पृ० २०५ प्र० पं० ४ ।–"त्समिर्भिद्यते न घट क्वचित्" १२ "भव्योऽविद्धो न सिध्यति"–नयोप० पृ० ४० द्वि० श्लो० ३१ ।

[ऋजुसूत्रविषयतया क्षणभङ्ग–विज्ञानमात्र–शून्यवादानामुपक्षेपः]

[१ क्षणभङ्गवादः]

[पूर्वपक्षः–स्थैर्यवादिभिः क्षणभङ्गस्य निराकरणम्]

नेनु च क्षणक्षयपरिणामसिद्धावेवं वक्तुं युक्तम्, प्रमाणरहितस्य वचसो विपश्चितामनादरणी-
५यत्वात्। न च क्षणक्षयावगमे प्रमाणव्यापारः—यतो न तावदध्यक्षं क्षणक्षयितां भावानामवगच्छत्
प्रतीयते परैरभ्युपगम्यते वा यतः परैरन्त्यक्षणदर्शिनामेव प्रत्यक्षतः क्षणिकताया निश्चयः प्रकल्प्यते
भ्रान्तिकारणसद्भावाद्य प्राक्। उक्तं च—

"क्वचित् तदपरिज्ञानं सदृशापरसंभवात्।
भ्रान्तेरपश्यत(?)भेदं मायागोलकभेदवत्"॥ [ ] इति।

१० नाप्यनुमानात् तन्निश्चयः अनुमानस्य लिङ्गबलादुपजायमानत्वात्। सामान्यलक्षणं च तस्य
"पक्षधर्मत्वम् सपक्षे सत्त्वम् विपक्षे चाऽसत्त्वमेव निश्चितम्" [ ] इति परैर्गी-
यते। तत्र पक्षधर्मतानिश्चयः—"प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा" [ ] इति वचनात्—
यद्यपि प्रमाणद्वयनिबन्धनः सिद्धस्तथापि सपक्षे सत्त्वं सत्त्वादेर्हेतोर्निश्चेतुमशक्यम् क्षणिकतया
सर्वार्थानां साधयितुमभिलषित्वात्(षितत्वात्) सपक्षस्यैवाभावात् साध्यस्य तन्मात्रानुबन्धः स्वभाव-
१५हेतोर्विशेषलक्षणम् क्षणक्षयस्य चाऽनध्यक्षत्वात् तत्र सोऽपि नाध्यक्षतो निश्चितः। नाप्यनुमानात्
तन्निश्चयः अनवस्थाप्रसङ्गात्। तत्कार्यताऽवगमः कार्यहेतोरपि विशेषलक्षणम्। न च क्षणिकस्तु-
(कवस्तु)कार्यतया किञ्चित् प्रसिद्धं वस्तु, प्रत्यक्षाऽनुपलम्भसाधनत्वात् तस्याः। न च क्षणिकस्य
किञ्चित् कार्यं सम्भवति। तथाहि—न विनष्टात् कारणात् कार्यजन्म असतोऽजनकत्वात्। नाप्यवि-
नष्टात् व्यापारालीढस्य द्वितीयक्षणावस्थितेर्जनकत्वे क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात् निर्व्यापारस्य च शश-
२०शृङ्गवदजनकत्वात् कार्य-कारणयोरेककालताप्रसक्तेः। अनुपलब्धेश्चाऽनाधिकार एवाऽसम्भवी प्रति-
षेधसाधकत्वात् तस्याः क्षणिकतोविधिस्त्वत्र साध्यत्वेनाभिप्रेतः। न चापरो हेतुः सौगतैरभ्युपग-
म्यते। नापि प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणान्तरं तदभिप्रायेण विद्यत इति कुतः क्षणिकतानिश्चयः?"

प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षास्य(क्षाद्य) भावानां स्थैर्यप्रतिपत्तेः क्षणिकाभ्युपगमोऽसंमत एव। न च प्रत्य-
भिज्ञा न प्रमाणम्।

२५ "तत्र(त्रा)पूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसंमतम्"॥ [ ]

---

१ ननु क्ष–आ० हा० वि०। २ कल्पते–वा० बा० विना। ३ –श्यतं भे–आ०। ४ "पक्षधर्मत्व सपक्षे सत्त्वम् विपक्षे चासत्त्वम् इति"—न्यायप्र०सू० पृ० १ पं० ९। "त्रैरूप्य पुनर्लिङ्गस्य अनुमेये सत्त्वमेव ॥५॥ सपक्ष एव सत्त्वम् ॥६॥ असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् ॥७॥"—न्यायवि० द्विती०प० पृ० १८–१९। ५–मभिलषित्वा–हा०। –मभिलब्धिता–आ०। –मभिलषितत्वा–वि० सं०। ६ "स्वभाव स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतु" ॥१६॥–न्यायवि० द्विती०प० पृ० २३। ७–क्षणं क्षय–वा० बा० विना। ८–स्य था न–वि विना। ९–त्वात्त सो–भां० मां०। १०–क वस्तु प्रत्यक्षा–वा० बा० विना। ११ तस्य न च वा० बा० विना। १२–तावधिस्त्वत्रा सा आ० हा० वि०। १३ "त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानि ॥११॥ अनुपलब्धि स्वभाव–कार्यं चेति" ॥१२॥ (न्यायवि० द्विती० प० पृ० २१) इति वचनात् बौद्धमते स्वभाव–कार्योऽनुपलब्धिरु हेतुत्रयमेव। १४ "द्विविधं सम्यग्ज्ञानम्" ॥२॥ "प्रत्यक्षमनुमानं च" ॥३॥ (न्यायवि० प्रथ० प० पृ० ५–६ इत्युक्ते। १५–पत्तिः वा० बा० विना। १६–गमो नमो न च भां० मां०। –गमो न च आ० हा० वि० अत्र '–गमोऽसंगत एव' इति सुचारु।
१७ "न च प्रत्यभिज्ञा न प्रमाणम्।
"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्। अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्"॥
इति प्रमाणलक्षणयोगात्"—हेतु० टी० ता० लि० पृ० ८७ प्र० प० ४। नयोप० पृ० ३३ द्वि० पं० ९। १८ प्रमाणपरीक्षा पृ० ६३ पं० ५–८। तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० १७३ श्लो० ७१। प्रमेयक० पृ० १६ द्वि० पं० १२।"
..० पृ० १६ द्वि० टिप्प० श०.५१।

इति प्रमाणलक्षणयोगात्। प्रत्यक्षं च प्रत्यभिज्ञा आत्मेन्द्रियार्थसम्बन्धानुविधानतस्तदन्यप्रत्यक्षवत् सिद्धम्। न च स्मृतिपूर्वकत्वात् 'स एवायम्' इत्यनुसन्धाना(न)ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमयुक्तमिति वाच्यम्, सत्सम्प्रयोगजत्वेन स्मरणपश्चाद्भाविनोऽप्यक्षप्रत्ययस्य लोके प्रत्यक्षत्वेन प्रसिद्धत्वात्। उक्तं च—

"न हि स्मरणतो यत् प्राक् तत् प्रत्यक्षमितीदृशम्" ॥
"वचनं राजकीयं वा लौकिकं नापि विद्यते।
न चाऽपि स्मरणात् पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्त्तनम्" ॥ ५
"वार्यते केनचिन्नापि तत् तदानीं प्रदुष्यति।
तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात् प्रागूर्ध्वं वापि यत् स्मृतेः" ॥
"विज्ञानं जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम्"।
[श्लो० वा० प्रत्यक्ष० श्लो० २३४-२३५-२३६-२३७] १०

इति अनेकदेश-कालाऽवस्थासमन्वितं सामान्यम् द्रव्यादिकं च वस्तु अस्याः प्रमेयमित्यपूर्वप्रमेयसद्भावः। तदुक्तम्—

"गृहीतमपि गोत्वादि स्मृतिस्पृष्टं च यद्यपि।
तथापि व्यतिरेकेण पूर्वबोधात् प्रतीयते" ॥
"देश-कालादिभेदेन तत्रास्त्यवसरो मितेः। १५
यः पूर्वमवगतो नाश(नांशः) स च नाम प्रतीयते" ॥
"इदानींतनमस्तित्वं नहि पूर्वधिया गतम्"।
[श्लो० वा० प्रत्यक्ष० श्लो० २३२-२३३-२३४] इति।

नन्वेवं भिन्नाभिन्नवस्तुविषयोनियन्धा(योऽनुसन्धा)नप्रत्ययः प्राप्तः इष्यत एवैतत् यतो न भिन्नत्वे न प्रत्यभिज्ञानम् अभिन्नत्वेऽपि न प्रमेयभेदः। प्रत्यभिज्ञाव्यपदेशोऽप्यस्य भेदाभेदालम्बनत्वमेव २० द्योतयति यतो नैककालैकप्रमेयगोचराणां भिन्नप्रमातृसम्बन्धिज्ञानानां 'प्रत्यभिज्ञा' इति व्यपदेशः, नापि सर्वथा भिन्नेषु घट पटादिषु। न च कालस्यातीन्द्रियत्वात् भिन्नकालैकप्रमेयप्रत्यभिज्ञाने न प्रमेयातिरेक इति वक्तव्यम्, यतो यद्यपि न कश्चित् तत्र प्रमेयातिरेकस्तथापि घटादयः कदाचिदुपलक्षिताकारा अन्यदाऽनुपलक्ष(क्ष्य)माणाः सदसत्तया सन्देहविषयतामापद्यन्ते तत्स्वभावावेदिका च प्रत्यभिज्ञा तेषां सन्देहविषयतामपाकुर्वाणा प्रमाणतामश्नुते यतो न विषयातिरेक एव प्रामा- २५ ण्यनिबन्धनं प्रत्ययानाम् किन्तु सन्देहाऽपाकरणमपि सन्दिग्धस्य, यदा त्वविरतोपलब्धिसन्ताना पुनः पुनरपेतसन्देहसङ्गाः प्रत्यभिज्ञायन्ते भावास्तदा सन्देहविच्छेदाधिकफलाभावात् मा भूत् प्रत्यभिज्ञा प्रमाणम्। न च सविकल्पकमेवैकं प्रत्यभिज्ञाज्ञानम् अविकल्पकस्याऽपि एकत्वग्राहिणः प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्य सद्भावात्। तथाहि—एकप्रमातृसम्बन्धिप्रथमप्रत्ययाऽभिन्नविषयाकारानुभवतोऽनुत्पन्नरूपार्थग्राह्यविकल्पकं ज्ञानमनुभूयत एव एकत्वग्राहि च ज्ञानं प्रत्यभिज्ञाज्ञानमुच्यते इति क्षणिकाभिव्यक्तिष्वपि ३०

---

१ "प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा अक्षान्वय-व्यतिरेकानुविधानात् तदन्यप्रत्यक्षवत्। न च स्मरणपूर्वकत्वात् तस्या प्रत्यक्षताभाव सत्सम्प्रयोगजत्वेन स्मरणपश्चाद्भावित्वेऽपि अस्या प्रत्यक्षत्वाविरोधात्" इत्यादि-प्रमेयक० पृ० ९७ द्वि० पं० ७। २-सन्धानात् ज्ञा-वा० बा० विना। ३-कीयं वा लौकिकं ना विद्य-भा० मा० हा०।-कीयं वालौकिकं वा विद्य-वि०।-कीयं चालौकिकं वा विविद्य-आ०।-कीयं वा वैदिकं वाऽपि विद्य-श्लो० वा०। ४-गूर्ध्वं चा-वा० बा०। ५-धान् प्रताय-भा० मा०। ६ "व्यक्ति-कालादिभेदेन"-श्लो० वा०। ७-स्तरे वा० बा० विना। ८-वगतांशः बा० वा०। "य पूर्वावगतोंऽशोऽत्र स न नाम प्रतीयते"-श्लो० वा०। "ननु गृहीतमपि गृह्यते इति कथ प्रामाण्यम्? अत आह—'यः' इति। तस्मिन्नंशे मा भूत् प्रामाण्यम् अगृहीतकालान्तरसम्बन्धापेक्षमेव तु प्रामाण्यम्" इति-श्लो० वा० पार्थ० व्या० पृ० २०३ प० १६। ९-षयोऽनुबन्धन-वा० बा०। १०-तत य-वा० बा०। ११ यतो न भिन्नत्वेऽपि प्रमेयभेद. वा० बा० विना। १२-त्वाभिन्नकाले प्र-बा० वा०। १३-विषयातिरेकस्यै(स्ये)व सदेहापाकरणस्यापि प्रामाण्यनिबन्धनत्वात्-" नयोप० पृ० ३३ द्वि० पं० १३। १४ एवा प्रा-हा० वि०। १५-नयोप० पृ० ३४ प्र० पं० १। १६-त्यभिज्ञानं वा० बा०। १७-था प्र-वा० बा०। १८-कासिव्य-आ०।

शब्दमात्रास्यालोचनप्रत्ययावगतमेव स्थैर्यम् 'स एवायम्' इत्यनन्तरमनुसन्धानविकल्पोत्पत्तिदर्शनात् । तथाहि–अर्थसंसर्गानुसारिणोऽनुभवादुपजातान्नीलविकल्पात् तद्व्यापाराऽनुसारिणो यथा नीलानुभवव्यवस्था सौगतैरभ्युपगता तथा 'पूर्वदृष्टं पश्यामि' इत्युल्लेखवतोऽनुसन्धाने(??) विकल्पादनुरूपरूपशब्दाद्यवभासिनस्तत्त्वात् तर्ह्यधिगतरूपत्वं किमिति न व्यवस्थाप्यते(??) 'पूर्वदृष्टमेव पश्यामि' ५ इत्युल्लेखवानुपजायमानोऽप्यनुसन्धानप्रत्ययो न प्रत्यभिज्ञाध्यक्षतामनुभवति क्षणिकाभिव्यक्तिषु शब्दमात्रास्वक्षसंसर्गाभावतस्तदोपजायमानत्वात् चिरतरकालाभिव्यक्तीनां तु घटादिव्यक्तीनां अनुसन्धानविकल्पप्रत्ययाधिगतमेव स्थिरत्वम् इन्द्रियसंसर्गानुसरणतस्तस्य प्रादुर्भावात् । न चेन्द्रिय(या)-विषयत्वात् स्थैर्यस्य तदनुसारिणोऽविकल्पस्य वाऽध्यक्षस्य न पौर्वापर्ये वृत्तिरिति यदुक्तं युक्तम् नीलादावपि अस्य समानत्वात् । यथा चाक्षव्यापारानन्तरं नीलाद्यवभासस्याऽनुभूतेस्तस्य नीलादिविषय-१० त्वम् तथा नयनव्यापारानन्तरमंशुत्वद्रूपप्रतिभासानुभूतेस्तस्य तद्विषयत्वमपि व्यवस्थापनीयम् । न च पूर्वदर्शनानुसरणमन्तरेण दृश्यमानस्यार्थस्य पूर्वदृष्टताधिगतिर्न सम्भवति, पूर्वदर्शनस्मरण एव वर्तमानदर्शनग्राह्यस्य 'पूर्वदृष्टमेतत्' इत्यध्यवसायात् । तच्च दर्शनं नेदानीन्तनदृशि प्रतिभाति इति तदप्रतिभासने न तद्दृष्ट(तद्दृ)ष्टतां वर्तमानदर्शनग्राह्यस्याध्यक्षमधिगन्तुं प्रभुरि(भु इ)ति कथं पौर्वापर्येऽक्षजप्रत्ययप्रवृत्तिरिति वक्तव्यम् यतः 'पूर्वदृष्टमेतद्' इत्युल्लेखमन्तरेणाऽपि पौर्वापर्यं दृगवता-१५ रात् । तथाहि–मलयगिरिशिखराद्यनुसरणकालेऽप्यक्षजे दर्शने पुरो व्यवस्थितो नीलादिरर्थः स्फुटमेकत्वद्रूपतया प्रतिभाति तद्रूपतया प्रतिभासनमेवाऽक्षणिकैकत्वप्रतिभासनं कथं न निर्विकल्पकप्रत्यभिज्ञाध्यक्षसमवसेयं तत्त्वम् (??) । न च निर्विकल्पकाध्यक्षेणैवैकत्वग्रहणात् तदेवेदमपि सविकल्पप्रत्यभिज्ञाध्यक्षं गृहीतग्राहितया व्यवहारमात्रदर्शनफलत्वात् नीलादिविकल्पवदप्रमाणम् (??) यतो गृहीतमगृहीतं वाऽर्थस्वरूपमवभासयन्ती प्रतिपत्तिः अबाधितरूपा अर्थाविसंवादित्वात् प्रमाणम् २० अर्थाधिगतिफलनिबन्धनत्वे प्रमाणस्य लोके सिद्धत्वात् । ततो निर्विकल्पकस्य विकल्पकस्य वा स्थैर्यग्राहिणः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययस्य प्रमाणतेति तद्बाधितत्वात् क्षणक्षयस्य नाभ्युपगमार्हता युक्तिसङ्गता ।

विनाशस्य सहेतुकत्वात् हेतुसंनिधेः प्रागभावात् क्षयिणामपि भावानां कियत्कालं यावत् स्थैर्यं अनुमानादप्यवसीयते । न च नाशहेतूनामभावः 'दण्डेन घटो भग्नः' 'अग्निना काष्ठं दग्धम्' इति नाशहेतूनामन्वय-व्यतिरेकाभ्यां लोके सुप्रसिद्धत्वात् । अन्वय-व्यतिरेकनिबन्धनो हि सर्वत्र २५ हेतुफलभावः तमभ्युपगच्छन् 'हेतुभिरनाधेयत्वं(ध्वं)सा घटादयः' इति प्रत्येतुं न क्षमः । उक्तं च–

"अभिघाताग्निसंयोगनाशप्रत्ययसंनिधिम् ।
विना संसर्गितां याति न विनाशो घटादिभिः" ॥ [ ] इति ।

न चावस्तुत्वाद् विनाशस्य कार्यत्वं न सङ्गतमिति वक्तव्यम्, यतः–

"भावान्तरविनिर्मुक्तो भावोऽत्रानुपलम्भवत् ।
३० अभावः संमतस्तस्य हेतोः किं न समुद्भवः ?" ॥ [ ]

१–नुसन्धानं वि–मां० आ० हा० वि० ।–नु वि–वा० बा० । २–न विकल्पात् पूर्वदृष्टमेव पश्यामीत्युल्लेखवानुपजायतो नात्यनु–वा० बा० । ३–त्वा र्ह्यधिगतिरू–हा० । ४ पृ० २८९ पं० १०–११ । ५–पर्यवृ–हा० । ६–क्षस्य व्या–भा० मां० । ७–मनुत्पद्यद्रू–मां० । ८–द्रूपाप्र–वा० बा० । ९–नुसरण–बा० भा० । १०–दप्यतादृष्टतां वर्तमानग्राह्यसाध्य–वा० बा० ।–दृष्टता व–वि० । ११–क्षजद्–आ० । १२–मत्र भु–वा० बा० ।–मनु भु–वि० । १३–भासमान–वा० बा० विना । १४–कत्वंप्र–आ० । १५–कत्वाप्र–वि० ।–कत्वे प्र–वा० बा० । १६–तदेवैद सवि–वा० बा० । १७–ध्यक्षगृ–भां० हा० वि० । १८–श्रप्रवर्तनफलकस्य वा–वा० बा० । १९–कस्या वि–आ० विना । २०–लोके पुप्र–वा० बा० । २१–यत्वंसघटाद्–मां० ।–यत्वंसंघटाद्–आ० हा० भा० । २२–घातोऽग्निः संयोग नसप्रत्ययसन्निधि । बा० बा० । घाताभिसंयोग–हा० । घातोऽभिसंयोग–आ० । २३–सन्निधि । हा० वि० । २४–तां यान्ति आ० वा० बा० । "तथाहि" इत्युल्लिख्य श्लोकोऽयं निर्दिष्ट हेतु० टी० ता० लि० पृ० ८० प्र० पं० ६ । २५–शस्याका–वा० बा० । २६–त् । भावः सम–वा० बा० । पृ० १० पं० २० तथा टिप्प० ४ । "तथा चाह कश्चित्" इति निर्दिश्य श्लोकोऽयं समुद्धृत हेतु० टी० ता० लि० पृ० ८२ प्र० पं० २ । श्लोकान्ते च "तदेतत् कौमारिल दर्शनमपनुदन्नाह" इत्यपि तत्रैव लिखितम् । स्याद्वादर० पृ० १२३ प्र० प० ८ । अयं श्लोकः "इति स्वयं भट्टेन प्रकटनात्" इति कृत्वा रत्नाकराव-निर्दिष्ट रत्नाकरा० प्र० प० पृ० ४३ पं० २१–२३ ।

घटेन्धनपयसां समासादितविकाराणामवस्थान्तरमेव ध्वंसं मन्यन्ते येऽप्यनुपजातविकाराः प्रदीप-बुद्ध्यादयो ध्वंसमालम्बन्ते तेऽप्यन्यकरूपतामात्मस्वभावतां च विकारमेव ध्वंसमासादयन्ति यथा नोपलम्भव्यावृत्तिरेवानुपलम्भः परेषां किन्तु विवक्षितोपलम्भादन्यः पर्युदासवृत्त्योपलम्भ एव तथा भावातिरेकेणाभावस्यासंवेद्यत्वाद् भाव एव(वा)भावः । विशे(वैशे)षिकास्तु मन्यन्ते भवत्वनपेक्षितभावान्तरसंसर्गः प्रच्युतिमात्रमेव प्रध्वंसाभावस्तथापि तत्र हेतुमत्ता न विरोधमनुभवति । ५ तथाहि—

"सं(सन्) बोधगोचरप्राप्तस्तद्भावे नोपलभ्यते ।
नस्या(नश्यन्) भावः कथं तस्य न नाशः कार्यतामियात्" ? ॥ [ ] इति ।

कारणाधीनः पदार्थेषु प्रध्वंस इति तद्धेतुसन्निधानात् प्रागनासादितविनाशं(श)सङ्गतयो भावा इत्यनुमानादक्षणिकत्वसिद्धेर्न क्षणक्षयिता तेषामभ्युपगन्तुं युक्तेति । १०

[उत्तरपक्षः—बौद्धैः क्षणभङ्गस्य साधनम्]

अत्र प्रतिविधीयते यदुक्तम्–'नाध्यक्षतः क्षणिकतावगमः' इति, तत्र यथा अध्यक्षमेव क्षणविशरारुतां भावानामवगमयति तथा प्रतिपादितं प्राक् वेदान्तवादिमतनिराकरणं कुर्वद्भिः । यदपि 'नानुमानतोऽपि तत्सिद्धि(द्धिः) सामान्यविशेषलक्षणायोगात् लिङ्गस्य' इति, तदसङ्गतमेव; यतः 'सपक्षे सत्त्वम्' इत्यादिना स्वसाध्यप्रतिबिम्ब(बन्ध) एव हेतो निश्चितोऽभिधीयते न दर्शनादर्श- १५ नमात्रम् सपक्ष-विपक्षयोर्हेतुभावाभावयोः सर्वत्र निश्चयायोगात्—नहि पार्थिवत्वादौ दर्शनादर्शनयोः (??)सतोरप्यन्वयनिश्चय इति कृतकत्वादावपि स न स्यात् । तथाहि—बहुलमदृष्टे(ष्ट)व्यभिचारस्यापि केनचिदसति प्रतिबन्धे सर्वत्र सर्वस्य न तथा भावावगमो नियमनिबन्धनाभावात् न वा सर्वदर्शनाद्व्याप्यसपक्षविपर्ययो हेतोर्भावाभावौ ग्रहीतुं शक्यौ(??) यतो न हेतुमन्तः सर्व एव भावाः साध्यधर्मसंसर्गितयाऽसर्वविदः प्रत्यक्ष(क्षाः) साध्यविविक्ता वा हेतुविकलतयाऽदृश्यानुपल- २० ब्धेरभावाव्यभिचारित्वायोगात् । उक्तं च—

"गत्वा गत्वा च तान् देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते ।
तदान्यकारणाभावादसन्नित्यवगम्यते" ॥ [श्लो० वा० अर्था० श्लो० ३८] इति ।

यत्र यत्र साधनधर्मस्तत्र तत्र सर्वत्र साध्यधर्मः यत्र च साध्याभावस्तत्र सर्वत्र साधनधर्मस्याप्यभावः इति अशेषपदार्थाक्षेपेण सपक्षेतरयोः हेतोः सदसत्त्वे व्यापनीय(?) स्त । क्वचिदेव तादात्म्य- २५ तदुत्पत्तिलक्षणस्य च प्रतिबन्धस्यैकस्मिन्नपि प्रमाणतोऽधिगमेऽन्वय-व्यतिरेकयोर्व्याप्त्या निश्चयः सम्पद्यते नान्यथा तदात्मनस्तादात्म्याभावे नैरात्म्यप्रसङ्गात् कार्यस्य च स्वकारणाभिमते(त)भावाभावे भवतो निर्हेतुकत्वप्रसक्तेश्च । उक्तं च—

"स्वभावेऽप्यविनाभावो भावमात्रानुरोधिनि ।
तदभावे स्वयं भावस्याभावः स्यादभेदतः" ॥ [ ] तथा, ३०

१–वातिरेकेण भा–वा० बा० विना । २–घत्वादि एव भा–वा० बा० । ३–भावोऽस्तु मन्यन्ते वा० बा० विना । ४–स्तु म मन्य–वा० बा० । ५–सद्बोध–भां० मां० । सद्बाध–आ० हा० वि० ।—
"सन् बोधगोचरप्राप्तस्तद्भावे नोपलभ्यते । नश्यन् भावः कथं तस्य न नाशः कार्यतामियात्" ? ॥
तद्भावे "अभिभावे" । तस्य "अभ्यादेः"–हेतु० टी० ता० लि० पृ० ८४ प्र० पं० १–२ । ६ नाशका–भां० मां० वा० बा० विना । ७–ति करणाधीन प–वा० बा० विना । ८–त्वसिद्धिर्न आ० हा० वि० । ९–पृ० ३१८ पं० ५ । १०–ध्यक्षं क्षण–आ० । ११–वेदान्तवादिमतनिराकरणं च पृ० २८५–२९६ । १२–पृ० ३१८ पं० १० । १३–क्षणयो–वा० बा० विना । १४–च यत स–मां० ।–व येतः स–हा० वि० ।–म येत स–भां० ।–व यः स–वा० बा० । १५ पृ० ३१८ पं० ११ । १६–निश्चतो–वा० बा० । १७–मात्र स–आ० हा० वि० । १८–तुर्भा–आ० । १९–त्वादौ दर्शनयोः आ० हा० वि० । २०–न वा स–मां० । न स–आ० । २१–व्याप्यास–वा० बा० । २२–पर्ययोर्हे–वि० । २३–भावो ग्रहीतुं शक्यो य–वा० बा० । २४–या स–भां० बा० विना । २५–सर्वा वि–आ० हा० वि० । २६–तुर्वैक–वि० । २७–सत्त्वेत्याव्यापनीयेन्नत्क–वा० बा० ।–सत्त्वे व्यापनीये त्वक–भां० मां० हा० वि० । २८–भावे भावतो वा० बा० हा० वि० । २९–एतत् प्रूम् हेतु० टी० ता० लि० पृ० ५७ प्र० पं० २–३ । प्रमेयक० पृ० १०१ प्र० पं० ९ ।

"कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः।
सम्भवस्त(स भवंस्त)दभावेऽपि हेतुमत्तां विलङ्घयेत्" ॥ [ ]

यस्य च क्वचित् धर्मिणि प्रागुप(प)दर्शितप्रतिबन्धप्रसाधकं प्रमाणं वृत्तमिदानीं विस्मृतम् तस्य तदुपन्यासेन तत्र स्मृतिरे(रा)धीयते अनुमेयार्थप्रसिद्धेस्तु अविनाभावविनिश्चये तत एव
५ सर्यमाणात् (??)प्रमाणान्न पुनर्दृष्टान्तप्रतिबिम्बग्राहकं च प्रामाण्यं यद्वा स्याद्वाद्यापि(??)क्वचिद्धर्मिणि प्रवृत्तं तस्यानुमानोपन्यासकाल एव प्रदर्शनीयमिति न तस्य प्रतिबिम्बग्राहिप्रमाणानुस्मृत्यर्थं पक्षीकृतार्थव्यतिरेकवान् साधर्म्यादिदृष्टान्तः प्रदर्शनीयः अतस्तत्प्रतिबन्धप्रसाधकं साक्षादेव प्रमाणं प्रदर्शनीयम्। तत्र च प्रदर्शिते न किञ्चित् दृष्टान्तप्रदर्शनेन तस्य चरितार्थत्वात् प्रतिबिम्बप्रसिद्धौ च प्रमाणतः साध्यधर्मे सत्येवाऽनुमेये "हेतोः सद्भाव इति कथं तस्य सामान्यलक्षणविरहः? तथाहि–
१० सपक्षः साध्यधर्मवाने(ने)वार्थ उच्यते बाधकप्रमाणबलाच्च(??)विपक्षा अव्यापिनो हेतुः साध्यधर्मवत्त्वे च साध्यधर्मिणि वर्तमानः कथं न सपक्षे वृत्तः यतो न सपक्षव्यवस्था वा सर्वमिच्छाव्यवस्थापितलक्षणं पक्षत्वमपाकरोति साधयितुमिष्ट इतीच्छा(??)व्यवस्थापितत्व(त्वं) पक्षलक्षणस्य सिद्धमेव सपक्षत्वात्(त्वं तु) तस्य साध्यधर्मयोगात् वस्तुबलायातमिति न तत् तेन बाध्यते अन्यथा सपक्षव्यतिरिक्ते पक्षे वर्तमानो हेतुः विपक्षावृत्तेरनैकान्तिकः प्रसक्त इति सर्वानुमानोच्छेदः। अथ पक्षीकृत-
१५ परिहारेणैवाऽसपक्षस्यापि व्यवस्थापितत्वात् न पक्षे वृत्तोऽसपक्षवृत्तोऽसपक्षवृत्तित्वादनैकान्तिकः, नन्वेवं पक्षपरिहारेण (?) साध्यभावाभावयोस्तैद्भान्वयं हेतुर्न साध्यधर्मिणीति कथं पक्षो हेतुर्मानपि साध्यधर्माध्यासितत्वात्। नहि 'यस्मादनुमेये साध्यं विनापि भावः तत्सद्भावाद्धर्मी साध्यधर्मवान्' इत्यभिधातुं युक्तम्, न च साध्यधर्मवृत्तिव्यतिरेकस्वरूपौ सपक्ष-विपक्षौ विहाय प्रकारान्तरस्य सम्भवः यत्र पक्षत्वं स्यात् अन्योन्यव्यवच्छेदरूपतया सर्वस्य द्वैराश्यव्यवस्थितेः हेतोश्च पक्ष-सपक्षा-
२० दिप्रविभागापेक्षया गमकत्वे काल्पनिकत्वमनुमानेऽप्यङ्गीकृतं स्यात् न वस्तुबलप्रवृत्तत्वम् तस्मात् साध्यप्रतिबद्धभावतया हेतोर्गमकत्वे साध्यधर्मिण्यपि साध्यधर्मयुक्त एवं परमार्थतः सपक्षात्मन्येवासौ वर्त्तत इति कथं सामान्यलक्षणयोगी न स्यात्। उक्तं च–

"यत् क्वचिद् दृष्टान्तस्य (दृष्टं तस्य) यत्र प्रतिबिम्बः तद्विदः तस्य तद् गमकं तत्रेति वस्तुगतिः"
[ ] इति।

१–प्रमेयक० पृ० १०१ प्र० पं० ८। २ "स भवंस्त"–हेतु० टी०। संभवंस्तद"–प्रमेयक०। ३–मत्ता वि आ० वि०।–मत्ताविलम्ब–हा०।–मतां वि–बा० बा०। ४ प्रागु प्र–भां० मां०। प्रागुसव्–आ० हा० वि०। ५–धकप्र–भां० मां० वि०। ६–माण वृ–वा० बा० विना। ७–ऽधायतानु–बा० बा०। ८–स्तुश्चविना–बा० बा० विना। ९ च प्रमा–बा० बा० वि०। १०–यद्वास्याद्यापि आ०। यद्यस्यान्नद्यापि बा० बा०। यद्वा स्याद्वाप्यापि हा०। ११–ति त–आ० वि०। १२–नीयोतस्तव प्र–आ०।–नीयोऽसत्तं प्र–बा० बा०। १३–दर्शने त–बा० बा०। १४ हेतो स–आ० वि०। हेतोऽस–हा०। १५–व्यापितो हे–बा० बा०। १६–क्षे व्यक्तः बा० बा०। १७–पक्षो व्य–हा० वि०। १८–क्षण प–भां०। १९–क्षत्वत् तस्य हा० वि०। –क्षत्वन्च तस्य बा० बा०।–क्षत्व तस्य भां० मां०। २०–धर्मायो–बा० बा० विना। २१–हारेणो वा–बा० बा०।–हारेण वा–हा०।–हारेणेवा–वि०। २२–स्तथान्वयं आ०।–स्तथात्वयं हा०। २३–तुर्नासा–हा० वि०। २४–मानापि आ० हा०।–मानोपि वि०।–मानपि सध्यचध–बा० बा०। २५–स्यास्या नहि बा० बा० विना। २६–स्मानुमेय साध्यं बा० बा०। २७–कत्वप्यनु–बा० बा०। २८–प्रकृत्तत्यं तस्यात् बा० बा०। २९–याधहे–बा० बा०। ३०–ध पार–बा० बा० विना। ३१ दृष्टान्तस्याय–बा० बा०।

"अत एव अन्यत्रोक्तम्" इति उक्त्वा "यत् क्वचिद् दृष्टं तस्य यत्र प्रतिबन्धः तद्विदः तस्य तद् गमकं तत्रेति वस्तुगतिः"।

अन्यत्र "विनिश्चये" (तन्नाम्नि ग्रन्थे) यत् "लिङ्गम्" क्वचित् "प्रदेशे" दृष्टम् "निश्चितम्" तस्य "लिङ्गस्य" यत्र "वह्न्यादौ" तद्विदः "प्रतिबन्धविदः" तस्य "वह्नेः" तद् "लिङ्गम्" तत्र "यत्र दृष्टं तत्रैव नान्यत्र"–हेतु० टी० ता० लि० ६ द्वि० पं० १।

ततो व्यवस्थितं क्षणिकत्व-सत्त्वयोस्तादात्म्यात् क्वचिद् वस्तुनि वर्तमानं सत्त्वं क्षणिकत्वयुक्त एव वर्तते इति नास्य सामान्यलक्षणायोगः।

सत्त्वं च भावानां न सत्तायोगलक्षणम् सामान्यादिष्वभावाद् अव्याप्तेः शशशृङ्गादिष्वति(ष्वपि)[1] भावादतिव्याप्तेश्च। न च शशशृङ्गादीनामसत्त्वान्न सत्तायोग इति वाच्यम्, इतरेतराश्रयत्वप्रसक्तेः। तथाहि—तेषामसत्त्वं सत्तायोगविरहात् तद्विरहश्चासत्त्वात् इति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। अथ अर्थक्रियासामर्थ्यविरहान्न तेषां सत्तायोगः, नन्वेवं यद् अर्थक्रियासामर्थ्ययुक्तं सत्तायोगस्तस्यैव इत्यर्थक्रियासामर्थ्यमेव सत्त्वमायातमिति व्यर्थः सत्तायोगः। अत एव सामान्यादीनामपि स्वरूपसत्त्वं अर्थक्रियासामर्थ्यात् सिद्धम् 'सत्'प्रत्ययस्य सर्वत्राविशेषात्। न च सामान्यादिषूपचरितः 'सत्'-प्रत्ययः अस्खलद्वृत्तित्वात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्येण(व्याणां) निरोधात् एकस्मिन् धर्मिण्ययोगात् "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" [तत्त्वा० अ० ५ सू० २९] इत्येतदपि सत्त्वलक्षणमयुक्तम्। अथ 'कथंचिद् उत्पाद-व्ययौ कथंचिद् ध्रौव्यम्' इत्यभ्युपगमः, नैतत्; यतो यथोत्पाद-व्ययौ न तथा ध्रौव्यम् यथा च ध्रौव्यं न तथा उत्पाद-व्ययौ इति कथमेकं वस्तु यथोक्तलक्षणयुक्तं भवेत्? अतोऽर्थ-क्रियासामर्थ्यमेव सत्त्वमक्षणिकात्[2] क्रम-यौगपद्यविरोधाद् व्यावर्त्तमानं क्षणिक एवाऽवतिष्ठत इति तदात्मतां कथमतिक्रामेत्[3]? तन्न विशेषलक्षणस्याप्ययोगः[4]। तस्मात् 'यत् सत् तत् क्षणिकमेव, सन्ति च द्वादशायतनानि' इति क्षणिकतायामिदमनुमानम्। अत्र च पञ्चस्व(सु) रूपादिष्वध्यक्षतः[5] सत्त्व-सिद्धिः मनो-धर्मायतनयोः स्वसंवेदनतः स्कन्धत्रयस्वभावत्व(?) धर्मायतनस्य संस्कारस्कन्धस्य च विप्रयुक्तस्याभावात् चक्षुरादिच(रादि)पञ्चस्वनुमिते(ते)[7]स्तत्कार्यविज्ञानस्य कादाचित्कतया कार-णान्तरसापेक्षत्वसिद्धेः देशादिविप्रकृष्टेषु च सर्वपदार्थेषु अभ्युपगमविपर्ययेषु प्रसङ्गमुखेन सत्तायाः क्षणिकतासाधन(नम्) व्याप्यसद्भावे व्यापकस्य नियतसंनिधित्वा(त्वात्) व्यापकाभावे च व्याप्यस्या-प्यभावात् चक्षुरादि-ध्वनीनाम् 'सन(त्)'[8]शब्दस्य च प्रवृत्तिनिमित्तभेदादर्थभेदतः[9] परमार्थतो भेदाभावेऽपि न धर्मिण एव हेतुता। पारमार्थिकरूपस्यावाच्यत्वाद् विकल्पावभासिनमेवार्थं ध्वनयः प्रतिपादयन्ति 'क्षणिक'शब्दस्यापि क्ष(अक्ष)णिकसमारोपव्यवच्छेदविषयतया न[10] 'सत्'शब्दार्थता भिन्नार्थतेति तद्द्वारेणापि न प्रतिज्ञार्थैकदेशतां(ता)[11]। अन्वयादिनिश्चयस्तु प्रतिबन्धनिश्चायकप्रमाण-निबन्धनः; स च तादात्म्यलक्षणः प्रतिबन्धः स्वभावहेतोः प्रमाणनिबन्धनः, ननु क्षणिकत्वस्य प्रत्य-क्षेणाऽनिश्चयात् कथं तत्तादात्म्यं स्वभावहेतोः प्रत्यक्षप्रमाणतः सिद्धम्? अथ 'कृतका विनाशं प्रति अनपेक्षत्वात् तद्भावनियता यतो भावाः' इत्यनुमानसिद्धं तत्तादात्म्यम्[12], नैतत्; यतो निर्हेतुक-त्वेऽपि विनाशस्य यदैव घटादयो नाशमनुभवन्तः[13] प्रतीयन्ते तदैव तेषामसौ निर्हेतुकः स्यात् नान्य-देति कथं क्षणविशरारुता भावानाम्? अथ एकक्षणभावित्वेन भावस्योत्पत्तेः प्रागपि विनाशसङ्गतिः। ननु यथैकक्षणस्थायित्वेनोत्पत्तिः स्वहेतुभ्यः तथाऽनेकक्षणस्थायित्वेनापि साऽविरुद्धा, दृश्यन्ते हि विचित्रशक्तयः सामग्र्यः। न च यदि क्वचित् कदाचित् विनाशोद्भवे(शो भवेत्)[14] तदा तत्काल-द्रव्यापेक्षत्वाद् अन्यानपेक्षत्वहानिरिति वक्तव्यम्[15], विनाशहेत्वनपेक्षत्वेनानपेक्षत्वात्[16] अन्यथा द्विती-येऽपि क्षणे विनाशो न स्यात् तत्कालाद्यपेक्षत्वात्।

१-ङ्गादिष्वविनाभा-वा० बा० विना। २ सत्त्वं सत्त्वाक्षणिकात् क-बा० बा०। ३-क्रामेत वा० बा० विना। ४ पृ० ३१८ प० १४। ५-ष्वक्षतः बा० बा०। ६-भावात्व-वा० बा०। ७-नुमितोस्ता-स्का-आ० हा० वि०। -नुमितास्ततका-भा० मा०। ८ सशब्दस्य आ० हा० वि०। स व्दस्य वा० बा०। ९-मित्तभेदतः भां० मां०।-मित्तभेदादभेदतः बा० बा०। १० न सच्छन्दार्थतेति त-भा० मा०। ११-शतां न्वया-बा० बा०।

१२ "यद्भावं प्रति यन्नैव हेत्वन्तरमपेक्षते। तत् तत्र नियतं ज्ञेयं स्वहेतुभ्यस्तथोदयात्" ॥
"निर्निबन्धा हि सामग्री स्वकार्योत्पादने यथा। विनाशं प्रति सर्वेऽपि निरपेक्षाश्च जन्मिन" ॥
—तत्त्वस० का० ३५४-३५५ पृ० १३२।

१३ नाशनमनु-आ० हा० वि०। नशनमनु-भां० मां०। १४-नाशाद्भवेत् त-मा०।-नाशाद्भवे त-भां०।-नाशोद्भिवेत् त-वि०।-नाशोद्भिवे त-हा०। १५ अन्यादपेक्ष-भा० मां० हा० वि०। अस्यादपेक्ष-बा० मा०। १६-द्धाहेतुनपेक्ष-भा० मां०।-द्धाहेतुत्वनपेक्ष-आ० हा० वि०।

न च क्रम-यौगपद्याभ्यां सामर्थ्यलक्षणं सत्त्वं व्याप्तम् क्रमाऽक्रमनिवृत्तौ च नित्यात् सत्त्वं निवर्त्तमानं क्षणिकेष्वेवावतिष्ठत इति सत्त्वयुक्तस्य कृतकत्वस्य गमकत्वम्, यतः क्षणिकत्वे सति क्रमाऽक्रमप्रतिपत्तेरसंभव एव । तथाहि–येन ज्ञानक्षणेन तत्पूर्वकं वस्तु प्रतिपन्नं न तेनोत्तरकालभावि, येन चोत्तरकालसङ्गतं न तेन पूर्वकालालीढमिति कथं क्रमप्रतीतिः? योऽपि पूर्ववस्तु-५प्र–ीत्य(प्रतीत्य)नन्तरमपरस्य ग्राहकः स क्रमग्राही भवेत् तथा च क्षणिकत्वमस्य स्यात् बौद्धस्य च काल एव नास्ति इति कथं तस्य क्रमग्रहः? भिन्नकालवस्तुग्रहा(हे) कालाभावे चानेकवस्तुरूप एव क्रम–(मः) तथा, नित्यस्यापि क्रमकर्तृत्वं न विरुध्यते–यथा च नित्यस्य क्रमकर्तृत्वादनेकरूपत्वात्(त्वं) तथा क्षणिकस्यापि स्यात् । अथ क्षणवद् द्वितीये क्षणे नित्यस्याप्यभावो भवेत् कार्याभावात्, अयुक्तमेतत्; कालाभावाद् भवन्मतेन । भवतु वा ग्रहस्तथापि कथं क्रमाऽक्रमाभ्यां सत्त्वस्य १०व्याप्तिः क्रम-यौगपद्यव्यतिरिक्तप्रकारान्तरेणाप्यर्थक्रियासंभवात् न च प्रकारान्तराभावनिश्चयो दृश्यानुपलम्भात् ततो विशिष्टदेशादावेवाभावनिश्चयप्रसक्तेः न सर्वत्र सर्वदा वा । नाप्यदृश्यानुपलम्भात् तदा(द)भावनिश्चयः तस्य संदेहहेतुत्वात् । तस्मान्नित्येषु क्रमाक्रम(मा)योगेऽपि सत्त्वानिवृत्तेः कथं सत्त्वस्य "क्षणिकभा(कस्वभा)वत्वं प्रमाणतः सिद्धं येनाऽन्वय-व्यतिरेकनिश्चयो भवेत्? यद्यपि क्रमाक्रमाभ्यां सत्त्वस्य व्याप्तिः प्रकारान्तराभावात् "सिद्धा त्त(त)थापि क्रमाक्रमायोगो न नित्येषु १५प्रत्यक्षादिना सिद्धः नित्यानामतीन्द्रियत्वात् तदसिद्धौ न तेषु सत्त्वनिवृत्तिसिद्धिस्तदसिद्धौ च न सत्त्वस्य क्षणिकस्वभावत्वसिद्धिः । किञ्च, सत्त्वात् क्रम-यौगपद्यानुमान स्यात् ताभ्यां तस्य व्याप्तत्वात् नतु क्षणिकत्वानुमानम् तत्र क्रमकर्तृत्वासंभवादिति ।

अत्र केचित् प्रतिविदधति–"प्रत्यक्षसिद्ध(द्धे) एव क्रम-यौगपद्ये । तथाहि–सहभावो भावानां यौगपद्यम् क्रमस्तु पूर्वापरभावः, स च क्रमिणामभिन्न एकप्रतिभासैश्च तत्प्रतिभासैः । अथै-२०कप्रतिभासानन्तरमपरस्य प्रतिभासः क्रमप्रतिभासः नत्वेकस्यैव अतिप्रसङ्गात्, एवमेतत् किन्तु यदैकप्रतिभासः न तदा परस्य, तदा तत्प्रतिभासे यौगपद्यप्रतिभासप्रसक्तेः । तस्मात् क्रमिणोः पूर्वाऽपरज्ञानाभ्यां ग्रहणे तदभिन्नक्रमोऽपि गृहीत एव, केवलं पूर्वानुभूतपदार्थाऽऽहितसंस्कारप्रबोधात् 'इदमस्मादनन्तरमुत्पन्नम्' इत्यादिविकल्पप्रादुर्भावे क्रमो गृहीत इति व्यवस्थाप्यते । क्रमे(मि)णोर्ग्रहेऽपि कथञ्चिदानुपूर्व्या "विकल्पानुत्पत्तौ क्रमग्रहव्यवस्थापनायोगात् अत एव क्रमिणामेकग्रहेऽपि न २५क्रमग्रहो व्यवस्थाप्यते । अपि च, कथं कालाभ्युपगमवादिनोऽपि क्रमग्रहः सर्वकार्याणामेककालत्वात्? न च भिन्नकालकारणोपाधिक्रमात् कार्यक्रमो युक्तः, कालस्याऽभिन्नत्वेनाभ्युपगमात् त(न त)–द्योगाद् भावानां क्रमसद्भाव इति । न च पूर्वापररूपत्वात् 'कालः क्रमवान्' इति वक्तव्यम्, यतस्तस्याऽपि यद्यपरकालापेक्षः क्रमस्तदाऽनवस्थाप्रसक्तिः । अथ स्वरूपेण तस्य क्रमस्तथासति कार्याणामपि बहूनामसहायानां क्रमो भवेत् अस्माकं तु लोकप्रतीत्या 'पूर्वाह्न'आदिप्रत्ययविषयो महाभूत-३०विशेषः कालोऽस्त्येव तद्भेदात् क्रमादिप्रतीतिर्युक्तैव । नापि नित्यस्य प्रकारान्तरेण कर्तृत्वसङ्गतिः यत एकदेशकार्यकारणानेक–(?) करणे ह्यन्यदा प्रकारान्तरेण करणेऽङ्गीक्रियमाणे वस्तुनः स्वभावभेदाद् भेदप्रसक्तिरिति नैकत्वम् पुनः पुनः कार्यकरणे च क्रम एव न प्रकारान्तरसद्भावः । न च

१–नक्षणेम तत्पूर्वं–भा० मां० ।–नक्षणेन त्पूर्वं–वा० बा० । २ "न चैतच्छक्यं वक्तुम् क्रम-यौगपद्ये एव भावाना न सिद्धे व्यतिरिक्तकालपदार्थानभ्युपगमादिति"—तत्त्वस० पञ्जि० पृ० १४४ पं० १५ । ३ कालो भा–बा० वा० । ४ क्रम तथा हा० वि० । ५ क्षणस्यापि वा० बा० । ६ भवक्रु वा वा० बा० । ७–प्रसक्तेः तत्सर्वदा वा भा० मां० ।–प्रसक्तेः तत् सर्वत्र सर्वदा वा हा० वि० । ८ वादयुक्तद–वा० बा० । ९ तस्यानित्यत्वेषु वा० बा० । १० सत्त्वाभिवृत्तिः आ० हा० वि० । सत्त्वाभिवृत्तेः भां० मां० । ११ क्षणिकाभा–वा० बा० । १२ सिद्धो त–भा० मां० आ० । सिद्धो मि त्तथापि त्तमाक्रमायो न नित्ये–हा० । सिद्धो मि त्तथापि त्तथापि त्तक्रमायो न नित्ये–वि० । १३–सिद्धि च वा० बा० विना । १४ न क्ष–हा० वि० । १५–एव क्र–वि० विना । १६–सद्भात–वा० बा० । १७–स अ–आ० हा० वि० । १८ एवं हा० वि० । १९–कल्प्यप्रा–भा० मां० हा० ।–कल्पाप्रा–वा० बा० आ० । २० क्रमेणोग्र–मा० आ० हा० वि० । क्रमणोग्र–मां० । २१ विकल्पानुपपत्तौ वा० बा० विना । २२–कल्प्यानु–हा० । २३–त्वात् कालात् कालः क्र–वा० बा० वि० विना । २४–दा क्र–वा० बा० आ० । २५ कर्तृस–वा० बा० विना । २६ कारणे भां० मां० । कारणात्येक करणे व्यत्पदा मा० बा० ।

प्रकारान्तरे(रेण) 'नैकदा कार्यं करोति पुनः पुनश्च करोति' इत्येवं करणमभ्युपगन्तव्यम् भावस्या-वस्तुत्वप्रसक्तेः सर्वदाऽकर्तृत्वात्। अथ 'एकदा कार्यं करोति पुन(नः) पुनश्च न करोति' इति प्रकारान्तरेण करणमभिमतं तथापि न यदा (पि यदा) न करोति न तदा (ति तदा) अवस्तु-त्वमेव प्रसक्तम्। तस्माद् घटादिः पदार्थोऽर्थक्रियाकारी क्रमाक्रमाभ्यां प्रत्यक्षसिद्धः 'स एवायम्' इति ज्ञानादक्षणिकश्च प्रतीयत एव। तस्यैककार्यकरणं प्रति यत् सामर्थ्यं तत् तदैव न पूर्वं ५ न पश्चात् तत्कार्याभावात् सामर्थ्यं तु ततोऽव्यतिरिक्तमेव उत्तरकार्योत्पत्तावप्येवं द्रष्टव्यमिति सामर्थ्यभेदेन पदार्थभेदात् कथं न क्षणिक एव क्रमाक्रमयोर्नियमः? अतो यत्र सत्त्वं तत्र क्रमाक्रमप्रतीतावपि क्षणिकत्वप्रतीतिरेव, य एव क्षणिके क्रमाक्रमयोर्नियमो नित्येऽप्ययमेव न (?) योगः ततो घटादौ यदेतन्नित्यत्वं प्रतीतिविषयत्वेनाध्यवसितं तत् सत्त्वविरुद्धमिति क्रम-यौगपद्या-भ्यामर्थक्रियाविरोधो नित्यस्य सिद्ध उच्यते। यथा च दृष्टेषु घटादिषु क्षणिकत्वव्याप्तं सत्त्वं तथाऽ-१० दृष्टेष्वप्यविशेषादिति सर्वोपसंहारेण व्याप्तिमवगत्य यथा यथा तेषु सत्त्वं निश्चीयते तथा तथा क्षणि-कत्वानुमानम् यत्र च सत्त्वानिश्चयस्तत्र सत्त्वाशङ्कया शशविषाणादिष्विव न क्षणिकत्वप्रतीतिरन्यत्र प्रसङ्गसाधनात्। न च तत्राप्यनुमानवैयर्थ्यं बाधकप्रमाणादेव क्षणिकत्वस्य(स्या)निश्चितत्वादिति वाच्यम् प्राग् गृहीतव्याप्तिकस्य सत्त्वनिश्चयमात्रेणैव क्षणक्षयाधिगतेर्बाधकप्रमाणवैयर्थ्यात्। ये तु विप-क्षाद् व्यावृत्तत्वेन क्षणिकत्वव्याप्तिं सत्त्वस्य सर्वत्रावगम्य तत्रैव सत्त्वात् क्षणिकत्वमनुमापयन्ति तेषां १५ व्याप्तिग्राहकादेव प्रमाणा(णात्) क्षणक्षयस्य सर्वत्र निश्चितत्वादनुमानोत्थानमेव न स्यात् त्रैलोक्यस्य च सर्वस्य प्रत्यक्षत्वाद्धर्मसिद्धिश्च तेषां दोषः असिद्धश्च हेतुः प्राप्नोति पक्षीकृते च सर्वस्मिन् धर्मिणि बाधकं च स्यात्। यदि विपक्षाभावस्सिद्धस्तदा साध्यस्यापि सिद्धत्वादनुमानोत्थानं न स्यात् अन्यैश्च धर्मो न सिद्ध इति कथं वा कस्य प्रवृत्तिरिति, यत् किञ्चिदेतत्, त(तत्) स्थितमेतत् सत्त्वविशिष्टस्य कृतकत्वस्य क्षणिकत्वेन सह तादात्म्य(त्म्यं) प्रमाणनिश्चितमिति कथं नान्वयव्यतिरेकनिश्चयः? यद्वा २० सत्त्वविशेषविकलस्याऽपि कृतकत्वादेः क्षणपरिणामे साध्ये नानेकान्तिकत्वम् यतस्तस्य प्रथमे क्षणे य एव स्वभावो द्वितीयेऽपि क्षणे स एव चेत् तदा प्रथमक्षणवदभूत्वा भवनमेव प्रसक्तमिति क्षणिक-त्वम्। अथ प्रथमक्षणे जन्मैव तस्य न स्थितिः द्वितीये स्थितिरेव न जन्म एवमपि क्षणिकत्वप्रस-क्तिर्जन्म-जन्मिनोः स्थिति-स्थितिमतोश्चाभेदात्। न च द्वितीयेऽपि क्षणे जन्मव्यतिरेकेण स्थिति-र्युक्ता। अथ तत्राऽपि जन्म तर्हि न तदा स्थितिर्द्वितीयादिक्षणभावित्वात् तस्याः एवमुत्तरोत्तर-२५ क्षणेष्वपि सर्वदोत्पत्तिरेव न स्थितिरिति क्षणक्षयित्वमेव उत्पत्तिश्च हेतुकृतेति तत्रैव कृतकत्वं(?) स्थितौ तस्मात् कृतकत्वस्याक्षणिकत्वविरुद्धत्वान्नानैकान्तिकत्वमिति सत्त्वानन्तर्भूतस्याऽपि कृत-कत्वस्य व्याप्तिः प्रमाणनिश्चितेत्यत्राप्यन्वय-व्यतिरेकनिश्चयः।

परे तु सत्त्वलक्षणस्य हेतोस्तादात्म्यस्वरूपः प्रतिबन्धो विपर्यये बाधकप्रमाणनिबन्धन इत्येवं वर्णयन्ति। यत्र क्रम-यौगपद्यायोगो न तस्य क्वचित् सामर्थ्यम् अस्ति चाऽक्षणिकेषु स यि(इ)ति तेषां ३० सामर्थ्यविरहलक्षणासत्त्वसिद्धौ ततो निवृत्तो सत्त्वमर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणं क्षणिकेष्वेवाऽवतिष्ठत इति सत्त्वस्य क्षणिकत्वस्वभावतासिद्धिः अनेन हि बाधकेन प्रमाणेन सत्त्वविरोधिमसत्त्व (सत्त्वविरुद्धम-सत्त्वं) क्षणिकेष्वारूप्यते। न च विरुद्धयोरेकत्र समवधानमिति ततो विरुद्धानैकान्तिकते अपि नाशङ्कनीये। अथ कथमर्थक्रियासामर्थ्यनिवृत्ति(त्तिः) क्रम-यौगपद्यनिवृत्तिनिमित्ता तयोस्तद्व्याप-

---

१-कारणांतरे वा० वा०। २-श्च न करोति पुनः पुनः कारणमभ्यु-वा० वा०। ३-ति पुनश्च न क-वा० वा० हा० वि०।-ति पुनः क-भां० मा०। ४-णमभि-वा० वा० विना। ५ तदापि वा० वा० विना। ६-दा य-आ० हा० वि०।-दा न करोति तदा वस्तु-वा० वा०। ७-दार्थभेत् क-भां० मां० हा० वि०।-दार्थवत् क-आ०। ८-च तयो-वा० वा०। ९-दिष्विति क्ष-वा० वा०। १०-सद्मासा-वा० वा०। ११-सिद्धध-वा० वा०। १२-पक्षो भा-वा० वा०। १३-न्यश्चाध-वा० वा० विना। १४ कस्य वृ-वा० वा०। १५-श्चिदेतत् स्थितमतत् स-भां० मा०।-श्चिदेतत् स्थितमन सत्त्व-आ० हा० वि०। १६ यथा आ० हा० वि०। १७-कलपस्या-आ०। १८-कमथ वा० वा०। १९-ति क्षयित्व-भां० मा०। २०-कत्वं न स्थिते ते तस्मा-वा० वा०।-कत्व स्थितो भां० मा०। २१ सत्त्वेति वा० वा० विना। २२-सत्त्वो सिद्धो ततो वा० वा०। २३-सत्त्वं वि-आ०। २४-धमसत्त्व-भां० मां०।

फत्वात्? अथात्राऽपि यदि व्याप्यव्यापकभावो बाधकान्तरनिबन्धनस्त(नस्त)दा[1] बाधकान्तरं तत्रा-
प्यन्वेषणीयम् तथा तदन्यत्रापि इत्यनवस्थाप्रसक्तेरप्रतिपत्तिः, असदेतत्; यतः क्रम-यौगपद्याभ्यां
सामर्थ्यस्य व्याप्तिः प्रकारान्तरासंभवतो निश्चितेति कुतोऽनवस्था? प्रत्यक्षबलादेव च प्रकारान्तरा-
संभवो निश्चितः। प्रत्यक्षस्याऽभावविषयत्वविरोधात् नेति चेत्, न; भावमेव क्रमेणेतरेण[2] वा
५ कार्योदयलक्षणं प्रतिपद्या(द्य)[3] अध्यक्षेण द्वैराश्य[4]व्यवस्थापनतः प्रकारान्तराभावसाधनात्।
तथाहि—यथा क्रमेण यौगपद्येन[5] वा स्वकार्यमुत्पादयन्तो घटादयो भावा अध्यक्षविषयतामवलम्बन्ते[6]
तदेतररूपविवेकिनो[7] ज्ञानात्मनि तथैव प्रतिभासन्ते यतः स्वस्वभावव्यवस्थितयो नात्मानं परेण मिश्र-
यन्ते भावास्तस्याऽपरत्वप्रसङ्गात् तथा च सर्वत्र सर्वस्योपयोगादिप्रसङ्गः[8]। न चाऽसाधारणरूपा-
ध्यासितेषु प्रतिभासमानेषु तेषु तत्राऽसतो रूपस्याऽवभासो युक्तः अहेतुकतापत्तेः एवं चाक्षसं-
१० विद(दां) प्रतिनियतविषयता[10] प्रमाणपरिदृष्टा[11] हीयेत[12] अहेतुकत्वे प्रतिभासस्य विषयान्तराऽवभासन-
प्रसक्तेः[13] अक्षस्य नियामकत्वेप्यविद्यमानाऽनुकारणे[14](कारेण) न संविद्दशादर्थात्म(त्मा)नः स्वरूप-
मासादयेयुरिति नियतार्थाध्यवसायतः प्रवृत्तानां नार्थक्रियाप्राप्तिः स्यात् मरीचिकादिषु जलाध्य(ध्य)-
वसायिनामिव। नापि सुख-दुःखप्राप्ति-परित्यागौ स्यातामिति क्रमवत्कार्यसामर्थ्योदीय[15]मानमध्यक्षं
तद्रूपमेवानुकुर्वत् इतररूपा(प)प्रतिभासविविक्ततया स्वसंवेदनेन [16]संवेद्यमानं यथाऽनुभवं पाश्चात्यं
१५ विकल्पद्वयं जनयति तत एवं[17] विभागः संपद्यते 'क्रमभावे[18](वि) तत् कार्यं नाक्रमम्'[19] इति तस्मात्
सर्वस्य तत्राप्रतिभासमानस्य 'यदेवं न भवति तत् क्रमभावि न भवति' इति सर्वस्येतरप्रकारतया
व्यवस्थितेः सिद्ध एव तद्व्यतिरिक्तप्रकारान्तराभावः अन्यथा तदन्यतया तस्य व्याप्त्यभावे स्वविष-
यान्यव्यवच्छेदात्[20] तद्रूपतापरिच्छेद एव तस्य न स्यात्। परिच्छेदो हि तदसाधारणरूपानुकरणमेव[21] तच्च
नास्तीति तत्सद्भावे[22] वा कथं न अतद्रूपव्यवच्छेदः? यतो नाकारान्तराऽसंसृष्टरूपानुकरणस्तदन्य-
२० (णतः अन्यत् तदन्य)व्यवच्छेदनं नाम ततः सर्वस्य तदतद्रूपतया व्यवस्थितेः प्रकारान्तराभावः
कथं न सिद्धिमध्यास्ते? एवमितरप्रकारप्रतिपत्तावपि ज्ञेयम्। क्रमश्च तदन्यासाहित्यमुक्तः स चैक-
क्षणभाविनाप्यध्यक्षेण वस्तुस्वरूपं गृह्णता तद्व्यतिरिक्तो गृहीत एवे[23]त्यप्युक्तम्।

यदपि 'उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वे प्रकारान्तरस्य देशादिनिषेध एव स्यान्नात्यन्ताभावः अनुपल-
ब्धिलक्षणप्राप्तत्वे विप्रकर्ष[24](र्षि)णां नाऽभावनिश्चय इति कुतोऽध्यक्षतः प्रकारान्तराभावसिद्धिः'
२५ इत्युक्तम्[25], तदप्युक्तोत्तरमेव; यतः कार्यान्तरासाहित्यं कैवल्यमङ्कुरादेः क्रमः, यौगपद्यमप्यपरैः बीजा-
दिकार्यैस्त[26]स्य साहित्यम्, प्रकारान्तरं च तदुभयावस्थाभावेऽप्यङ्कुरादेरन्यथाभवनमध्यक्ष(क्षं?)
तस्या[27]न्यसहितश्च(स्य?) केवलस्य चाङ्कुरादिस्वभावस्य[28] भावस्य भाव उपलभ्यमान उपलब्धिलक्षणप्राप्त
एव स्वभावः क्रम-यौगपद्यस्वभावबहिर्भूतो[29] नोपलभ्यते उपलभ्यवस्तुनोऽपरसाहित्ये कैवल्ये वा अपनीते

---

१ बाधकान्तरनिबन्धनं तदा आ० हा० वि०। बाधनं तदा। २ क्रमेणान्तरेण वा वा० बा० विना।
३-पत्ताध्य-वा० बा० भा० मां०। ४-राश्यं व्य-आ०। द्वैराश्यं च—

"कृतकाकृतकत्वेन द्वैराश्यं कैश्चिदिष्यते। क्षणिकाक्षणिकत्वेन भावानामपरैर्मतम्" ॥

—तत्त्वसं० का० ३५२ पृ० १३२।

"इह हि नैयायिकादय क्षणिकमेकमपि वस्तु नास्तीति मन्यमाना कृतकाकृतकत्वेन भावानां द्वैराश्यमव-
स्थापयन्ति ×××। अपरैस्तु वात्सीपुत्रीयादिभि क्षणिकाक्षणिकत्वेनापि भावाना द्वैराश्यमिष्यते"।

—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १३२ पं० ५ तथा ७।

५-पद्येन स्व-वा० बा० विना। ६-म्बन्ते तदित-वि०।-म्बन्ते न तदे-वा० बा०। ७-किनऽज्ञा-वा०बा०।
८ एतदर्थक "सर्वभावाः स्वभावेन" इत्यादि-पद्यं पूर्वं समायातम्-पृ० २४३ पं० १७ तथा टि० अं० २०-२१। तदेव च
पद्यं विद्यते सिद्धिवि०टी० लि० पृ० ५३ प्र० पं० १। तत्त्वोपप्लवे लि० पृ० १२७ द्वि० पं० २। ९ च सर्वस्यो-भां०
मां०। १०-यतावि-वा० बा०। ११ प्रताण-आ० हा०। प्रतारण-वि०। १२ हीयते आ० वि०।
१३-सक्तेरस्य नि-वा० बा०। १४-कारेणे वि०। १५-मर्थ्योदी-वा० बा०। १६ संविद्य-आ०।
१७ एव हा० वि०। १८-भाव त-वा० बा०। १९ नाक्राम-वा० बा० विना। २०-दा त-वा० बा०।
२१-नुकार-हा० वि०। २२-त्सभा-भा० मां० आ० हा०।-त्साभा-वि०। २३ एवेत्युक्तम् आ०।
२४-कर्षणा ना-हा० वि०। २५ पृ० ३२४ पं० १०। २६-स्तस्या सा-हा० वि०। २७-स्यान्य हि-वा०
बा० विना। २८-स्वभावस्य भाव उप-हा० वि०।-स्वभाव उप-वा० बा०। २९-हिर्भूते नो-वा० बा०।

तद्विविक्तदेशाद्य(ध्य)वसायिनोऽध्यक्षस्यानुभवादभावसिद्धेः । अङ्कुरादेस्तु(??)स्य कार्यस्य क्रमाक्रमभावव्यतिरेकेणाभावेऽन्यदाभावो न(??) क्षतिमावहति तस्मात् प्रत्यक्षत एव प्रकारान्तराभावसिद्धिः (द्धेः) क्रम-योगपद्ययोगेन कथं न सामर्थ्यस्य व्याप्तिर्भवेत्? अत एवं न्यायाद् देश-कालविप्रकर्षिणो भावास्तथाविधं कार्यं ये विदधति क्रमेतराभ्यामन्यथा न ते कर्तुमर्हन्ति अन्यथा तस्यैवासम्भवात्। तथाहि—यद्यपि देशादिविप्रकृष्टता तेषां तथापि कार्यस्य भावो दृष्टकार्यधर्मव्यतिरेकेण न सम्भवति कार्यमात्रस्य विशेषाभावात्, कार्यता हि कस्यचिद् भावे भवनम् तच्च अन्यसहितस्य केवलस्य वा नान्यथा इत्यत्र प्रत्यक्षाऽनुपलम्भतः सिद्धम् यथा च प्रत्यक्षानुपलम्भस्तद्(?)भावभावित्वसिद्धेः कार्यतायामङ्कुरादेः सर्वत्र तथैव तल्लक्षणव्यवस्थाविशेषाभावात् तथा कार्यस्य भावोऽपि प्रकारद्वयेन सर्वत्र नान्यथा विशेषाभावाद् भवनमात्रस्येत्यनुपलब्धिलक्षणप्राप्तानामपि क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियासामर्थ्यस्य व्याप्तिः । अनुमानतोऽपि सर्वत्र प्रकारान्तराभावः सिद्ध्यत्येव। तथाहि—अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकनिषेधेनापरविधानात् तस्याऽपि प्रतिषेधे विधि-प्रतिषेधयोरेकत्र विरोधादुभयनिषेधात्मनः प्रकारान्तरस्य कुतः सम्भवः? प्रयोगश्चात्र-यत्र यत्प्रकारव्यवच्छेदेन तदितरैकप्रकारव्यवस्थापनम् न तत्र प्रकारान्तरसम्भवः, तद्यथा नीलप्रकारव्यवच्छेदेनानीलप्रकारव्यवस्थायां पीते, अस्ति च क्रमाऽक्रमयोरन्यतरप्रकारव्यवच्छेदेन तदितरप्रकारव्यवस्थापनं व्यवच्छिद्यमानप्रकाराविपर्यीकृते सर्वत्र कार्यकारणरूपे भाव इति विरुद्धोपलब्धिः । व्यवच्छिद्यमानप्रकारेतरव्यवस्थापनं प्रकारान्तरत्वं प्रकारान्तरंश्च (?) ततो बहिर्भावलक्षण इत्यनयोस्तयोऽन्यथारूपयोः परस्परपरिहारलक्षणत्वात्। न च अत्रापि बाधकान्तराशङ्कया अनवस्थानमाशङ्कनीयम्(??) पूर्वप्रसिद्धस्य विरोधस्य स्मरणमात्रत्वविरुद्धोपलब्धिषु हि धर्मिणि सद्भावमुपदर्शि विरोधमेव बाधकं(??) तस्माद् विरुद्धयोरेकत्रासम्भवात् प्रतियोग्यभावनिश्चयः शीतोष्णस्पर्शयोरिव भावाभावयोरिव वेति कुतोऽनवस्था?

अथ कथं क्रमयौगपद्यायोगोऽक्षणिकेषु भावेषूच्यते ? न तावद् अक्षणिकाः क्रमेणार्थक्रियाकारिणः अकारकावस्थाऽविशेषात् प्रागेव द्वितीयादिक्षणभाविनः कार्यस्य का(क)रणप्रसङ्गाच्च तत्कारकस्वभावस्य प्रागेव सन्निधानात्। न च तदैव सन्निहितोपा(त्पा)दकानां कार्याणामनुदयो युक्तः पश्चा(श्चा)दपि तत्प्रसक्ते(क्तेः) । न च सहकारिक्रमात् कार्यक्रमः इति वक्तव्यम् यतः सहकारिणः किं विशेषाधायित्वेन तथा व्यपदिश्यते(न्ते), आहोस्वित् एककार्यप्रतिनियता(मा)-चक्षुरादय इवाक्षेपकारिणः स्वविज्ञाने? तत्र यदि प्रथमो विकल्पः, स न युक्तः; तज्जनितविशेषस्यार्थान्तरत्वप्रसक्तेः यतो न तस्मिन्निष्पन्ने पश्चान्निष्पद्यमानो भिन्नहेतुको वा तत्स्वभावो युक्तः "अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च" [ ] ततश्चेन्न भेदो न क्वचिद्प्ययं भवेत् अन्यनिमित्ताभावात्। प्रतिभासभेदादिति, ननु प्रतिभासभेदोऽपीतरेतरप्रतिभासाभावरूपतया विरुद्धधर्माध्यासरूपता(तां) नातिवर्तते, भेदे वा(चा)तिशयस्य तदवस्थ एवासौ भाव ३०

१–रादेस्तु स्य का–आ० ।–रादेस्तु स्य का–हा० ।–रादे स्य का–वा० बा० ।–रादेस्तु म–वि० ।
२–च न न्या–वा० बा० । ३–था ते वा० बा० । ४–मर्हति वा० बा० आ० । ५–कार्यस्य भा–आ० हा० वि० ।
६ दृष्टा का–हा० । ७–तस्या के–वा० बा० । ८–म्भतस्त–वा० बा० । ९–याद् भवनकार्यस्य भावि प्रकार–वा० बा० । १०–त्र यत्र तु प्रका–वा० बा० भा० मा० । ११–लब्धि व्यव–वा० बा० ।–लब्धि विच–वि० ।–लब्धि द्यमान–आ० हा० । १२–स्थापनं स्ततत्रं प्रकारान्तरत्वं प्रकारान्तरश्च संभवश्च ततो वा० बा० ।–स्थापनं प्रकारेतरव्यवस्थापनं प्रकारान्तरश्च ततो भा० मा० । १३–थारू–आ० वा० बा० विना । १४–लब्धि दि था० हा० वि० । १५ तस्मा धनतरं प्रकारान्तरकरा संभ–वा० बा० ।
१६–वयोरिवेति आ० । १७–धानश्च च वा० बा० । १८ कार्याक्र–वा० ।बा० । १९ प्रमेयक० पृ० ४ प्र० पं० ४ । २०–था व्युप–वा० बा० । २१ इव क्षेप–वा० बा० । २२–न्तरप्र–वा० बा० । २३ न भाव इति पश्चान्निष्पद्यमानो वा० बा० । २४–भावात् प्रतिभासभेदोपीतरेतर–वा० बा० । २५ नाति प्रवर्त–वा० बा० । २६ "भेदे सम्बन्धातिशयस्तदवस्थमेव अकारकत्वमेवेषा पूर्वावस्थायामिव पश्चादपि अनुषज्यते"—प्रमेयक० पृ० ४ प्र० पं० ५ । २७–शयतदवस्था एवा–वा० बा० ।

इति पश्चादप्यकारकः पूर्वावस्थायामिति(रिव)। तस्मादेवातिशया(यात्) कार्यस्योत्पत्तेस्तत्र भावे कारकव्यपदेशो विकल्परचित एव भवेत्।

अथ द्वितीयो विकल्पोऽभ्युपगमविषयः, सोऽपि न युक्तः; यतो न नित्यानामेककार्ये प्रतिनियमलक्षणं सहकारित्वमस्माभिरपह्नूयते किन्तु अक्षणिकत्वे प्राक् पश्चात् पृथग्भावसम्भवात्
५ कार्यस्य तथा क्रियाप्रसङ्गेन 'सहैव कुर्वन्ति' इति सहकारित्वनियमो न युक्तिसङ्गतो भवेत् यतो न ति (ते) साहित्येऽपि पररूपेणैव कार्यकारिणः स्वयमकारकाणामपरयोगेऽपि तत्कारित्वासम्भवात् सम्भवे वा परमार्थतः कार्यनिर्वर्त्तको भवेत्, स्वात्मनि तु कारकत्वव्यपदेशो विकल्पनिर्मित एव भवेत्। एवं च नार्स्यानुपकारिणो भावं कार्यमपेक्षेतेति तद्विकलेभ्य एव सहकारिभ्यस्तत् समुत्पद्येत अथवा तेभ्योऽपि न भवेत् स्वयं तेषामप्यकारकत्वात् पररूपेणैव कर्तृत्वाभ्युपग-
१० मात्। अतः सर्वेषां स्वयमपर्कर्तृकत्वा(मकर्तृत्वात्) पररूपेणाप्यकर्तृत्वात् सर्वथा कर्तृत्वोच्छेदतो न कुतश्चित् किञ्चिदुत्पद्येत। तस्मात् स्वरूपेणैव कार्यस्वभावाः कर्त्तार इति न कदाचित् तत्क्रियाविरतिरिति कुत एकार्थक्रियाप्रतिनियमस्वरूपमक्षणिकानां सहकारित्वम्? सामग्रीजन्यस्वभावतया कार्यस्य तस्याश्चापरापरप्रत्यययोगरूपतयाऽयोग(याऽयोगे) प्रत्येकं तत्क्रियास्वभावत्वेऽप्यनुत्पत्तिरिति चेत्, व्याहतमेतत्; यतोऽयमेकोऽपि क्रमभाविकार्योत्पादने
१५ समर्थः ततः कथमेषां भिन्नकालापरापरप्रत्यययोगलक्षणानेकसामग्रीजन्यस्वभावता? एकेनापि तेन तज्जननसामर्थ्य(र्थ्यं) बिभ्राणेन तानि जनयतन्मानि(जनयितव्यानि) न ह्यन्यथा केवलस्य तज्जननस्वभावता सिद्ध्यति, तस्याः प्रा(स्याः कार्यप्रा)दुर्भावानुमीयमानस्वरूपत्वात् कार्याणि च कारणान्तराण्यपेक्षमाणानि कथमयमुपेक्षते? अनादृत्य तानि हठादेव जनयेत् कार्याणि। यो हि यन्न जनयति नासौ तज्जननस्वभावः, न चायं केवलः कदाचिदप्युत्तरोत्तरकालभावीनि प्रत्ययान्तरापेक्षाणि कार्याणि
२० जनयतीति तत्स्व(ति न तत्स्व)भावो भवेत्। अतत्स्वभावश्च प्रत्ययानन्त(यान्त)रसन्निधानेऽप्यत्यक्तरूपो नैव जनयेत्। स च केवलोऽपि तज्जननस्वभाव इति ततस्तेषामुत्पत्तिं ब्रु(ब्र)वीषि कार्याणि च सामग्रीजन्यस्वरूपतया सामग्र्यन्तराणि अपेक्षन्त इति ततः केवलादनुत्पत्तिं वदसि एते चोत्पत्ति–अनुत्पत्ती तज्जन्यत्वातज्जन्य(न्यत्व)स्वभावते विरुद्धे कथमेकत्र स्याताम्? अथ कारणै(णैः) हेत्वन्तरापेक्षकार्यजननस्वभावोऽयमुत्पादित इति केवलो न जनयति, न च सहकारि सहिताऽस-

---

१ "विभिन्नातिशयात् कार्योत्पत्तौ चात्र कारकव्यपदेशोऽपि कल्पनाशिल्पिकल्पित एव"—प्रमेयक० पृ० ४ प्र० पं० ६। २–कार्यं आ०। ३ "एकार्थकारित्वेन त्वेषां सहकारित्वं नास्माभिः प्रतिक्षिप्यते किन्तु अपरिणामित्वे तेषां प्राक् पश्चात् पृथग्भावावस्थायामपि कार्यकारित्वप्रसक्ततः सहैव कुर्वन्तीति नियमो न घटते"—प्रमेयक० पृ० ४ प्र० पं० ७। ४–न्ति स–वा० बा०। ५ "न खलु साहित्येऽपि भावाः पररूपेण कार्यकारिणः स्वयमकारकाणामन्यसन्निधानेऽपि तत्कारित्वासंभवात्"—प्रमेयक० पृ० ४ प्र० पं० ८। ६ परमार्थः आ०। "संभवे वा पर एव परमार्थतः कार्यकारको भवेत्"—प्रमेयक० पृ० ४ प्र० पं० ९। ७ एव च भा० मा०। ८–स्यानुपकारिणा था० हा० वि०।–स्यानुसारिणो वा० बा०। ९ भावकार्य–वा० बा० हा०। "स्वात्मनि तु कारकव्यपदेशो विकल्पकल्पितो भवेत् तथा च अन्यस्यानुपकारिणो भावमनपेक्ष्यैव कार्यं तद्विकलेभ्य एव सहकारिभ्यः समुत्पद्येत"—प्रमेयक० पृ० ४ प्र० प० ९। १०–कर्तृपर–वा० बा० विना। "अतः सर्वेषां स्वयमकारकत्वे पररूपेणापि अकारकत्वात् तद्वार्तोच्छेदतो न कुतश्चित् किञ्चिद् उत्पद्येत"—प्रमेयक० पृ० ४ प्र० पं० १०। ११–रूपेणेवा का–हा० वि०।–रूपेणैवा का–आ०। १२–दाचि त क्रि–वा० बा०। १३–या योगारूपतया योगरू तत्क्रिया–वा० बा०। "तस्याश्च अपरापरप्रत्यययोगरूपत्वात् प्रत्येकं नित्यानां तत्क्रियास्वभावत्वेऽप्यनुत्पत्तिस्तेषामिति—"प्रमेयक० पृ० ४ प्र० पं० १२। १४ यतो यामेको–वा० बा०। १५–मर्थ ततः वा० बा० विना। १६–णानेका सा–वा० बा०। १७ तानि जनयतनि न ह्य–वा० बा० विना। "एकेनापि हि तेन तज्जननसामर्थ्यं बिभ्राणेन तानि उत्पादयितव्यानि"—प्रमेयक० पृ० ४ प्र० पं० १३। १८ "तस्याः कार्यप्रादुर्भावानुमीयमानस्वरूपत्वात्"—प्रमेयक० पृ० ४ प्र० पं० १४। १९–नयेत आ०। २०–भावीति वा० बा० विना। २१–यन्तीति वा० बा०। २२ भवेत् तत्–वा० बा०। २३–यान्नतर–वा० बा०।–यांनतर–हा०। २४–प्यभ्यक्त–भा० मा०। २५–त्पत्ति ब्रवीषि वा० बा०।–त्पत्ति भ्रवीषि था० हा० वि०। २६ तज्जन्यस्वभावत्वे विरुद्धे वा० बा० विना। २७–रणे हे–वा० बा० विना। २८–कारिसहितावस्थयोरस्य स्वभावप्रत्ययान्तरापेक्षस्वभावज-
॥ सर्वदा बा० बा०।

हितावस्थयोरस्य स्वभावभेदः प्रत्ययान्तरापेक्षस्य कार्यजननस्वभावतायाः सर्वदा भावात्, असार-मेतत्; यतः प्रत्ययान्तरसन्निधापि(धानेऽपि) स्वरूपेणैवास्य कार्यकारिता, तच्च प्रागप्यस्ति प्रत्यया-न्तरापेक्षायाश्च ततो लभ्यस्यात्मातिशयस्याभावतोऽयोगात् उपकारलक्षणत्वादपेक्षायाः अन्यथाऽ-तिप्रसक्तेः । तत्सन्निधानस्यासन्निधानतुल्यत्वाच्च केवल एव कार्यं किं न करोति? अकुर्वंश्च केवलः सहितावस्थायां च कुर्वन् कथं न भिन्नस्वभावो भवेत्? अपि च, यदि सहकार्यपेक्षा कार्यजननस्व- ५ भावता तस्य सर्वदा अस्ति तदा सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसक्तिः । अथ सहकारिसन्निधान एव तत्स्व-भावता कथं न स्वभावभेदा(दात्) वस्तुभेदं(दः) स्वभावस्यैव वस्तुत्वात्? तस्मात् सहितावस्थायाः स्वरूपेणोपकारकस्य प्रागपि तत्स्वभावत्वे कार्यक्रियाप्रसङ्गाद्याक्षणिकस्य क्रमेण कार्यक्रियासम्भव ति (इति) न क्रमयोगः । यौगपद्यमपि तस्याऽसङ्गतम् द्वितीयादिक्षणेषु तावत एव कार्यकलापस्योदय-प्रसङ्गात् हेतोस्तज्जननस्वभावस्याप्रच्युतेः । सन्निहितसकलकारणानां चा(चा)तुर्दयोऽयुक्तः प्रथ-१० मक्षणेऽपि तदभावापत्तेरिति क्रम-यौगपद्यायोगादक्षणिकानामर्था(र्थ)क्रियासामर्थ्यविरहलक्षण-मसत्त्वमायातमिति सत्त्वलक्षणः स्वभावहेतुः क्षणिकतायां बाधकप्रमाणबलान्निश्चिततादात्म्यो विशेषलक्षणभाक् कथं न प्रतीतः?

अथाक्षणिकानामिव क्षणक्षयिणामप्यर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणं सत्त्वमनुपपन्नमेव, क्रमायोगस्य तत्रापि तदवस्थत्वात् । अतो न क्षणिका अपि 'परैरं(र)नाधीयमानस्वरूपभेदाः सामर्थ्यक्रिया-१५ प्रक्रान्तप्रकारमुत्पादयितुं शक्ताः', न च प्रतिक्षणोदयं बिभ्राणाः परस्परतो विशेषमासादयन्ति भावभेदप्रसङ्गात् । तथाहि—असौ विशेषस्तेषां प्रागुत्पत्तेः, पश्चाद्वा? न तावत् प्राक् तेषामेव तदाऽसत्त्वात् । पश्चात् तत्स्वरूपस्याकार्यत्वात् तदुपहितानुपहितक्षणानामविवेकादिति न सहकारि-भिरुपकारः । ततो निर्विशेषाणां न क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वलक्षणं सत्त्वम् । तदुक्तं च—

"कः क्षोभेत वैदेशेवं यदि न स्यादहीकता ।   २०
अप्ता(ज्ञ)ता वा यतः सर्वं क्षणिकेष्वपि तत्समम्" ॥ [   ]

"विशेषहेतवस्तेषां प्रत्यया न कथञ्चन ।
नित्यानामिव युज्यन्ते क्षणानामविवेकता" ॥

"क्रमेण युगपच्चैव यतस्तेऽर्थक्रियाकृतः ।
न भवन्ति ततस्तेषां व्यर्थः क्षणिकताश्रमः" ॥ [   ] इति   २५

तदयं सत्ताहेतुरसाधारणानैकान्तिकः क्षणिकाऽक्षणिकयोरभावात्, प्रकारान्तराभावाच्च न ताभ्यां व्यतिरिच्यत इति संशयहेतुस्तयोरिति, असदेतत्; यतो नैवमुपकारः क्षणिकानामभ्युपगम्यते । *तथाहि—उपकारः समग्रकारणाधीनविशेषान्तरविशिष्टक्षणान्तरजननम्, तच्च कथमभिन्नकालेषु परस्परं क्षणिकेषु भावेषु भवेत् कार्य-कारणयोः परस्परकालपरिहारेणावस्थानां(नात्) ततः सामग्र्या एव जनकत्वादेकस्य जनकत्वाविरोधादव्यवधानदेशाः समग्र(?) एव प्रत्येकमितरेतर-३० सहकारिणः स्वं स्वं क्षणान्तरं विशिष्टमारभन्ते तदपि चोत्तरोत्तरं तथैव तथैवान्यविशिष्टं कारणभे-दाद् भेदसिद्धेः । यथा चक्षुरादयो बीजादयश्चातकि(श्चाऽकि)ञ्चित्करेभ्यः सन्निहितेभ्योऽपि न

१-क्षत्वास्व-हा० वि० । २-ताया स-आ० हा० वि० । ३-रसन्नेपि स्वरूपेणेवा-हा० वि० ।-रस-त्तपि स्वरूपेणेवा-आ० । रसन्नपि स्वरूपेणैवा-भा० मा० । "यत प्रत्ययान्तरसन्निधानेऽपि स्वरूपेणैवास्य कार्यकारिता"—प्रमेयक० पृ० ४ द्वि० पं० ३ । ४-याश्चा त-आ० । ५-धाति धानस्या-मा० । ६ स-का-आ० विना । ७-वभेस्तु भेदस्त्वभावस्यैवस्तुभेदस्त्वभावस्यैव वस्तुत्वात् तस्मात् वा० या० । ८-स्थाया स-वा० या० । ९-मयोगा यो-वा० वा० । १०-च्युतेऽस-वा० या० । ११-दयो यु-वा० वा० विना । १२-काना अपि परैरनार्थ्यविरह-वा० वा० । १३-सत्ताल-वा० वा० हा० । सत्वाल-वि० । १४ अथ क्ष-आ० विना । १५ परैरनर्थायमान-व० वा० विना । १६-कारित्वं ल-वा० वा० भां० मा० । -कारित्वा ल-हा० वि० । १७-दन्नेव वा० वा० भा० मां० हा० । १८-नामिद यु-आ० हा० वि० । १९ व्यतिरिक्तत-वा० वा० विना । २०-काराः आ० हा० वि० । २१-प्रम्राका-मा० । २२-न्तरं ज-आ० हा० वि० । २३-स्पर क्ष-भां० मां० हा० । २४-षु भवेत् वा० वा० विना । २५-वस्थां ततः वा० वा० । २६-नदेश्यः आ० हा० वि० । २७-रभते हा० वि० । २८-त्तर तथैवान्य-वि० । २९-श्चा त किञ्चि-भा० मां० आ० ।-श्चात् किञ्चि-वा० वा० ।

हेतुभ्य एव तथाविधाः समुत्पन्नाः स्वसन्निधिमात्रेव(मात्रेणैव) कार्यं निव(र्व)र्त्तयेति (यन्तीति) कुतः
क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गः ? न चानष्टात् कारणादुपजायमाने कार्ये(?)कारणभावसम्भवात् तद्भावश्चासतः
प्रागसामर्थ्यात् सामर्थ्यकाले च कार्यनिष्पत्तेस्तत्वतःस्याऽ(स्तत्र तस्याऽ)नुपयोगात् । तस्मात् पौर्वा-
पर्येणैव कार्यकारणभावः कारणसत्तानन्तरं च कार्यस्योत्पादने नष्टात् कारणात् कार्यप्रभा(प्रभवा)नु-
५ पङ्गः तथाभ्युपगमे च तृतीये क्षणे कार्योदयः स्यात् (??) यस्मात् प्रथमे क्षणे कार्योदयः स्यात् (??)
यस्मात् प्रथमे क्षणे कारणसत्ता द्वितीये तद्विनाशः ततः कार्योत्पत्तिः तदनन्तरं भाव इति । ततो
यथैव कारणविनाशस्तत्सत्तापूर्वको न नष्टाद् भवति तथा तत्समानकालं कार्यं कारं(रण)सत्तान-
न्तर्यान्नष्टादुपजायते । अथ कारणसत्तापूर्वकत्वाद् विनाशो हेतुमां(मान्) प्रसजति, न; नीरूपत्वात्
तस्य तत्र हेतुव्यापाराभावात् । तथाहि—स एव हेतुव्यापारेण क्रियते यस्य कृतस्य किञ्चिद् रूपमु-
१० पलभ्येत विनाशस्तु ना(नी)रूप इति न तस्य किञ्चित् कर्तव्यम् । दृष्टान्तत्वेन तु विनाशस्योपन्यासो
व्यवधायककालासम्भवप्रदर्शनार्थः ततो द्वितीये क्षण(णे) कारणं नष्टं कार्यं चोपजाय(त)मिति
कुतस्तयोः सहभावप्रसक्तिः ? तदुक्तम्—

"अनष्टाज्जायते कार्यं हेतुश्चान्येऽपि तत्क्षणम् ।
क्षणिकत्वात् स्वभावेन तेन नास्ति सहस्थितिः ॥" [ ] इति ।

१५ अत्र च अध्ययेना(अध्ययनाऽ)विद्धकर्णोद्द्योतकरादिभिर्यदुक्तम्—"यदि तुलान्तयोर्नामोन्ना-

---

१ एवं हा० वि० । २ समुत्पन्नः सुसविधिमात्रेव वा० बा० । ३-यती कुतः एव क्षण-वि० ।
४ कार्यं स्वकारणेनैककालत्वमनन्तर्यनियमा यदि हि कार्यकारणयोः सहितोत्पत्तिर्भवेत् तदास्यादयो यौगपद्यं च नास्ति सहभाविनोः कार्यकारणभावसंभवात् तदभात्तभावश्चासतः वा० बा० । ५-स्पत्ते सूत्रतः स्यानुप-वा० बा० । ६ कार्यकारणभावः कारणभावः कारणसत्ता-भां० मां० । ७-णसत्ता-नान्तरं वा० बा० । ८-त्पादे न-वा० बा० । ९-काल कार्यं वा० बा० मां० विना । १०-रसत्तान-आ० । -रस्तत्तान-हा० ।-रसत्तात्तत्त कार्या नष्टा-वा० बा० । ११-नाशो घेतु-वा० बा० । १२-स्य त्तत्र वा० बा० विना । १३-त्र हेतुव्यापार भावा-आ० ।-त्र हेतुव्यापाराभावा-भां० मां० । १४-तुव्या-वा० बा० विना । १५-प नुप-आ० वि० विना । १६-रूपं इ-वा० बा० । १७ नष्ट का-भां० मां० । १८-जायतति-वा० बा० विना । १९-नष्टा जाय-आ० ।-नष्टा ज्ञाय-वा० बा० । २०-श्चान्येति त-वा० बा० । २१-त्र च अध्ययत्तेनाविरुद्ध-आ० हा० वि० ।-त्र च अध्ययनेनाविरुद्ध-भां० मां० । "उद्द्योतकराऽध्ययनप्रभृतिभिः ।" "इति अध्ययनादिमतं निरस्तम् ॥"—सम्मति० द्वि० का० प्र० गा० टीका । "इत्यध्ययनाऽविद्धकर्णोद्द्योतकरादीनाम्"—शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १२२ प्र० पं० १ ।

"अत्र अविद्धकर्णोक्तानि विनाशस्य हेतुमत्त्वसाधने प्रमाणानि निर्दिदिक्षुराह—
ननु नैव विनाशोऽयं सत्ताकालेऽस्ति वस्तुनः । न पूर्वं न चिरात् पश्चाद् वस्तुनोऽनन्तरं त्वसौ ॥
एवं च हेतुमानेष युक्तो नियतकालतः । कादाचित्कत्वयोगो हि निरपेक्षे निराकृतः ॥
वस्त्वनन्तरभावाच्च हेतुमानेव युज्यते । अभूत्वा भावतश्चापि यथैवान्यक्षणो मतः" ॥
तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १३६ पं० ७ तथा तत्त्वसं० का० ३६७-३६९ पृ० १३६ ।

"उद्द्योतकरोक्तामपि युक्तिमाह—
अहेतुकत्वात् विनाशमसन् वन्ध्यासुतादिवत् । अथवाऽऽकाशवन्नित्यो न प्रकारान्तरं यतः ॥
अभावत्वे सर्वभावानां नित्यत्वं स्यादनाशतः । सर्वसंस्कारनाशित्वप्रत्ययश्चाऽनिमित्तकः ॥
नित्यत्वेऽपि सहस्थानं विनाशेनाऽविरोधतः । अजातस्य च नाशोक्तिर्नैव युक्त्यनुपातिनी" ॥
तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १३६ पं० २७ तथा तत्त्वसं० का० ३७०-३७२ पृ० १३६-१३७ ।

२२ तुलातयो-आ० विना । "इति सिद्धः कार्यकारणभावः क्षणिकेष्वपि नाशोत्पादयोरेककालत्वात् तुलान्तयोरुन्नमनाऽवनमनवदिति चेत् अथ मन्यसे कार्यकारणभावः क्षणिकेष्वपि संभवतीति कारणविनाशसमकालं कार्यभावात् यदा कारणं विनश्यति तदा कार्यमुत्पद्यते विनश्यच्च कारणमस्ति कारणविनाशेन अभिन्नकालः कार्योत्पादः यथा तुलान्तयोर्नामोन्नामाविति"—न्यायवा० पृ० ४०९ पं० १६-२१ ।

"न हि तयोर्मिथः कार्यकारणभावः प्रतिबन्धः समसमयत्वात्
नाशोत्पादौ समं यद्वद् नामोन्नामौ तुलान्तयोः ।"—अष्टसह० पृ० १९९ पं० १३ ।

"पूर्वक्षणो विनश्यंस्तु उत्तरक्षणमुत्पादयिष्यति तुलान्तयोर्नामोन्नामवत् इति चेत् एवं तर्हि क्षणयोः स्पष्टैवैककालता आश्रिता"—सूत्रकृ० टी० अ० १ उ० १ पृ० २७ प्र० पं० १३ ।

"नाशोत्पादौ समं यद्वत् नामोन्नामौ तुलान्तयोः"—प्रमेयक० पृ० १४६ प्र० पं० १४ ।

भवत् कार्योत्पत्तिकाल एव कारणविनाशस्तदा कार्यकारणभावो न भवेत् यतः [?? कारणस्य विनाशः कारणोत्पाद एव नाशः??] इति वचनात् एवं च कारणेन सह कार्यमुत्पन्नमिति प्राप्तम् । यदि च स एव नाशः प्रथमेऽपि क्षणे न सत्ता भावस्य स्यात् विनाशात् तदैव लोके च भावनिवृत्तिर्विनाशः प्रतीतः न भाव एव, सर्वकालं च विनाशसम्भवात् सर्वदा भावस्य सत्त्वं स्यात् । अथ कारणोत्पादात् कारणवि(?)नाशो भिन्नस्तदा कृतकत्वस्वभावत्वमनित्यत्वस्य न भवे(वेत्) ५ व्यतिरिक्ते च नाशे समुत्पन्ने न भावस्य निवृत्तिरिति कथं क्षणिकत्वम्" [ ] इति, तन्निरस्तम् । यतो द्विविधो विनाशः—सांव्यवहार्यः तात्त्विकश्च । भावनिवृत्तिरूपः प्रथमः, भावरूपश्च द्वितीयः । ततो(?)त्पन्नो भावः कार्यं करोति, कार्यकाले च कारणनिवृत्तिरूपो विनाशो लोकप्रतीत एव, नायं भावस्वभावं इष्यते, नापि कारणोत्पादादभिन्नो वा नीरूपत्वात् । भेदाभेदप्रतिषेध एव केवलस्य क्रियते । उक्तं च— १०

"भावे ह्येक(ष) विकल्पः स्याद्विधेव(र्व)स्तु(स्त्व)नुरोध(धतः) ।" [ ] इति न व्यतिरिक्ते नाशे जाते क्षणरूपस्य भावस्यानिवृत्तिरित्यपास्तम् । यतश्च द्वितीयक्षणोत्पत्तिकाल एव प्रथमक्षणनिवृत्तिः तेनैकक्षणस्थायी भावो 'विनाश'शब्देनोच्यते, अयं च भावरूपत्वात् साधनस्वभाव एव विनाशः कार्योत्पत्तिकाले च निवर्त्तत इति कार्यभिन्नकालभावी । न च सर्वकालमस्य सद्भावः भावस्यासत्त्वात्, यद् वा विनश्वरोऽयं भावः 'विनाशोऽस्य' इति द्वाभ्यां धर्मि-ध- १५ र्मवाचकाभ्यां अविनाशिव्यावृत्तस्यैवैकस्य भावस्य भेदान्तरप्रतिक्षेपाभ्यामभिधानाद् भाव एव नाश उच्यत इति । यत् पुनरिदमभिहितम् 'विधिरूपेण क्षणिकताऽत्र साधयितुं प्रस्तुतेति प्रतिषेधसाधिकाया अनुपलब्धेरिहानधिकार इति, तत् लिङ्गव्यापारविषयानभिज्ञा(ज्ञ)तास्यापनम्; यतो न लिङ्गं विधिमुखेन किञ्चित् प्रवर्त्तते सर्वस्य समारोपव्यवच्छेदसाधकत्वेनैव व्यापारादिति कार्य-स्वभावहेत्वोरपि नानुपलब्धिरूपताव्यतिक्रमः तेन परमार्थतः अनुपलब्धिरेवैको हेतुरिति २० सुगतसुताभ्युपगतः (मः) ।

---

१ एव एव नाशः वा० वा० । एव व नाशः वि० । २ प्राप्त यदि य भास एव नाशः आ० विना । ३-वृत्तिविना-आ० विना । ४ प्रतीतो भाव-वा० वा० विना । ५-स्य सत्वं भां० मा० ।-स्य सत्व स्या-आ० हा० वि० ।

६ "तदत्र कतमं नाशं परे पर्यनुयुञ्जते । किं क्षणस्थितिधर्माणं भावमेव तयोदितम् ॥
अथ भावस्वरूपस्य निवृत्तिं ध्वंससंज्ञिताम् । पूर्वपर्यु(र्य)नुयोगे हि नैव किञ्चिद् विरुध्यते ॥

द्विविधो हि विनाशो विधेः प्रतिषेधलक्षणः ×××× यद्वा भावस्वभावप्रच्युतिलक्षणप्रध्वंसापरनामा विनशनं विनाश इति"—तत्त्वसं० का० ३७३-३७४ तथा तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १३७ पं० २२ ।

"अयं भावः-द्विविधो ह्यस्माकं विनाशः सांव्यवहार्यः तात्त्विकश्च । आद्यो भावनिवृत्तिरूपः । द्वितीयश्च भावरूपः । तत्र कार्यकाले कारणनिवृत्तिरूपे आद्यमेव नाशमवलम्ब्यते । वस्तुव्यवस्थापकत्वाय एव । एतेन 'कार्योत्पत्तिकाल एव कारणविनाशाभ्युपगमे कारणोत्पादरूपत्वात् तस्य सहभावेन कार्यकारणभावव्यवस्थोत्सीदेत् कारणोत्पादात् कारणविनाशस्य भिन्नत्वाभ्युपगमे च कृतकत्वस्वभावत्वमनित्यत्वस्य न भवेत्, व्यतिरिक्ते च नाशे समुत्पन्ने न भावस्य निवृत्तिः इति कथं क्षणिकत्वम्"—शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १२१ द्वि० पं० ९-पृ० १२२ प्र० पं० १ । ७ तात्त्विक एव-वा० वा० विना । ८-थम भा-वा० वा० विना । ९ भावः भावरूप इति ततोत्पन्नो भावः वा० वा० । १०-वस्वभाव इ-वा० वा० । ११ भावः हो-वा० वा० । श्लोकोऽयं धर्मकीर्तिसूरेर्ज्ञायते । तथाहि—

"एतेनैतत् प्रतिक्षिप्तं यदुक्तं न्यायमानिना—न तत्र किञ्चिद् भवति न भवत्येव केवलम्" ॥ ३२ ॥
"भावे ह्येष विकल्पः स्यात् विधेर्वस्त्वनुरोधतः । न भावो भवतीत्युक्तमभावो भवतीत्यपि" ॥ ३३ ॥
-शास्त्रवा० स्त० ४ पृ० १२७ ।

"न्यायमानिना तर्कावलिप्तेन धर्मकीर्तिना"—शास्त्रवा०स्याद्वादक० पृ० १२७ द्वि० पं० ५ ।

"न तस्य किञ्चिद् भवति न भवत्येव केवलम्"—आप्तमीमां० प० ३ श्लो० ५२ अष्टश० पृ० २८ पं० ३० । अष्टस० पृ० २०० पं० १३ । १२ जायतेऽक्ष-वा० वा० । १३ द्वितीयक्षणोत्पत्तिस्तेनैकक्षणनिवृत्तिऽभावोविनाशशब्देनोच्येत वा० वा० । १४ च निवर्त्ते-वा० वा० । १५ कार्यं भि-वा० वा० । १६ भाव वि-आ० । १७-त्तस्य चैकस्य वा० वा० विना । १८ पृ० ३१८ पं० २० । १९ न लिङ्ग विधिमुखेन भां० मां० आ० । न लिङ्ग वै मुख्येन वा० वा० ।

यदप्यभ्यधायि-'प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षावसितं भावानामक्षणिकत्वमिति क्षणध्वंसितापरिकल्पनमयुक्तम्' इति, तदप्यसङ्गतम्; तस्याः प्रामाण्यासिद्धेः। तथाहि-प्रमाणस्येदं लक्षणं परेणाभ्यधायि-'तत्राऽपूर्वार्थविज्ञानम्' इत्यादि। न च बाधकवर्जितत्वं अस्याः संभवति प्राक्प्रतिपादितानुमानबाध्यत्वात्। अथ तया बाधितत्वादनुमानस्य कथं बाधकत्वम्? असदेतत्; अनिश्चितप्रामाण्याया
५ अस्या बाधकत्वानुपपत्तेः। न चेतरेतराश्रयत्वं दोषः यतो नानुमानस्य प्रामाण्यं प्रत्यभिज्ञाऽप्रामाण्याश्रितम् अपि तु स्वसाध्यप्रतिवन्ध्या; स च (वन्धात्; स च) विपर्यये बाधकप्रमाणबलान्निश्चित इति कथमितरेतराश्रयत्वलक्षणो दोषः? न चानुमानैर्विरोधमनुभवन्त्यपि प्रत्यभिज्ञा प्रमाणम् अन्यथा आकारसाम्यदेवत्व(म्यादेकत्व)मधिगच्छन्ती नीलेतरकुसुमसर्पादिवस्तुनः प्रमाणं भवेत् यतो नात्रापि कुसुमादिकार्यदर्शनमनुमीयमानो भेद(?)प्रत्यक्षप्रतीततामनुभवति। न चानुमानस्यात्र
१० बाधकत्वं न इतरत्र प्रमाणावगतसाध्यप्रतिविम्ब(वन्ध)पक्षधर्मतात्मकतल्लक्षणसंज्ञिनोऽनुमानस्य प्रत्यभिज्ञा अन्यद्वा यत्प्र(तत्प्र)माणान्तरं बाधकं संभवति विरोधात्। तथाहि-स्वसाध्यप्रतिवन्धे हि सति हेतुः स्वसाध्ये सत्येव तस्मिन् धर्मिणि भवति, बाधा तु तदभावनिमित्तैव कथं न विरोधः? प्रत्यक्षादिकं च बाधकं तत्र धर्मिणि साध्याभावमवबोधयति स्वसाध्याविनाभूतश्च हेतुस्तत्र प्रवर्त्तमानः स्वसाध्यसद्भावमिति भावानामस्वास्थ्यं भवेत्। अनुमानाप्रामाण्यप्रसङ्गश्चैवं स्यात् तुल्यलक्षणे
१५ ह्येकत्र बाधकसद्भावो दृष्ट इति। अदृष्टबाधकेऽपि तदाशङ्का न निवर्त्तते(तेऽ)विशेषात्। नहि दृष्टप्रतियोगिनः प्रागितरेण कश्चिद् विशेषो लक्ष्यते यतो न संभवद्बाधकानामपि सर्वदा तदुपलब्धिः सातिशयप्रज्ञानां तु कदाचिद् बाधकोपलब्धिर्भविष्यतीति तन्निश्चयो(?)बाधकाभावाऽभावयोरित्यनिश्चिततल्लक्षणत्वादनुमानं न किञ्चिदपि प्रमाणं स्यात्। कुतश्चाध्यक्षज्ञानमप्रमाणम्? नानुमानतः नहि प्रत्यक्षाऽनुमानयोः प्रमाणरूपतायां विशेषः-प्रत्यक्षेऽप्यर्थाव्यभिचारा(रः) प्रामाण्यनिवन्धनम् स
२० च तस्मादात्मलाभः[?? अन्यतो भवतोऽभवतो वा भवतः तदा व्यभिचारनियमाभावात् स पा(चा)र्थात्मलाभः साक्षाद् ??]व्यवधानं तथाऽनुमानेऽपि तुल्यः। यदि प्रत्यक्षबाधान(म)न्तरेण प्रत्यभिज्ञानस्याप्रामाण्यं नाभ्युपगम्यते तदा वक्तव्यं किमिति शालिबीजमेव शाल्यङ्कुरजनकं (कं न) कोद्रवबीजम्? अथ शालिबीजभावे तदङ्कुरभावमवगच्छताऽध्यक्षेण तस्यैव तज्जनकत्वव्यवस्थापनान्न कोद्रवबीजस्य कोद्रवबीजभावे[?? शाल्यङ्कुरविविक्ततद्देशप्रतिभासवतोऽध्यक्षेण तस्याजनकत्वव्यवस्थाप-
२५ नाच्च। नन्वेवमन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्कालकार्यमवगच्छद् अध्यक्षं कस्यचिद् वस्तुनः तदा तज्जननस्वभावतानुत्तरकालभाविनस्तत्कार्यस्य तदानीं तस्याजननस्वभावतां च किमिति न प्रत्येति तथा चोत्तरकाल(लभा)विकार्यजननसमये प्रत्यभिज्ञाज्ञानं यदा 'स एवायम्' इति प्रत्येति तदा कथं प्रत्यक्षेण बाध्यते? यतः 'अयम्' इत्युल्लेखवत् पुरोवस्थितवर्त्त(तत्का)लकार्यजनकं वस्तुनः परामृशति 'स एव' इत्युल्लेखवच्च प्राक्तनम् तदजनकश्च भावस्तस्य संस्पृशति तत् कथं पूर्वापरकाल-
३० भावि कार्यजनकस्वभावव्यवस्थापकाऽक्षतप्रत्ययक्रान्ता बाधां प्रत्यभिज्ञाज्ञानमनुभवति? तथा, 'स एवायम्' यः प्रागेव तत्कालकार्याजनकस्वभावोऽध्यक्षेण व्यवस्थापितः स यदि न तर्ह्ययं यो जनकस्वभावतयेदानीं परामृष्टः अथायं जनकस्वभावो विरुद्धरूपभावविभ्रतां द्विचन्द्रादिप्रत्ययानामिव तत्त्वव्यवस्थापकत्वाऽसंभवादिति स्वप्रतीत्यावबाध्यैतेयप्रत्यभिज्ञा अतो 'बाधावर्जि(र्जित)त्वम्' अप्यस्या

---

१ पृ० ३१८ पं० २३। २ तत्र पू-बा० बा० विना। पृ० ३१८ पं० २५। ३-ज्ञाऽप्रमा-बा० बा०। -ज्ञाःप्रामा-आ०।-ज्ञाप्रामा-हा० वि०। ४ तु थस्वसाध्यप्रतिवन्ध्यस्य विप-आ०। ५-प्रतिवन्ध्यस्य च विप-हा० वि०। ६-पर्यय बा-बा० बा०। ७-नविरोधाम-बा० बा० विना। ८-भवत्यपि बा० बा०। ९-कारं सा-बा० बा०। १०-तरं कु-बा० बा०। ११-माणं चे-बा० बा० विना। १२-माना मे-बा० बा०। १३-णसंज्ञिनो-बा० बा०।-णसंज्ञितो मा०। १४-न्यद्वा त् प्र-आ० हा० वि० विना। १५-थाहि स्वस्वसाध्य-भां० मां०। १६-स्वास्थ्यं प्र-आ० हा० वि०। १७-लब्धः सा-बा० बा० विना। १८-ति न निश्चियो बा० बा०। १९ तदव्य-बा० बा० भां० मां०। २०-धानं नथानु-आ० हा० वि० विना। २१ तत्कार्य-भां० मां०। २२-स्तुन त-बा० बा०। २३-त्कालाका-बा० बा०। २४-नकव-भां० हा० वि०। २५ प्राग्मनं त-बा० बा०। २६-कश्च भावं तस्य बा० बा०।-कश्च भावस्तस्य भां० मां०। २७-त्यभिज्ञाननानु-बा० बा०। २८ अथेयं बा० बा० विना। २९-भावो न तर्हि स एवेत्यध्यवसीयमानोऽजनकस्वभावो बा०। ३०-पमवि-बा० बा०। ३१-प्यते प्र-बा० बा०।

असङ्गतम् ??]यथा शुक्तिकायां रजताध्यवसायो दुष्टकारणा(ण)प्रभवत्वेन(नाऽ)प्रमाणं तथा प्रतिक्षणविशरारुषु सदृशापरोत्पत्त्यादिविप्रलम्भहेतोरुपजायमानं प्रत्यभिज्ञानं द(दु)ष्टकारणारब्धत्वादेव(वाऽ)प्रमाणम्। न च प्रत्यभिज्ञानमेव स्वविषयस्य तत्त्वं व्यवस्थापय(यद्)दुष्टकारणारब्ध(ब्धत्व)मात्मनो निष्टाप(निश्चाय)यति, इतरेतराश्रयत्वप्रसक्तेः—अदुष्टकारणारब्धत्वात् स्वविषयव्यवस्थापकत्वम् ततश्चादुष्टकारणारब्धत्वमिति कृत्वा। लूनपुनरुदितकेशादिषु चैकत्वाभावेऽप्यस्य दर्शनात् ५
कुतः स्वविषयव्यवस्थापकत्वम्? न चा(च) केशादिप्रत्यभिज्ञानस्यान्यत्वान्नायं दोषः अन्यत्वा(त्रा)पि नियामक(?)मन्तरेण व्यभिचारशङ्काऽनिवृत्तेः। न च यो जनित्वा प्रध्वंसते 'नैतदेवम्' इति स मिथ्याप्रत्ययः घटोपलादिप्रत्यभिज्ञानं तु देशान्तरादौ न विपर्येतीत्यवितथम् अनुमानस्यानापि विपर्ययव्यवस्थापकस्य प्रतिपादितत्वात्। तत्र अदुष्टकारणारब्धत्वमप्यत्र संभवति। अर्थक्रियार्थीहिं(र्थी हि)
सर्वः प्रमाणमन्वेषते न व्यसनितयेत्यर्थक्रियासाधनविषयं प्रमाणमित्यभ्युपगन्तव्यम्। न च प्रत्य- १०
भिज्ञानविषयेण स्थैर्यमनुभवताऽर्थक्रिया काचित् साध्यत इति तैमिरिकज्ञानवदपूर्वमर्थक्रिया(?)
अक्षमं सामान्याद्यधिगच्छदपि न प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणाभावान्न प्रत्यभिज्ञाप्रमाणा(?)मात्मध्यक्षं सता नित्येनार्थेन प्रत्यभिज्ञानजनकाभिमतेनेन्द्रियाणां संप्रयोगासिद्धेस्तद्व्यवस्थापकप्रमाणाभावा(वात्)। भावे वा तत एव तत्सिद्धेः व्यर्था प्रत्यभिज्ञा। न च सत्योदकाध्यक्षेष्वप्येतत् समानम्।
अर्थक्रियाज्ञानात् तेषां तथाभावसिद्धेः। न च बहिरर्थाभावेऽप्यर्थक्रियाज्ञानस्य भावात् तत्तथात्व- १५
सिद्धिः, शून्या(न्य)वाद(दा)पत्तिप्रसङ्गात् तद्व्यतिरेकेणापरस्यार्थव्यवस्थापकस्याभावात्। न चैकत्वे संवादकं प्रमाणं किञ्चित् सिद्धमिति न प्रत्यक्षताऽपि प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्येति नातः स्थैर्याधिगतिः।

किञ्च, एकत्वाध्यवसायिन्यपि क्रमोदयमनुभवन्ती प्रत्यभिज्ञा स्वविषयस्य क्रमं सूचयति, नह्यभेदे स्वालम्बनस्य क्रमवत्प्रत्यभिज्ञोदयः संभवति, ततो येन स्वभावेनाद्यं प्रत्यभिज्ञानं तदालम्बनत्वाभिमतः पदार्थो जनयति तेनैव यद्युत्तरकालभावीनि तदाद्यज्ञानकाल एव सर्वेषामुदयप्रसक्तिः सन्नि- २०
हितकारणत्वात् आद्यज्ञानवत्, अनुदये वा तस्य तानि प्रत्ययजनकत्वमेव। नहि यदा यद् यत्र जनयति तदा तत्र जननस्वभावम् पश्चादपि तत् तत्स्वभावमेव नैव तदापि जनयेत् अथान्येन तदा स्वभावे(व)भेदात् कथं न प्रत्यभिज्ञाविषयस्य भेदा(दः) स्वभावभेदनिबन्धनत्वादर्थभेदस्य? अपि च, सकलसहकारिसन्निधाने येन स्वभावेन तदालम्बनं प्रत्यभिज्ञाज्ञानं जनयति स्व(स) स्वभावस्तस्य
तदैवोत्तर(वोत) प्रागप्रा(गप्या)सीत्? यदि तदैव कथं पूर्वस्मादभेदस्तस्य प्रागसतः तदैव सत्त्वाभ्युप- २५
गमात्? अथ अवस्थानां भेदः अवस्थातुश्चाभेदः, न; अवस्थातुरपि तदवस्थाभाविनो जनकाजनकस्वरूपतया भेदस्य न्या(न्या)यप्राप्तत्वात्। न चावस्थावा(वान् अ)वस्थाव्यतिरिक्तोऽस्ति उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वे तस्यानुपलम्भेनासत्त्वात्, अनुपलभ्यस्वभावत्वे च तस्य न प्रत्यभिज्ञाविषयत्वमिति

१-कारणत्वमात्म-वा० बा०। २-प्रसक्तेरदुष्टकारणारब्धत्वमात्मनो निश्चयतीतरेतराश्रयत्वप्रसक्तेरदुष्टकारणारब्धत्वात् स्वविषयव्यवस्थापकत्वम् वा० बा०। ३-एकं तत-वा० बा०। ४-रब्धमिति हा० वि०। ५ न वा के-भा० मा० विना। ६-न्यत्वो पि आ० वि०। ७-शङ्काऽ-आ० विना। ८ च या ज-भा० मा०।च जो ज-वा० बा०। ९-सतै नै-भा० मा०। १०-ज्ञा तु दे-वा० बा० विना। ११-तत्वात्यत्र आ०।-तत्वाव्यत्र हा० वि०। १२-यार्थी तर्हि वा० बा०। १३ सर्वे प्र-आ०। १४-या क्रिया सा-वा० बा०। १५-णमित्युप-वा० बा०। १६-पयण वा० बा०। १७ न प्रमाणलक्षणा-भा० मा०। १८-ज्ञाप्रमाणमात्मध्यक्षं भा० मा०।-ज्ञाप्रमाणमानात्यध्यक्षं वा० बा०। १९-ध्यक्षं साता आ०। २०-भावे वा भा० मा०। २१-वादाप्यत्ति-भा० मा०।-वादाप्यपत्ति-हा० वि०।-वाप्यत्ति-ह्रा० बा०। २२ न प्रत्यभिज्ञा-भा० मा०। २३-नस्येति मात स्थै-वा० बा० विना। २४-गति वा० बा० विना। २५-त्वावासातात्यपि वा० बा० २६ तवालम्ब-वा० बा०। २७-दार्था ज-आ० विना।
२८-भावीति त-मा०। २९-दाद्यतनज्ञान-वा० बा० विना। ३०-दयो वा वा० बा० विना। अत्र 'अनुदये वा तस्य न प्रत्ययजनकत्वमेव' इति पाठः स्यात्। ३१-त्ययः ज-आ०। ३२ यदाद्यं न जस-वा० बा० विना। ३३ जनयति स्वभावं पश्चा-वा० बा०। ३४-व प- वा० बा० मा० विना। ३५-भाव नै-आ०। ३६ स्वभेदात् वा० बा०। ३७-स्य भेदा नियन्धत्वा-वा० बा०। ३८ तदेवो-वा० बा० विना। ३९ सत्त्वा-आ०। ४०-भाविनो जनकस्य-वा० बा०। ४१ नायं प्रा-वा० बा०। ४२ न चावस्थाव्यति-वा० बा०। ४३-व्यतिरिक्ताऽ-वा० बा०।

नामेदसिद्धिः। सहकारिप्रत्ययोपजनितस्य वा(चा)तिशयस्यालम्बनाद् (नाद् व्यतिरेके) व्यतिरेकपक्ष-भावी दोषो दुर्निवार इत्युक्तं प्राक्। अथ प्रागपि स स्वभाव आसीत् तदोत्तरकालभावीनि प्रत्य-भिज्ञाना(भिज्ञा)कार्याणि प्रागेवोदत्तवति(दधन्ति) स्युरिति क्रमवता प्रत्यभिज्ञाज्ञानेन स्वसंवेदनेनो-पलक्षितेनाभिन्नत्वेनोपलक्षितस्यापि व्या(बाह्या)लम्बनस्य क्रमः प्रदर्शित एव। अथ दर्शनाविशेषेऽपि ५ प्रत्यभिज्ञाकार्यक्रमानुभवः किमिति सत्यत्वेन व्यवस्थाप्यते न पुनरभिन्नतदालम्बनानुभवत(भवः) उच्यते, क्रमसंवेदने बाधकाभावादितरत्र तद्विपर्ययात्। यदि ह्यसतो ज्ञानक्रमस्य स्वसंवित्या(त्त्या) विषयीकरणं भवेत् तदा तदभावे स्वसंवित्तेरपि तद्व्यतिरिक्ताया(याः) तत्प्रभावान्न केनचित् कस्यापि विषयीकरणं भवेदिति तत्क्रमानुभवः सत्यः बाह्यालम्बनाभेदानुभवस्तु लूनपुनर्जातकेशा-दिष्विव बाधितत्वादसत्यः। यथा चानुसन्धानप्रत्यया बहिरेकत्वाद्यालम्बनाभावेऽप्यान्तरमेव(मेका)- १० कारं बहिर्वद् अवभासमानाः प्रवर्त्तन्ते तथाऽन्यत्र प्रतिपादितम्।

यत् पुनः परैरुच्यते—आलम्बनैकत्वाध्यवसायि प्रत्यभिज्ञाकार्यक्रमदर्शनं सहकारिप्रत्ययैरनाधेया-तिशयतामालम्बनस्य बाधनो(धते?) कार्यस्यानुत्पादयौगपद्याभावाद्य पुनरभेदम् भेदावभासिनोऽनुभ-वस्याभावादिति, तदप्यसङ्गतमेव; यतो यद्यालम्बनस्याभेदो न बाध्यते तर्हि सहकारिसन्निधावप्य-प्रतीयमानातिशयानां वज्रोपलादीनां अनाधेयातिशयताऽपि कथं बाध्येत? अथ कार्यानुत्पाद- १५ यौगपद्याभावान्ना(वात् सा) बाध्यते, नन्वेवमनुपलभ्यमानोऽपि भेदस्तस्यामवस्थायां अतिशयवत् किं नाभ्युपगम्यते? यतोऽनतिशयानुभवस्याप्यनुमानत एवाऽप्रामाण्यं परोऽभ्युपगतवान् अन्यथा भेदानुभवमनादृत्य कथमतः सातिशयत्वं तस्यामवस्थायामभिमन्येत? तथा, यद्यालम्बने भेदोऽप्यङ्गी-क्रियते तदा को दोषो विशेषाभावादिति क्रमेत(व)प्रत्यभिज्ञालक्षणकार्यदर्शनात् तदालम्बनस्यापि क्रमः सिद्धः। तदुक्तम्—

२० "नाक्रमात् क्रमिणो भावो नाप्यपेक्षा विशेषिणः।
क्रमाद् भवन्ती धीक्षे(र्क्र)यात् क्रमं सत्या(मं तस्या)ऽपि सत्स(सेत्स्य)ति"[ ]इति।

तदेवं न बहिरवस्थितेऽर्थसम्प्रयोगेणेन्द्रियेण जन्यते प्रत्यभिज्ञा तदा(द)भावान्न प्रत्यक्षं(क्षं?) नापि प्रमाणमिति स्थितम्। तथा च 'नहि स्मरणतो यत्' इत्यादि वचनं सिद्धसाधनमेव, यतो यदेवंभूतं तद् भव(वे)त् प्रत्यक्षम् नत्वेवं प्रत्यभिज्ञानमिति का नः क्षतिः? यतः पूर्वानुभूतधर्मा- २५ रोपणाद् विना 'श (स) एवायम्' इति ज्ञानं नोपजायते तच्चाक्षजे प्रत्ययेऽसंभवि।

यदप्युक्तम् 'देशादिभिन्नं सामान्याद्यालम्बनम्' इति, तदप्यसङ्गतम्; सामान्यादेरभिन्नस्य तद्विषयस्याभावात् भावेऽप्यनेकप्रमाणगोचरत्वेन तत्र प्रवर्त्तमानस्य प्रत्यभिज्ञानस्याऽनधिगतार्थाधि-गन्तृत्वायोगात् भिन्नाभिन्नालम्बनत्वेऽपि च प्रत्यभिज्ञानस्य न प्रामाण्यम् अपूर्वप्रमेयाभावात्। नहि देशादयस्तत्र प्रत्यभिज्ञानांते(ज्ञायन्ते) प्रागदर्शनात् तेषाम् पूर्वोपलब्धे तु सामान्यादौ न प्रमेयाधि- ३० क्यम्। न च पूर्वप्रसिद्धमेवाग्निसामान्यं देशादिविशिष्टतयानुमानस्याधिगच्छति(गच्छतः) प्रमेया-तिरेकानु(कात्) यथा न प्रामाण्यव्याहतिस्तथा प्रागुपलब्धमेव सामान्यादिदेशादितिविशिष्ट(दे-शादिविशिष्ट)तया प्रतिपद्यमानस्याप्यपूर्वप्रमेयसङ्गतेर्न प्रामाण्यक्षतिरिति वक्तव्यम्, द्वितीयप्रत्यक्षत

१–क्षभवो दो–आ०। २–सीत् तनोत्त–वा० बा०। ३ प्रतिज्ञा–वा० बा०। ४–लक्ष्यते–वा० बा०। ५–भतः वा० बा०। ६–स्तु नपुन–भां० मां० हा० वि०। ७–था वा–वा० बा०। ८–रत्रहिर्वेदनासमा-नाः वा० बा०। ९–स्य बाधतो का–वा० बा०।–स्य धाना का–आ०। १० कार्यस्य नु–वा० बा०। ११ बाधते आ०। १२–प्य धर्तियमा–वा० बा०। १३–वानापि भां० मां०। १४–शयेना–वा० बा० विना। १५–स्थाया नति–वा० बा०। १६ यतोऽयनेति–भा० मा०। १७–नुभाव–वा० बा० मां० विना। १८–थाऽमे–वा० बा०। १९–द्यालम्बल मे–वा० बा०। २०–वादित क्रम–वि० विना। २१–मतृम–वा० बा०। २२ भवं धी क्षेयात् क्रमं तस्यापि सत्ससतीति वा० बा० विना। २३–पि सेत्स–वि०। २४–कार्थ-सम–आ० वि० विना। २५–क्ष नापि वा० बा०। २६ च्च। ते द्दि वा० बा० विना। २७ पृ० ३१९ पं० ४। २८ भव प्र–वा० बा०। २९ नन्वेवं वा० बा० आ०। ३० संभवति वा० बा०। संभववि आ०। ३१ पृ० –३१९ पं० ११। ३२–शादिभिन्न' सा–वा० बा०। ३३–च्छतिः वा० बा०। ३४–माण्याव्या–मां० मां०। ... ०० बा०। ३६–शादिविविशि–वा० बा०। ३७–प्यक्षति–वा० बा० आ० विना।

एव तत्सिद्धिः प्रत्यभिज्ञात(न)स्यापूर्वप्रमेयायोगात् । तं व (न च)पश्चादुपलब्धपूर्वदृष्टार्थभावोऽधिकः प्रत्यक्षानवतः(नवगतः) प्रत्यभिज्ञानेन प्रतीयत इति अपूर्वप्रमेयसद्भावः, यतः पूर्वदृष्टार्थभावो न प्रत्यक्षद्वयगोचरादतिरिक्त इति कथं तस्य ततोऽसिद्धिः? व्यतिरेक(कि) वा कथं न मिथ्याप्रत्ययः? 'स एव' इत्यभेदोल्लेखवान् अनुसन्धानं व (च) 'योऽयमिदानीमुपलभ्यते प्रागप्येष मया दृष्टः' इति लोकस्य प्रवर्त्तते अतः 'स एवायम्' इति नहि पूर्वदृष्टतामस्मरतः 'स एवायम्' इत्यनुसन्धानसंभवः [?? तस्मात् स्मृतिरूपतां नातिक्रामति, प्रत्यभिज्ञानं च यथावस्तुस्वरूपग्राहिणाऽध्यक्षेण तद्व्यतिरिक्ते क्षणक्षयेऽधिगतेऽपि तत् निश्चितम् तंन्निश्चितत्वा नानुमितिः प्रमाणम्, तथा च स्वव्यतिरिक्ते एकत्वे दर्शनद्वयगृहीतमपि तंन्निश्चा न प्रमाणमभिज्ञायते, अनुमितिः साध्याविनाभूतलिङ्गसमुद्भवा दर्शनमात्रनिवन्धना न भवतीति प्रतिपन्नेऽप्यंशे समारोप्य व्यवच्छेदं कुर्वाणा प्रमाणम्; नन्वेवं प्रत्यभिज्ञा दर्शनवलात् तदुत्पत्तेः समारोपव्यवच्छेदविषयो चैवं स्यात् न वस्तुग्राहिणी तथा चाऽस्याः कुतः प्रत्यक्षता स्वतन्त्रायाः प्रामाण्यं चेति । यदपि 'प्रमेयातिरेकाभावेऽपि सन्देहाऽपाकरणात् प्रमाण(णं) प्रत्यभिज्ञा' इत्यभ्यधायि, तदप्यसङ्गतम्; स्मृतेरपि 'किं मया दृष्टं उत न' इति संशयव्यवच्छेदेन 'दृष्टम्' इत्युपजायमानायाः प्रमाणताप्रसक्तः(क्तेः) । आलोचनाज्ञानान्तरं विकल्पकप्रत्यक्षाभ्युपगमात् कालान्तरं सविकल्पकप्रत्यक्षाभ्युपगमात् कालान्तरादिभावोऽपि तत एवं निश्चित इति कुतो भवदभिप्रायेण सन्देहं(हः)? नहि निश्चयविपयीकृतमनिश्चितं नाम, न च कालान्तरादौ सद्भावः ततो व्यतिरिक्तः अन्यत्वप्रसङ्गात् इति प्रमेयाऽऽधिक्या(क्य)मेव प्रामाण्यनिवन्धनमभिधातुमु(धातुं यु)क्तम् अन्यथा निष्पादितक्रिये कर्मविशेषाधायि कथं साधनं स्यात्? ??]

यत् तु 'इदानीन्तनमस्तित्वं नहि पूर्वधिया गतम्' इत्युक्तम्, तद्युक्तमेव इदानीं(नीन्त)नत्वस्य भेदात् अन्यथा प्राक्तनविकल्पबुद्ध्या यस्त्वव्यतिरेकि इदानीन्तना(नीन्तना)स्तित्वस्य कथमग्रहणम्? यदि च सविकल्पकं प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षमर्थग्राहकमभ्युपगम्यते तदा सर्वात्मनार्थस्य निश्चितत्वात् प्रमाणान्तरप्रवृत्तेवै(वै)यर्थ्यप्रसक्तेरिति विचारितमन्यत्रेतीह न प्रतन्यते । यैस्तु निर्विकल्पकं प्रत्यभिज्ञाज्ञानं प्रमाणतया अभ्युपगतम् तेषां तदुत्तरकालभाविसविकल्पकाध्यक्षप्रायो घटादिविपयः प्रमेयातिरेकाभावात् कथं प्रमाणतामश्नुवीत? न च प्रमेयातिरेकमन्तरेणापि सन्दिग्धवस्तुनिश्चयनिबन्धनत्वा(त्वात्) प्रमाणमसौ, निर्विकल्पक-सविकल्पकयोरक्षजप्रत्यययोर्नियतपौर्वापर्ययोरपान्तराले सन्दे-

---

१-त्सिद्धि प्र-आ० । २ तच्च वा० बा० विना । ३-लब्धपू-आ० । ४-क्षाभवतः वा० बा० विना । ५-सिद्धि व्यतिरेक ता कथं वा० बा० विना । ६-न्धान व वा० बा० विना । ७-नसंधान संभ-वा० बा० । ८-तानति-वा० बा० । ९-ज्ञान च भा० मां० आ० हा० ।-ज्ञाने च वा० बा० । १० तन्निश्चत्वा नानु-वा० बा० । ११-था च स्वव्यति-वा० बा० ।-था च स्तुव्यति-भां० मा० । १२-त पि वा० बा० । १३ तन्निश्चा न वि० विना । १४-ण मि-आ० हा० वि० विना । १५-यतो अ-वा० बा० । १६-नुमिति सा-आ० हा० वि० । १७-मानत्रनिबन्ध न भ-भां० ।-माननिनिबन्ध न भ-मा० ।-मात्रनिबन्धन भ-आ० हा० वि० । १८-प्यंशो स-भा० मा० । १९ नत्वेवं प्रत्यभिज्ञानद-हा० वि० । २०-दर्शनं ब-भां० मां० । २१-या चैवं हा० वि० ।-या चैव आ० । २२-माणा प्र-हा० । २३ पृ० ३१९ पं० २५ । २४ स्मृतिर-आ० । २५-ल्पकं प्र-वा० बा० । २६-मात् कालान्तरादिभा-वा० बा० । २७ एवं नि-हा० । २८ सन्देह न-वा० बा० ।

२९ "निष्पादितक्रिये चार्थे प्रवृत्तेः स्मरणादिवत् । न प्रमाणमिदं युक्तं करणार्थविहानितः" ॥

—तत्त्वसं० का० ४५१ पृ० १५९ ।

३० पृ० ३१९ पं० १७ । ३१-दानीन्तनन्विस्य वा० बा० ।-दानींनन्त्वस्य आ० ।

"नन्विदानींतनास्तित्वे यदि भिन्ने त्वयेष्यते । पूर्वभावात् तदा भेदस्त्वयैव प्रतिपादितः" ॥

—तत्त्वसं० का० ४५७ पृ० १६० ।

३२ "अनन्यत्वेऽपि सत्त्वस्य कथं पूर्वधियाऽगतम् । तस्यागतौ हि वस्त्वेव नोपलब्धं प्रसज्यते" ॥

—तत्त्वसं० का० ४५८ पृ० १६० ।

३३-कल्पावु-वा० बा० विना । ३४-दा सर्वदात्मनार्थस्य वा० बा० ।-दा सर्वात्मते तदा सर्वानार्थस्य भा० मां० । ३५-चारितम-आ० विना । ३६-श्नुवते न वा० बा० विना । ३७-ग्धनिवस्तुनिश्चय-भां० मां० हा० वि० ।-ग्धनिघनिश्चय-वा० बा० । ३८-क्षप्र-वा० बा० ।

ह्यासंभवात् तदपाकरणाभावाच्च निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण समाना [?? प्रत्यभिज्ञानेनैकत्वमवगन्तुं शक्यम्
यतोऽर्थसाक्षात्कारि प्रत्यक्षं लोके प्रतीतम् पूर्वापरसंवेदनाऽधिगतभावैकत्वग्राहकं च प्रत्यभिज्ञानम्
तत् कृत(थ)मध्यक्षस्य स्वरूपम्? तथाहि—न तावत् प्रथमसंविदस्तत्त्वग्रहणसंभवः, तत्संभवे हि
भाविसमयादिग्रहणमिति तदैव स्तम्भादेरुदयमध्यास्ते(स्त)मयादिप्रतीतिप्रसक्तिः। न च भावि-
५ समय-त्रे(दे)श-दशादश(र्श)नादि न गृह(ह्य)ते ते तत्सम्बन्धं(न्धि) तु रूपं पूर्वदर्शने प्रतिभात्येव,
भाविकालाद्यग्रहे तत्सम्बन्धिरूपस्याप्यग्रहाद् यदेव हि तद्देशाद्यनुषक्तं रूपं तत्र प्रतिभातीति न
तद्दर्शनाऽवसेयम्, यदि तु भाविकालाद्यग्रहेऽपि तत्संबन्धिरूपग्रहस्तथासति सर्वे भावाः समस्त-
कालदर्शनसंबन्धिन आद्यदर्शनाऽवसेया· स्युः, एवं च सति सर्वे नित्या भवेयुः थ(अथ) नैषां प्रथम-
दर्शनं(नि) सर्वकालस्थायिता प्रतिभातीति नैते तथाऽभ्युपेयन्ते तर्हि तत्र भाविदृगादिपरिष्वक्तताऽपि
१० न प्रतिभातीति साऽपि न तत्र सती। न च तस्यैवोत्तरकालं प्रतीतेः भाविविज्ञानग्राह्यतायतः तस्यैवो-
पलब्धिः किं पूर्वदृशा, उत उत्तरकालभि(कालभा)विन्या? यदि पूर्वदृशा तदा सोत्तरकालमसती
कथं प्रतिपद्यते? नह्यसद् ग्राहकम् अतिप्रसङ्गात्। यदापि सा सती आसीत् तदा न पश्चाद् दर्शनादि
संभवतीति न तत्प्रतिभासिरूपग्रहः प्राक्। अथोत्तरकालभाविनी दृक् तस्योपलब्धि(ब्धिर)युक्त-
मेतत्, यतो द्वितीयदृगपि स्वप्रतिभासिनमेव पदार्थात्मानमवभासयतु न पुनस्तत्त्वम्। यतस्तत्त्वं
१५ दृश्यमानस्याऽर्थस्य पूर्वदेशादिपरिगतत्वम् (गतत्वम् दृष्टता) वा? ??]

न तावदाद्यः पक्षः, पूर्वदेशादीनामसन्निधानेनाप्रतिभासेन(ने) तत्सम्बद्धस्यापि रूपस्याग्रहणात्
प्रत्यक्षेण न चाऽसन्निहिता देशादय· प्रतिभान्ति दर्शनस्य निर्विषयत्वप्रसङ्गात्, सकलातीतभाव·
परम्परापरिच्छेदप्रसक्तेश्च कालत्रयप्रदर्शि प्रत्यक्षं भवेत्। न च तथाऽभ्युपगन्तुं युक्तम्, अतीतादौ
विशदप्रतिभासाभावात्, तमन्तरेण च प्रत्यक्षेणाग्रहणात्, न च पूर्वदेशादीनां तदा सन्निधानम्,
२० सन्निधौ वा तद्दर्शने प्रतिभासनात् पूर्वरूपतात्यागः वर्त्तमानताप्राप्ते·—नहि तद्दर्शनप्रतिभासनमन्तरे-
णान्या वर्त्तमानता नीलादीनामपि। तथापि पूर्वरूपत्वे वर्त्तमानव्यवहारोच्छेदप्रसक्ति·। न च पूर्व-
देशादीनामप्रतिभासे तत्सम्बद्धरूपप्रतिभास· प्रत्यक्षतः संभवति, अन्यथा सर्वदेश-काल-दशापरि-
ष्वक्तभावावगमात् सर्व एव व्यापिनो नित्याः सर्वाकारस्वभावा· प्रसजन्ति, न च नियतदेशादि-
संसर्गितया तेषां प्रतीतेर्नायं दोषः, पूर्वदेशादिसंसर्गितया सम्प्रति दर्शनेऽप्रतिभासमानवपुषस्तथा-
२५ त्वाभावप्रसक्तेः। तत्र पूर्वदेशादिमत्त्व दृश्यमानस्य तत्त्वम्।

अथ दृष्टता दृश्यमानस्य तत्त्वम् स्या(सा)पि किं सम्प्रति दर्शने प्रतिभातता, आहोस्वित् पूर्व·

१-चात्र विक-वा० बा०।-चात्रविक-आ०। २ सहमाना-वा० बा०। ३-र्थसाहात्कारि हा० वि०।-र्थसहकारि आ०। ४-कत्वाग्रा-भां० मां०। ५-ज्ञातम् आ० विना। ६ क त-भां० मां०। ७-दस्तनग्र-हा०।-दस्वग्र-आ०।-दकस्तनग्र-वि०। ८-हणं स-वा० बा० भां० मां०। ९-वस्तत्संभवस्त त्संभवे हि वा० बा०। १०-सयाविप्र-वा० बा०। ११ तवैव संभदेरुदयमस्वास्ते वा० बा०। १२ भाविसमयदेशदृशादशतादि न गृति तेन तत्स-वा० बा०। भाविसमयदेशनादि न गृ ति ते तत्स-भां० मां०। भाविसमयदेशत्तादि न गृहते तत्स-हा० वि०। १३-म्बन्धे तु आ०। १४-स्याप्याग्र-वा० बा० विना। १५-नु व्यक्त भां० मां०।-नुपव्यक्त आ० हा० वि०। अत्र 'तद्देशाद्यनुष्वक्त रूपं तत्र प्रतिभाति' इति पाठ सम्भाव्यते। १६ अन्येषां वा० बा० विना। १७-लग्नायिता वा० बा०। १८-परिव्यक्त-आ०। १९-ह्यतस्तस्य-हा० वि०। अत्र 'ग्राह्यता स्याद् यत' इति पाठ सम्भाव्य। २०-कासिवि-वा० बा०। २१-शा स्तदा भां० मां० आ०।-शास्तदा हा० वि०। २२-त्तरं का-वा० बा० विना। २३ प्रतिपाद्य-वा० बा० विना। २४-वतीति न त तत्प्र-आ० हा०।-वतीति न त त तत्प्र-भां० मां०। २५-पग्राह्य प्रा-वा० बा०। २६ प्राक्। अथोत्त-हा०। प्रागेवोत्त-आ०। २७-भाविती व्यक्त तस्यो-वा० बा० विना। २८-तु पु-आ०। २९-सन त- त्सम्बन्धस्या-भां० वि०।-सनन तत्सम्बन्धस्या-हा०। ३०-हण प्र-वा० बा०। ३१ न वा-भां० विना। ३२-यप्र-वा० बा०। ३३-रूपताच्छेद्-वा० बा० विना। ३४-णाग्रहणञ्च च आ०। ३५-दासन्निधौ वा वा० बा०। ३६-सक्तेः आ०। ३७-त्सम्बन्धरू-आ०। ३८-कासत्वभावाः प्रस-आ०।-कारभ्य· भाव· प्रजन्ति वा० बा०। ३९-या तत्प्रति वा० बा०। या सं सम्प्रति आ०। ४० दर्शने प्र-वा० बा० विना। ४१ पूर्वादे-आ० विना। ४२-द्यादिम-वा० बा०। ४३-तस्या सा त्वस्यापि हा० वि०।-तस्य मा त्वस्यापि आ०।-तस्य स त्वस्यापि भां० मां०। ४४ भातिता वा० बा० विना।

दृशि? यद्याद्यः पक्षः तदा वर्त्तमानतैव न पूर्वापरदृग्गत(गवंग)तैकत्वम्। अथ द्वितीयः तदा पूर्वदर्शनमपेतत्वाद् असत् कथं वर्त्तमानदर्शने प्रतिभाति? तदप्रतिभासे च तद्ग्राह्यतापि प्रच्युतत्वाद् न प्रतिभाति, तद्दृग्ग्राह्यं तु रूपमधुना सन्निहितत्वाद् वर्त्तमानदृगधिगम्यं भविष्यति पूर्वदर्शनस्यापरिच्छेदे तदधिगम्यस्यापि रूपस्याधिगमासंभवात्। यतो न वर्त्तमानं दर्शनं पूर्वदृशमगृह्णत् तदधिगम्यमधिगन्तुं क्षमम् तद्दिशा(तद्दृशो) ग्राह्यमधिगच्छतु पूर्वदृग्ग्राह्यतां तु कथमधिगच्छेत्? यदि तु पूर्वदृगम(गन)वगमेऽपि तद्ग्राह्यता प्रतीयते तथासति सका(क)लातीतदृग्ग्राह्यताऽपि प्रतीयताम्। न च पूर्वदृष्टता नाभाति पूर्वदृष्टरूपं ना(चा)भातीति पूर्वदृष्टताऽप्रतीतौ पूर्वदृष्टरूपाऽप्रतिपत्तेर्नहि नीलताप्र(ताऽप्र)तिपत्तौ नीलोऽर्थोऽधिगतो भवति। स्ववेद्यतया च प्रतिभासमानः स्ववेद्य एव नान्यवेद्यः तत्राप्रतिभासमानरूपाभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात् सर्वस्य सर्वात्मकतापत्तेः। न च पूर्वदृशाऽपो(दृशोऽपा)ये तत्कर्मता अर्थस्य प्रच्युतेति न भाति तद्गोचरः सर्वात्मना भाव्ये(त्ये)व तदपाये तदवगतत्वेनाऽप्रतिभासनाद्य(नाद)न्यथातिप्रसङ्ग इत्युक्तेः। यदि च प्राग्दर्शनगोचरोऽर्थो वर्त्तमानदृशि प्रतिभाति पूर्वदृग्गोचरसकलपदार्थप्रतिभासप्रसङ्गः। न च भिन्नं पूर्वदृगवगतं नावभाति अभिन्नं तु तत्प्रतिभासविपर्ययोऽवभासत एव नीलादेर्भिन्नस्यापि वर्त्तमानदर्शनप्रतिभासनात् पूर्वदृष्टत्वादेव तस्य न तत्र प्रतिभासः, तथाभिन्नेऽपि समानम् इति कुतस्तस्य प्रतिभासः? न चाभिन्नस्य पूर्वदृग्गोचरस्य सन्निहितत्वा(त्वात्) प्रतिभासः नेतरस्य विपर्ययात् तत्सन्निधेरेवासिद्धेः। न च सम्प्रति दर्शनात् तत्सन्निधिसिद्धिः, यतः किं तत् तस्य दर्शनम्, उतान्यस्य? यद्यन्यस्य कथं तत्सन्निधिसिद्धिः सर्वस्य तत्प्रवृत्ति (त्ते)। न चाप्रतिभासान्न सर्वस्या(स्य) सन्निधिः इतरेतराश्रयदोषात्–तदप्रतिभासात् सर्वासन्निधिः ततश्च सर्वाप्रतिभास इति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। अथ तस्यैव दर्शनात् सत्स(तत्स)न्निधिः, असदेतत्, यतः पूर्वदर्शनावगतस्य वर्त्तमानदर्शनमिति न कुतश्चिदवगम्यते? न तावद् दर्शनात्, सन्निहित एव तस्य वृत्तेः। न च पूर्वदृष्टसन्निहितयोरेकत्वाद् वर्त्तमानदर्शनवृत्तिः, इतरेतराश्रयत्वप्रसक्तेः—तयोरेकत्वात् तद्दर्शनवृत्तिः तद्वृत्तेश्च तयोरेकत्वमितीतरेतराश्रयत्वम्।

अपि च, तद्दर्शनवृत्तेर्नायं दोषः तदप्रच्युतौ प्रमाणाभावात्। न च प्रत्युत्पन्नदर्शनमेव तत्र प्रमाणम्, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। तथाहि—पूर्वदृष्टस्याप्रच्युतौ प्रवर्त्तमानं दर्शनं प्रमाणं सिध्यति तत्प्रामाण्यात्व(च्च) पूर्वदृष्टस्याप्रच्युतिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। न च परिस्फुटप्रतिभासादेव वर्त्तमाना दृक् प्रमाणम्, काम-शोकाद्युपप्लुतविशददृशः प्रमाणताप्रसक्तेः। न च विसंवादात् सा अप्रमाणम् इय तु विपर्ययात् प्रमाणम्, यतः संवाददृगपि पूर्वदृष्टेऽर्थे प्रवर्त्तमाना न प्रमाणतया सिद्धा अन्यत्राऽप्रवृत्ता न(?)संवादकृता, ततः पूर्वदृष्टार्थग्राहित्वे दृग् भ्रान्ता प्रसक्ता। अपि च, उत्तर-

---

१-मान न पू-वा० बा०। २-दृग्वतेकत्वम् भा०।-दृग्वंतैकत्वम् आ०।-दृगतेकत्वम् वा० बा०। ३-ह्यतोऽपि वा० बा० विना। ४ भविष्यन्ति वा० बा० विना। ५ पूर्वमानगृह्णत् तदधिगम्यगम्यमधिगन्तु क्ष-वा० बा०। ६-गच्छत् पू-वा० बा० विना। ७ यदि पूर्व-वा० बा०। ८-दृगव-वा० बा० विना। ९ न च पूर्वदृष्टता नाभातीति पूर्वदृष्टताऽप्रती-हा० वि०। न च पूर्वदृष्टता नाभाति पूर्वदृष्टं ता नाभाति पूर्वदृष्टं रूपं नाभातीति पूर्वदृष्टताऽप्रती-भा० मा०। न च पूर्वदृष्टता नाभाति पूर्वदृष्टं ता नाभातीति पूर्वदृष्टताऽप्रती-वा० बा०। १० नीलार्थो-भा० मा०। ११-या प्रति-भा० मा० आ० हा० वि०। १२-न्यवेद्य एव नावेद्यतया प्रतिभासमानः स्ववेद्य एव नान्यवेद्यस्तत्रा-भा० मा०। १३-दृशाऽपाये वा० बा० विना। १४ भा नत्गोचरः सर्वात्मा भाव्ये-वा० बा०। १५ तदापा-वा० बा०। १६-र्शनागो-वा० बा०। १७-चरार्थो आ०। १८-वतं भा० मा०।-वसतं हा०।-वसंतं वि०।-वसंतना-आ०। १९-पयोऽभा-वा० बा०। २०-दर्शनाप्र-वा० बा०। २१ तत्वाभि-भा० मा० आ०। तथाभि-हा० वि०। २२ न वाभि-वा० बा०। २३-वासिद्धेर्न त सम्प्र-वा० बा०।-वासिद्धेर्नि व सम्प्र-आ०।-वासिद्धेर्मि घ सम्प्र-हा० वि०। २४ न वा प्र-वा० बा० मा० विना। २५-दपि प्रतिभासत् सर्वा-वा० बा०। २६ ततश्च सर्वाप्रतिभासात् सर्वाप्रतिभास इति भा० मा०। २७-गम्यंते वा० बा०। २८-यप्र-वा० बा०। २९-माणभा-आ०। ३०-च्युतं प्र-आ०।-च्युते प्र-हा० वि०। ३१-मान द्-हा०। ३२-शदृशः आ० हा० वि०।-शद् दृशः वा० बा०। ३३-मा न प्र-वा० बा० विना। ३४-न्यथा-हा० वि०।

ज्ञान(ने) पूर्वदर्शनग्राह्यं किं तद्दृष्टेन रूपेण प्रतिभाति, उत रूपान्तरेण? यदि पूर्वदृष्टेन तथासति पूर्वदृष्टरूपावभास एव न वर्त्तमानरूपपरिच्छेदः। अथ रूपान्तरेण तत्रापि वर्त्तमानदर्शनग्राह्यरूपतैव न पूर्वज्ञानग्राह्यता इति वर्त्तमानमेव तत्। न च ज्ञानद्वयावभासि रूपं तत्र प्रतिभातीति वक्तुं शक्यम्, ज्ञानद्वयाऽभावे तदवभासिनो रूपस्याप्यभावात् यदेव हि ज्ञानमस्ति भवतु तदवभास्येव तद्रूपम् यत् ५ तु नष्टज्ञानं न तदवभासि युक्तम् अन्यथा सकलातीतज्ञानावभासिरूपप्रतिभासंप्रसक्तिरित्युक्तम्। तस्माद् इदानीन्तनज्ञानावभासमेवैतद् युक्तम्। न च निर्विकल्पके वर्त्तमानग्रहणे सति प्राक्तनज्ञानावभासिभावपरिच्छेदः समस्ति विकल्पद्वयानतिवृत्तेः। यतः 'सः' इति पूर्वपरिच्छेदः 'अयम्' इति प्रतिभासानुप्रवेशेन प्रतिभाति, उताननुप्रवेशेन? यद्याद्यः पक्षः, तदा 'सः' ति(इति) वा परोक्षाकारः प्रतिभासः 'अयम्' इति वा वर्त्तमानमात्रावभासः। अथाननुप्रवेशेन प्रतिभासस्तदापि प्रतिभासद्वयं १० परस्परविविक्तमायातम्, तथा च तद्ग्राह्यस्यापि भेदः प्रतिभासभेदात्। न च तदवभासद्वयमेकाधिकरणम् परोक्षाऽपरोक्षरूपनिर्भासद्वयस्यैकाधिकरणत्वासिद्धेः अन्यथा भिन्नाधिकरणसर्वसंविदामेकाधिकरणत्वापत्तेः। तन्नैककालम् भिन्नकालं वा प्रतिभासद्वयमेकार्थम् प्रतिभासभेदात्। न चात्र प्रतिभास एव भिन्नो न प्रतिभास्यः, तद्भेदे तदभेदासिद्धेः। तथाहि—न स्वतः प्रतिभास्याभेदः सिद्धः, स्वसंविन्मात्रप्रसक्तेः। नापि प्रतिभासात् तस्य भिन्नत्वादिति नैकत्वसिद्धिः। उत्तरकाल- १५ भाविनोऽपि दर्शनात् सन्निहितमात्रस्यैव तत्र प्रतिभासात् पूर्वकालादीनां तत्र प्रतिभासने वर्त्तमानतापत्तेः, तदनवभासे च तत्परिकरितरूपस्याप्यपरिच्छेदः। न च तद्गतत्वेनाऽप्रतिभासेऽप्यत्रुट्यद्रूपतया प्रतिभासात् प्रतिभास्यस्यैकत्वम् यतो विद्युदादिष्वपि पूर्वरूपाप्रतिभासनं यदि त्रुट्यद्रूपत्वमङ्गीक्रियते तर्हि पूर्वदृष्टाप्रतिभासनं वर्त्तमानं(?)वरदृशः स्तम्भादावस्तीति कथं न त्रुट्यद्रूपप्रतिभासः स्तम्भादेर्भेदः? अथ ग्राह्यस्याविरतमुपलब्धिरत्रुट्यद्रूपता विद्युदादौ त्ववभासस्य विरतिरित्यत्रुट्यद्रूपता २० न युक्ता, नन्वविरतोपलब्धिरपि किं तस्य, आहोस्विदन्यस्य इति वक्तव्यम्। यद्यन्यस्य कथमेकत्वम्? अथ तस्यैव, सा न सिद्धा। नहि पूर्वदृष्टस्य पुनरुपलब्धिरिति सिद्धम्।

यदपि 'पूर्वदृष्टं पश्यामि' इति व्यवसायबलात् निर्विकल्पकं दर्शनं 'पूर्वापरैकत्वग्राहि' इत्युक्तम् तदप्यसारम्, यत्ते(यतो) न व्यवसायबलाद् ग्राहकं दर्शनं व्यवस्थाप्यते किन्तु प्रतिभासबलात् अन्यथा अश्वविकल्पसमये गोदर्शनव्यवस्था न स्यात् प्रतिभासश्च निराकृतपूर्वापरभावो वर्त्तमानोऽर्थ- २५ मारूढः परिस्फुटं सर्वे एवाभाति साक्षात्का(त्क)रणं हि परिस्फुटता तत्त्व(च्च) सन्निहितप्रतिभासनम् असन्निहितस्य साक्षात्कर्त्तुमशक्यत्वात् पूर्वदृष्टं सन्निहितं रूपमिति न तद्ग्रहः प्रत्यक्षस्वभावः। अथापि स्यात् नोत्तरप्रत्यक्षे पूर्वदृष्टं रूपमाभातीति किन्तु धर्मिरूपं नीलादिलक्षणम्, असदेतत्; पूर्वापरदर्शनप्रतिभासि स्वरूपव्यतिरिक्तस्य नीलादिरूपस्य धर्मिणस्तद्भेदेऽप्यभिन्नस्याऽनुपलब्धे(ब्धेः) नहि पूर्वापरदृग्वसेयं मुक्त्वा रूपमपरो नीलादिरूपो धर्मी प्रतिभाति, अप्रतिभासमानस्य नित्यत्व- ३० साधने न काचित् क्षतिः प्रतिभासस्यैव सर्वस्यानित्यत्वसाधनात्। तन्न अध्यवसायवशादध्यक्षस्य ग्रहणव्यवस्था इत्येके।

अपरे तु मन्यन्ते यद्यपि नीलाध्य(ध्य)वसाया(यात्) नीलदर्शनस्य तद्ग्रहणं व्यवस्थाप्यते तथापि

१–ग्राह्यं किं न दृष्टे–वा० बा०। २–दृष्टे त–भां० मां०। ३–नदशन–आ०।–नदर्शन–वि०।–नवर्शन–बा० मा०। ४–यावभावे तदभा–वा० बा० विना। ५–ज्ञानं तद्–वा० बा० विना। ६ तवभा–वा० बा०। ७–ससक्ति–वा० बा० विना। ८–भासमेवे युक्त–आ० हा० वि०।–भासस्येवैतद्युक्त–वा० बा०। ९ सति प्रसक्तेनज्ञा–वा० बा०। १०–रूपानि–वा० बा०। ११–कार्थप्र–वा० बा० वि० विना। १२ तत्र भासात् आ० हा० वि०। त भासात् भां० मां०। १३–भातात् प्र–वा० बा०। १४ प्रतिभासस्यै–वा० बा० विना। १५–मानं रदृशः भां० मां०।–मा वरदृशः हा०।–मानं शि स्तम्भा–वा० बा०।–मानवरदृशः वि०। १६–हास्य वि–वा० बा०। १७ पृ० १२० पं० २। १८ तदपमति यते न वा० बा०। १९–नारूढः वा० बा० विना। २० तत्त्वसन्निहितप्रतिभासनमसन्निहितप्रतिभासनमसन्निहितसाक्षात्क–वा० बा०। २१–नस्यानि–आ०। २२ काचित् क्षतिः वा० बा०। २३–सस्यैवं स–भां० आ० हा० वि०।–सस्येवं बा०। २४ अध्यव–वा० बा०। २५–हणव्य–वा० बा०। २६–लाध्यव–वा० बा०। २७–सा- । २८–हण व्य–वा० बा०।

ष्टनपुनर्जातकेशादिषु 'पूर्वदृष्टं पश्यामि' इत्यध्यवसायस्यान्यथापि प्रवृत्त्युपलब्धेः कथं तद्रूपार्थग्राह्यनुभवव्यवस्थापकत्वम्? न च विच्छेदाभिधैस्तत्र भेदस्य ग्रहणादभेदग्राहिता मा भूद् अनुभवस्य तन्निबन्धना न पुनरिहैवं भेदावसायस्यैव कस्यचिदभावादि(वादिति) वक्तव्यम्, भेदावसाय एवात्र कस्यचिन्नास्तीत्यदर्शनमात्रादसिद्धेः। अपि च, अवगतविच्छेदानामपि प्रमातृणां समानवर्ण-संस्थान-प्रमाणेषु केशादिषूपलम्भसमये न प्रत्यक्षनिबन्धनस्तदन्येषामिवाऽन्यत्वनिश्चयः अपि त्वनु-भूतविच्छेदेषु पूर्वरूपाऽसम्भवादेकाकारप्रत्ययगोचरेष्वनित्येष्वनुमाननिबन्धन एव, तत्वा(था)ऽन्यत्रापि समानम् विकल्पवशाध्यायमनुभवस्य विषयव्यवस्थां कुर्वन्नन्यथापि विकल्पस्य सम्भवदर्शनात् समुपजातशङ्कः कथं सर्वत्र कुर्वीत ? अथ बाधकप्रमाणबलेनाऽन्यथात्वस्य प्रतीतेः, अत्र च तदभावान्न शङ्कासम्भवः। तदुक्तम्—

"बाधा ज्ञाने त्वनुत्पन्ने का शङ्का निष्प्रमाणका" [ ]

इत्युच्यते, असारमेतत्; यतो यत्र बाधकप्रमाणवृत्तिस्तत्र विपर्ययानिश्चय एव न पुनर्बाधकनिबन्धना शङ्का युक्ता, सा हि तुल्यजातीये प्रतियोगिदर्शनाद्दृष्टप्रतियोगिष्वपि विशेषादर्शिनामुपजायत इत्युक्तमसकृत्। तन्नैकत्वाध्य(ध्य)वसायिविकल्पबलान्निर्विकल्पकप्रत्यभिज्ञानस्य पूर्वदृष्टार्थाधिगन्तृत्वं व्यवस्थापयितुं शक्यम्।

यदपि कैश्चिदभ्युपगम्यते-निर्विकल्पकं ज्ञानमेकत्वग्राहि तदनन्तरभावि च सविकल्पकं प्रमाणमिति, तदपि प्रतिविहितमेव; निर्विकल्पकेनैकत्वस्य परिच्छेदात् स्वरूपप्रतिभासनं निर्विकल्पकमुच्यते सन्निहितमेव च स्वरूपमाभाति असन्निहितप्रतिभासस्य वस्त्वसंनिवेशभ्रान्तत्वात् पूर्वदर्शनादिसम्बन्धिता च(च) तदा सन्निहिता नास्ति। तत्र तत्र दर्शना(न)वृत्तिः स्मृतेरेव तत्र प्रवृत्तेः, पूर्वदर्शनवृत्त्याद्यगतेः स्मरणमन्तरेण पूर्वदृगादिकं स्मरत एव 'पूर्वदृष्टम्' इत्यध्यवसायोदयाद् विस्मरणे तदभावा(वात्) स्मृतिविकलेन्द्रियजप्रतिभासस्य निर्विकल्पकत्वात्। [?? न स्मृतिकृतदर्शनमविकल्पकज्ञानावसेयमेकत्वम्। अत एव कल्पनाज्ञानमप्येकत्वाध्यवसाये शुक्तिकायां रजतबुद्धितत्त्वम् ??] न च तत्र बाधकप्रवृत्तेर्भ्रान्तता सन्निहितविषये तु प्रत्यभिज्ञाने न कदाचिद् बाधावृत्तिरिति सत्यार्थता, यतस्तथापि यदि तत्त्वमधिकृथं(धिगतं) भवेत् प्रथमदर्शन एवं प्रतिभासेत अप्रतिभासनादसत्यम्। अथ स्मृतिसहिताया दृशस्तत्त्वे व्यापारान्न प्राक्तनदर्शने प्रतिभासनम्, असारमेतत्; यतः स्मरणसहायमपि दर्शनं नैकत्वग्रहणक्षमम् तस्य वर्त्तमानमात्र एव व्यापारात् वर्त्तमानमेवाक्षप्रभवे ज्ञाने प्रतिभातीति तदेव तद्विषयो न तत्त्वम्। यच्च यद्गोचरस्तद् अन्यसद्भावेऽपि न तत्र प्रतिभाति, यथा गन्धस्मृतावपि न दृशि परिमलः, दृगविषयश्च पौर्वापर्यम् तन्न स्मृतावपि तत् तत्र प्रतिभाति। तथा, स्मृतिरपि नैकत्वमवगच्छति, वर्त्तमानदृग्विषये तस्या अप्रवृत्तेः। नहि वर्त्तमानदर्शनग्राह्यं रूपं स्मृति(तिः) परामृशति परोक्षाकारतया तस्याः प्रवृत्तेः, असंस्पर्शे च न स्वविषयस्य

१-दृष्ट प-वि० विना। २-स्तत्र भेदग्राहिता भां० मा०।-स्तत्राभेदस्य ग्रहणादभेदस्य ग्रहणादभेदग्राहिता वा० बा०। ३-दर्शनामा-वा० बा०। ४ त्वभू-भां० मा०। ५-ष्वतितेष्व-वा० बा०। ६-ना स-वा० बा०। ७-थ बाधनबाधकबलेनान्यथा-वा० बा०। ८-म्भ रतस्तदु-वा० बा०। ९ बाध्याद्या-आ० हा० वि०। १०-स्तद् विप-वा० बा०। ११-व पु-वा० बा०। १२-योगिवपि वा० बा०। १३ पृ० ३१९ पं० २८। १४-कल्प ज्ञा-भां० मां०। १५-क प-वा० बा०। १६-रूपाप्र-आ०। १७-भासं निर्वि-आ०।-भासन निर्वि-भां०। १८-सन्निधे भ्रा-वा० बा०। १९-ता व तु त-वा० बा० विना। २०-वृत्ते पू-वा० बा०। २१-द्यवग-वा० बा० विना। २२-मन्तरेऽपूर्वदृगादि-वा० बा०। २३-दया नि-आ०। २४-रणा त-वा० बा०। २५-कलेन्द्रियाजनप्र-वा० बा०। २६ स्मृतिकृतं दर्शनं विकल्पकमिति नाविकल्पकल्पकज्ञानाच-वा० बा०। २७-त्वाव्यवसायं मुक्तिकायां र-वा० बा०। २८-बुद्धितत्त्वं न भां०।-बुद्धितत्वं न हा० वि०। २९-धकं प्रवृत्तेः भ्रांतता स-वा० बा०। ३० बाध्यावृ-आ०। ३१-व तंत् प्रतिभासेताप्रतिभासेताऽप्रतिभासनादसत्य-वा० बा०।-व प्रतिभासेताप्रतिभासेताऽप्रतिभासनादसत्य-भां०। ३२-नप्रद-वा० बा०। ३३-दर्शनं चैकत्वप्र-वा० बा०।-दर्शनं चैकप्र-भां० मा०।-दर्शनं चैकत्वं प्र-हा० वि०। ३४ नन्वेवं य-वा० बा०। ३५-यद्गो-वा० बा० विना। ३६-ग्राह्य रूपं स्मृ-आ०।-ग्राह्यरूपां स्मृ-हा० वि०।-ग्राह्यां रूपः स्मृ-वा० बा०। ३७-वृत्ते दसं-वा० बा०।

तेन सहैकत्वमवगमयति । न च दर्शन-स्मरणयोरेकाधिकरणता तत्त्वम् तथाप्रतीत्यभावात् तयो[1] स्फुटास्फुटावाकारौ बिभ्राणे दर्शन-स्मरणे नैकाधिकरणतामंश्नुवीयाताम् सर्वसंविदामेकाधिकरण-तापत्तेः । न च तत्र प्रतिभासभेदाद् भिन्नार्थता, स्फुटेतरप्रतिभासभेदाद् दर्शन-स्मरणयोरपि भिन्नार्थताप्रसक्तेः—दर्शनं हि साक्षात्करणाकारम् स्मृतिश्च परोक्षाव्य(ध्य)वसायस्वभावेपि(त्ति) कथं ५तयोः प्रतिभासभेदादि(दाद्) भिन्नार्थत्वम् । तन्न ताभ्यामपि एकत्वप्रतिपत्तिः ।

नाप्यात्मा एकत्वं प्रतिपद्यते दर्शन-स्मरणाभावे स्वापाद्यवस्थाप्रतिपत्तेस्ततोऽभावात् । दर्शन—स्मरणे च पूर्वापरार्थैः(र्थै)परिहारेण प्रवर्तमाने न तयोरेकत्वमधिगच्छत इति न तद्द्वारेणात्मापि तत्त्वमवैति । न चात्मनोऽपि पूर्वापरावस्थयोरेकत्वावगमः पूर्वबोधेन भाविविबोधसम्बन्धितानु-(तानु)भवात् उत्तरानुभवेन पूर्वविसम्बन्धिताऽनवगमात्, अनुभवे वाऽनाद्यनन्तसकलजन्म-१०परम्परापरिच्छेदप्रसक्तिः । न च शुद्ध एवात्मा स्वसंवेदने प्रतिभाति दशा(शां) परिगतः तासाम-प्रतिभासे तद्गतत्वेन तस्याप्यप्रतिभासनादित्युक्तत्वात् । न च दर्शन-स्मरणव्यतिरेकेणाऽन्योऽनुस-न्धाना(ता) भाति, 'ते चान्योऽन्यपरिहारेण स्थिते इति कथमेक आत्मा? न च द्रष्टृ(ष्टुः) स्वरूपं स्मर्तृरूपतया 'द(द्र)ष्टाऽहं स्मरामि' इति प्रतीतौ प्रतीतिः(प्रतीयत इति) कथं नैक आत्मा? यतो द्रष्टृ(ष्टृ)स्वरूपं किं स्मर्तृस्वरूपानुप्रवेशेन प्रतिभाति, उतानुप्रवेशेन? य(यद्य)नुप्रवेशेन तदा द्रष्टृ-१५स्वरूपता (द्रष्टृस्वरूपता स्मर्तृस्वरूपता) वा, एकस्य रूपस्येतरत्रानुप्रवेशात् । अथाननुप्रवेशेन तदा द्रष्टृ-स्मर्तृरूपे अन्योन्यं भिन्ने स च नैक आत्मा । न च द्रष्टृ-स्मर्तृरूपो विकार एव भिद्यते नात्मेति क्रमभाविविकारप्रतिपत्तौ तद्गतत्वेन तस्याप्य(स्यापि) प्रतिपत्तेः विकारव्यतिरेकेण तस्याऽनुपलब्धे-रित्युक्तत्वाच्चेति नात्मनोऽप्येकत्वप्रतिपत्तिः । न च स्मरणोत्तरकालभाविनी 'स एवायम्' इत्यनु-सन्धानप्रतिपत्तिरक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायितया प्रत्यक्षं प्रमाणम्, तस्याः प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः । यदि २०प्रत्यक्षप्रभवेयं भवेत् पौर्वापर्ये वृत्तिमती न स्यात् अक्षस्य वर्तमान एव व्यापारात् । न च स्मरणोप-ढौकिते पूर्वापरभावेऽक्षस्य वृत्तेः तत्प्रभवायास्तस्यास्तत्र वृत्तिर्युक्ता, अक्षस्य स्मरणोपहितेऽपि पौर्वा-पर्येऽविषयत्वेनाप्रवृत्तेस्तदुद्भवायास्तस्या अपि प्रवृत्त्यनुपपत्ते(त्तेः) । अ(न)नुत्पलरूपप्रवृत्ति-मदक्षं स्मरणोपनीतेऽपि गन्धादौ प्रतिपत्तिजननं (?) स्मरणम् न च चक्षुषो गन्धाविषयत्वात् न च तत्र लोचनसंवित्प्रसवः स्मरणोपनीतपौर्वापर्येऽप्यक्ष(क्षा)विषयत्वस्य तुल्यत्वात् । अथ कथमक्ष-२५व्यापारानन्तरं प्रत्यभिज्ञा उदयमासादयति यद्यक्षप्रभवा न(धा न) भवेत्? न; तत्र सति पुरोव्य-वस्थितवस्तुदर्शने पूर्वदृष्टे स्मृतेरुदयात्, यथा दूरव्यवस्थितचन्दनाद्यर्थदर्शनात् गन्धस्मृतेः 'सुरभि चन्दनम्' इति प्रतिपत्तिः । न च लोचनाविषयत्वाद् गन्धस्य तद्विशिष्टं(ष्ट)चन्दनप्रतिपत्तिस्तद्गतरूप-दर्शनाल्लिङ्गप्रभवेति वक्तव्यम्, प्रकृतेऽपि समानत्वात् । तथाहि-वर्तमानदर्शनात् पूर्वकालाद्यनु-स्मरणात् तद्विशिष्टपुरोव्यवस्थितार्थप्रतिपत्तिरानुमानिकी पूर्वकालादिसम्बन्धितायास्तदा प्रत्यस्त-३०मयतोऽक्षागोचरत्वात् तामध्यवस(स्य)न्ती प्रत्यभिज्ञा कथं प्रत्यक्षतामनुभवेत्? अन्यथा परोक्षप्रति-पत्तेः सर्वस्याः प्रत्यक्षताप्रसक्तिः । अथ परोक्ष(क्षा)कारैव प्रतीतिरप्रत्यक्षा प्रत्यभिज्ञा तु पूर्वदृगादि-योगित्वे परोक्षाकारा वर्तमानत्वे प्रत्यक्षाकारेति स्मरणाऽध्यक्षरूपा एका प्रतीतिः, नैतदेवम् ।

१-भ्राणा द-वा० बा० विना । २-रणे मश्नुवीयाताम् वा० बा० । ३-मप्युपधीयत्ताम् वा० बा० विना० । ४-र्थं न तयोः प्रतिभासाभेदादभिन्नार्थत्वम् वा० बा० विना । ५-रणा च वा० बा० ।-रणो च आ० हा० वि० । ६-रार्थे प-वा० बा० ।-रार्थौ प-भां० मां० । ७ पूर्वावो-भां० मां० । पूर्वेबोधे-वा० बा० । ८-नुभावा-वा० बा० हा० वि० । ९ ते वान्यो-आ० विना । १०-या द्रष्टाऽ-वा० बा० । ११-ति प्रतीति क-वा० बा० । १२ यतो दृष्ट-वा० बा० विना । १३-न ह्यनु-वा० बा० विना । १४ द्रष्टृरू-वा० बा० । १५-रूपतां वा भा० हा० वि० ।-रूपता वा मां० । १६ एवं भि-आ० हा० वि० । एवि भि-भां० मां० । १७-वृत्तेस्तद्भवा-आ० ।-वृत्तेस्तुस्तदुद्भवा-भां० मां० । १८-पत्तेः त तर्हीत्पल-आ० हा० वि० ।-पत्ते तर्हीत्पल-भां० मां० । १९-वृत्तिदक्षं स-वा० बा० ।-वृत्तिदक्ष स-भां० हा० वि० । २०-पनी पि वा० बा० विना । २१-ननस-वा० बा० । अत्र 'प्रतिपत्तिजननसमर्थम्' इति सम्भवेत् । २२-स्याद् त घ तत्र आ० । २३ तत्रालो-भां० मां० । २४ भवेन्न सति आ० । भवेत् तत्र सति हा० वि० । २५-ना द्गन्ध-आ० । २६-न्दनाद्यमिति वा० बा० । २७-पत्तिस्तद्गत-आ० मा० । २८-लादिसंबन्धिता-वा० बा० । २९-यतोऽक्षी-भां० मां० । ३०-कारो ए-आ० हा० वि० ।

आकारद्वयायोगात् एकवस्तुनं आकारलक्षणत्वात् तद्भेदे ज्ञानस्यापि भेदात् अन्यथा परोक्षाऽपरोक्षाकारभेदेऽपि स्मरण-दर्शनयोरभेदप्रसक्तिर्भवेदिति सर्वमपि ज्ञानं स्मृतिः प्रत्यक्षं वा भवेत्, प्रथमपक्षेऽस्पष्टप्रतिभासप्रसक्तिः। द्वितीये तु सर्वप्रतिभासो विशब्दः(दः) स्यात्। न च स्मरण-दर्शनयोरस्पष्ट-स्पष्टप्रतिभासभेदाद् भेदः, प्रत्यभिज्ञानेऽपि 'सः' इति पूर्वोल्लेखस्याष्ट(स्यास्पष्ट)प्रतिभासतया 'अयम्' इति वर्त्तमानोल्लेखः(खस्य) स्पष्टप्रतिभासरूपतया प्रतिभासभेदात् भेदस्य ५ न्यायप्राप्तत्वात्। न च 'स एवायम्' इत्येकत्वाध्यवसायादेकत्वम् यतः किं पूर्वापराध्यवसायस्यैकत्वम्, यद् वा अध्यवसीयमानस्य? न तावदाद्यः पक्षः अन्योन्यरूपविवेकेन पूर्वापरयोरवभासनात्। तथाहि—'सः' इति पूर्वरूपाध्यवसायो वर्त्तमानरूपाध्यवसायविविक्तः प्रतिभाति, 'अयम्' इति च वर्त्तमानाकारावभासः पूर्वावभासविभिन्नतनुराभाति, परस्परस्वरूपानुप्रवेशे वा 'सः' इति वा प्रतिभासः स्यात् 'अयम्' इति वा, तथा च कुतः 'स एव' इत्येका प्रत्यभिज्ञा? परस्परव्यतिरेके १० च परोक्षाऽपरोक्षप्रतिभासयोर्भेद एवेति कथमेका प्रत्यभिज्ञा? नाप्यवसीयमानस्याऽभेदः, अवसायभेदे तदवसीयमानस्यापि भेदात्। न च 'स एवायम्' इति व्यवहारैकत्वादेकत्वम्, यतो व्यवहारो ज्ञानम्, अभिधानम्, प्रवृत्तिर्वा? तत्र यदि ज्ञानम् तत्राप्यविकल्पां(ल्पम्), स्मृतिः, कल्पना वा? यदि निर्विकल्पकं तत् पूर्वापरकालभावि भिन्नमेव एककालमपि पूर्वापरार्थग्राहि प्रतिभासभेदाद् भिन्नम्। अथ स्मृतिः सापि दर्शनाद् भिन्नैव कथं तदर्थस्यैकत्वं साधयति? न च पूर्वदर्शनविषय १५ वृत्तिः स्मृतिः, तद्विषयत्वस्य तत्रासिद्धेः। तदा(था)हि—न तावद् दर्शनां(नात्) स्मृतेस्तद्विषयत्वं सिध्यति दर्शनकाले स्मृतेरभावात्, तदभावे च न तदर्थवेदनं ततः सिध्यति। नापि स्मृतेरेकार्थता वृत्तिः तत्काले दर्शनस्याभावात्, तद्भावे वा स्मृतेरयोगात्। नहि दर्शनावस्थायां स्मृतिरुदयवती उपयोगवती वा, दर्शनादेवार्थप्रतिपत्तेः। ततो दर्शनकालपरिहारेण प्रवर्त्तमाना स्मृतिर्न दर्शनार्थविषयतामात्मनोऽधिगन्तुं समर्था। अस्पष्टप्रतिभासा च स्मृतिः कथं स्पष्टप्रतिभासा(स)दर्शनविषय २० मर्थमधिगच्छति? इति न तदर्थविषया स्मृतिर्वृत्तिः सिद्धा प्रतिभासभेदस्य भेदकत्वात् अन्यथा भेदोच्छेदप्रसक्तिरित्युक्तत्वात्। न च कल्पनाप्येका व्यवहृतिः यतः पूर्वापरावभासा(भासा 'स एव) अयम्' इत्युल्लेखव(वती) सापि भिन्नैवेत्युक्तम्। अभिधानमपि 'सः' इति 'अयम्' अपि (इति) च भिन्नम् भिन्नार्थं च प्रतिभाति एकार्थत्व(त्वे) पर्यायताप्रसक्तेः। तन्न अभिधान्येका व्यवहृतिः। प्रवृत्तिस्तु क्रियारूपत्वात् पूर्वापरभाविनी भिन्नैवेति कुतो व्यवहारैकत्वादप्येकत्वम्। २५

अथैकत्वाध्यवसायः 'स एवायम्' इति, संवादश्च तत्र विद्यते एवेति कथं न तत्र प्रत्यभिज्ञा प्रमाणम्? उच्यते, प्रतिभास एवाध्यवसाय-संवादौ प्रतिसत्त्वन्ये(?)वा सकल एव निरस्तपूर्वापरभावः स्वावधिकमर्थं वेत्ति भिन्नकालावधेस्तस्य संवेदनासम्भवात्। तथाहि-संवेद्यमानरूपसद्भावे वस्तु संवेद्यते वेदनकाल एव च संवेद्यमानं रूपमस्ति, कालान्तरे तस्य सद्भावाभ्युपगमे स्वत एव संवेदनत्वप्रीतेः(?)तत्त्वसंवेदनसमयाध्यासितमेव सर्वमाभाति नान्यसमयादियोगि अन्यकालादि ३०

१-गादेवस्तु-वा० बा०। २-न अका-हा० वि० विना। ३ परोक्षप-आ० विना। ४ ज्ञान स्मृ-बा० वा०। ५ भवे अथस पक्षेऽस्प-वा० बा०। ६-रस्पष्टप्र-वा० बा० विना। ७-अत्र 'ष्ट'स्थाने लिपिकारेण 'पृ' इति लिपिः कृता। ८-दा प्रतिज्ञा-बा० बा०। ९ पूर्वोल्लेखोस्पष्टप्र-बा० बा० विना। १०-रयो व-वा० बा० विना। ११-था यत् कुतः भां० मां०। १२ इत्येको प्र-भां० मां०। १३ परोक्षप्रतिभासयो भेदे एवेति बा० बा०। १४ तत्राप्य-वा० बा०। १५-कल्पा स्मृ-वा० बा० विना। १६-मपि पूर्वग्राहि प्रभास-बा० बा०।-मपि पूतिभास-भां० मां०। १७-न्न विवा स्मृ-वा० बा०। १८ स्मृति त-बा० बा०। १९-ना स्मृ-वा० बा०। २०-दर्शावे-वा० बा०। २१ स्मृतेरुद-वा० बा०। २२-नार्थ वि-वा० बा० विना। २३-वृत्ति सि-आ० हा० वि० २४-वहृतिर्य-आ० हा० वि०। २५-राभा स एवाधमित्युल्लेखवमी सापि बा० बा०। २६-धानाम-वा० बा०। २७-कार्थत्व पर्यायतो प्र-वा० बा०। २८ तन्नाभि-हा० वि०। २९-धाप्यका बा० बा०। ३०-स्तुमि क्रि-भां० मां०। ३१-स्वाऽव्यय-वा० बा०। ३२-च्यतो प्र-वा० बा०। ३३-ध्यवासाय-वा० बा०। ३४-प्रतिसव्यन्ये वा बा० बा०।-प्रतिसत्त्वस्ये वा आ० हा०।-प्रतिभासत्वेस्ये वा वि०। ३५-मर्थ वेति भि-वा० बा०। ३६-न्तर तस्य बा० बा०। ३७-गमो स्व-बा० बा०। ३८-न समया-वा० बा०। ३९-प्रासे तत्र-भां० मां०।

योगिनोऽपि तदा प्रतिभासने तदैव प्रकाशरूपसद्भाव इति वर्तमानैव पूर्वकालादियोगिता भवेत् नातीता। प्रकाशमानरूपविरहे च न तदा पूर्वकालादियोगितायाः प्रतिभासनमित्येकत्वस्यानुपलब्धेर्न प्रत्यभिज्ञा कथञ्चिदपि सम्भविनी। न च संवादोऽप्येकत्वे सिद्धः, स हि तदर्थज्ञा(?)न्तरवृत्तिः न(न)रैकत्वे पुनः ज्ञानवृत्तिः इत्युक्तम्। तज्जातीये तु पुनर्दर्शनं प्रवर्तते तदैव च संवादात् समभिमानो
५ लोकस्य तत्त्वाध्यवसायात्। तथाहि–'स एवायम्' इति तदर्थक्रियाकारी अयं भाव इत्युच्यते तदर्थकारित्वं च भिन्नस्याप्युपलब्धम् यथा चक्षुरादेस्तज्ज्ञानजननम् तत्रैव च 'स एवायम्' इति भेदेऽप्येकत्वव्यवहारः अथवा पूर्वाऽपरदर्शनाभ्यां परस्परपरिहारेण प्रवृत्ताभ्यामेकत्वलक्षणस्य तदर्थस्य बाधितत्वादनादिकाला भ्रान्तिरेव प्रत्यभिज्ञा। तन्न क्षणिकाभिव्यक्तिषु शब्दमात्रासु निर्विकल्पकप्रत्यभिज्ञावसितं स्थैर्यम् निर्विकल्पकस्य सविकल्पकस्य वा प्रत्यभिज्ञानस्य प्रामाण्यासिद्धितस्तत्त्वा-
१० साधकत्वात्। तन्न प्रत्यक्षविरोधमनुभवन्ति क्षणभङ्गवादिनः।

यदपि 'नाशस्य कारणाधीनत्वादसन्निहिते(त)कारणस्य घटादिषु अनुदयात् विनाशकारणात् प्रागनिवृत्तरूपा एव घटादयः, तदपि प्रतिक्षणध्वंसिताभावे सर्वसामर्थ्याभावलक्षणस्यासत्त्वस्य भावात् स्वरसविनाशितया [?? नापि संयोगाद् विनाशमनुभवन्तीन्धः(न्ध)नादय इति ??] प्रतिविहितमेव। तथापि किञ्चिद् उच्यते—तत्रेन्धनादीनामग्निसंयोगावस्थायां त्रितयमुपलभ्यते—तदे-
१५ वेन्धनादि, कश्चिद् विकारः, तुच्छरूपस्वभावः कल्पनाज्ञानप्रतिभासी, तत्राग्न्यादीनां क व्यापार इति वक्तव्यम्। न तावद् इन्धनादिजन्मनि स्वहेतुत एवैषामुत्पत्तेः। नाप्यङ्गारादौ विवादाभावात् अग्न्यादिभ्यश्चाङ्गाराद्युत्पत्ताविन्धनादेरनिवृत्तत्वात् तथैवोपलब्ध्यादिप्रसङ्गः। न चाङ्गारादिभ्यः काष्ठादेर्ध्वं(ध्वं)सान्नायं दोषः। ततो वस्तुरूपापरध्वंसोपगमेऽपि काष्ठादेस्तदवस्थात् पुनरपि स्वार्थक्रियानिवृत्तेर्नैक(?)प्रसक्तिः। ततोऽप्यपरतथाभूतध्वंसोत्पत्त्यभ्युपगमेऽप्यनवस्था वाच्या। अथ भावान्तरमेव
२० प्रध्वंसाभावः नापरः तत् कथं काष्ठादेस्तथोपलब्ध्यादिप्रसङ्गः? नैतदेवम्; यतः 'काष्ठादेरङ्गारादिरेव ध्वंसो नापरः' इत्यत्र किञ्चिन्निबन्धनं वाच्यम्, तस्मिन् सति तन्निवृत्तिरिति चेत्, न; तुच्छस्वभावनिवृत्त्यनङ्गीकरणेऽङ्गारादिकमेवार्थान्तरं निवृत्तिशब्देनोक्तम्। ततश्चायं वाक्यार्थः-अङ्गारादिभावभावात्(?)काष्ठादेरङ्गारादिकं ध्वंस इति। न(?)चाङ्गारादेर्भावस्यात्मनि हेतुत्वविरोधात् अप्रस्तुताभिधानं च प्रसक्तम् अत्स्या(ग्न्या)दिभ्यस्तदुत्पादाभिधानात् काष्ठादीनां निवृत्तौ प्रस्तुतायामर्था-
२५ न्तरविधाने तेषामनिवर्त्तनात्।

यदप्यभ्यधायि 'बुद्धि-प्रदीपादयो येऽप्यनु(नुप)जातविकारा ध्वंसमासादयन्ति तेऽप्यात्माव्यक्तरूपां(पतां)विकारान्तरम(मे)व ध्वंसमनुभवन्ति' इति, तदप्यसङ्गतम्; बुद्ध्यादीनामात्मरूपविकारापत्तौ प्रमाणाभावात् आत्मनश्चासत्त्वात् कथं तद्रूपता बुद्ध्यादीनां विकारः? 'न च परिणामः सम्भवति' इति प्राक् प्रतिपादितम्। प्रदीपादेस्तु अव्यक्तभावः कार्यदर्शनादनुमेयः तस्याती-
३० न्द्रियत्वात्। न च ध्वस्तस्य प्रदीपादेः किञ्चित् कार्यमुपलभ्यते यतस्तद्व्यक्तभावानुमितिः स्यात्। तन्न भावान्तरं प्रध्वंसाभावः। भावान्तरस्य च प्रध्वंसत्वे तद्विनाशाद् घटाद्युन्मज्जनप्रसक्तिः। न च

१-ता भवेन्नतीता भां० मा० आ०।-ता भावेन्नतीता हा० वि०। २-रहे चेन्न वा० बा० विना। ३-समभिस्ये-भां० मा० आ० हा० वि० ४-कत्व सि-वा० बा० विना। ५ सिद्धेः वा० बा०। ६-वृत्तिर्नचैक-बा० वा० विना। ७ तन्ना क्ष-आ०। तत्वा क्ष-हा० वि०। ८ स्थैर्य नि-वा० बा० विना। ९-णसङ्ग-भां० मा०। १० पृ० ३२० पं० २२। ११-घटामुनुद-बा० वा०। घटादिपूनुद-हा०। घटाद्पूनुद-वि०। १२-न्तीधूना-भां०। १३ स्थायां त त्रतय-वा० बा०। १४ न वा-वा० बा० हा० वि०। १५-ष्ठादेर्वंशान्नायं दो-भां० मां०।-ष्ठादेर्वंशान्तायं आ०।-ष्ठादेर्वंशात्तायं हा० वि०।-ष्ठादेर्विनाशान्नायं वि०स०। १६-न्नाव्यं दो-बा० वा०। १७-निवर्तप्र-बा० वा०।-निवृत्तेर्धर्त्तकप्र-भां० मां०।-निवृत्तेर्वैचर्त्तकप्र-हा०।-निवृत्तेर्वैर्त्तकप्र-वि०।-निवृत्तेर्वैत्तर्कप्र-वि० स०। १८-वृत्यभंगी-बा० वा०। १९-न्तर नि-वा० बा० विना। २०-रादिभाविभा-बा० वा०। २१-रादिक ध्वं-भा० मा०। २२-रादिभावेङ्गारादिर्भावः स्वात्मनि मां०।-रादिभावेङ्गारादेर्भावः स्वात्मनि भा०।-रादिभावे देर्भावः आत्मानि बा० वा०। २३-पामनव-बा० वा०। २४ पृ० ३२१ पं० २। २५-न्ति तन्मा व्यक्तरूपतां वि-० वा०। २६-व्यक्ताभा-भा०। २७-भावका-हा० वि०।

कपालादेर्भावरूपतैव ध्वस्ता नाभावात्मकतेति नायं दोषः भावान्तररूपस्याभावस्य तद्भावे प्रच्युतत्वात्। न च कृतकस्याभावस्याविनाशितायामनित्यत्वेन कृतकत्वस्य व्याप्तिः सिध्येत् अकृतकत्वे त्वभ्युपगम्यमाने भावान्तरकार्यात्मकत्वंसो(त्वं ध्वंसो)न भवेत्। प्रध्वंसाभावाविनाशे तु सर्वदा प्रध्वंसद्भा(ससद्भा)वात् घटादीनां सत्ता न भवेत्। ततो यथा कारणस्वरूपः प्रागभावः कार्योदये कारणनिवृत्तौ निवर्त्तते—अन्यथा तदात्मकत्वायोगात्—तथा कार्यात्मा ध्वंसाभावोऽपीति नष्टघटादिभिः पुनर्मङ्कव्यमेव। न च यथा हेतुवन्धे देवदत्तस्य न पुनः प्रादुर्भावः तथेहापीति वक्तव्यम्, देवदत्तहेतुर्देवदत्तमरणारूपत्वात् तस्य दण्डादिकल्पत्वात्। तन्न कपालादिरूपं भावान्तरं घटादेर्ध्वंसः तत्र कारकव्यापारासम्भवात् क्रियाप्रतिषेधमात्रप्राप्तेः अकारकस्य वा हेतुकत्वादहेतुमत्त्वाभ्युपगमोऽभावस्य विरुध्येत। हेतुमत्त्वेऽभावस्य कार्यत्वाद् अभावरूपताप्रच्युतिप्रसङ्गः भावस्य कार्यलक्षणत्वात्। तथाहि—यत् स्वकारणसद्भावे भवति तदभावे च न भवति तत् कार्यमुच्यते, भवनधर्मा च कथं न भावः? यतो 'भवति' इति भावः उच्यते इत्यङ्कुरादेरपि भावशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं नापरमुपलभ्यते,' तच्चेदभावेऽप्यस्ति कथमसौ न भ(भा)वः? न चार्थक्रियासामर्थ्यं भावशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् तथा(तद्वा)भावे नास्तीति वक्तव्यम्, सर्वसामर्थ्यविकलस्य तस्य प्रतीतिविषयताऽभावात् कथं हेतुमत्त्वावगतिः? प्रतीतिजनकत्वे वा कथं न सामर्थ्ययोग्यता? अथ कार्यत्वे सत्यपि यथा घट-पटादीनां भेदः प्रतिनियतविज्ञानविषयतया तथा भावाऽभावयोः समानेऽपि कार्यत्वे सत्प्रत्ययविषयस्य भावता असत्प्रत्ययविषयस्य वा(चा)भावरूपतेति, असदेतत्; असत्प्रत्ययविषयत्वे कार्यताऽप्यस्य दूरोत्सारितैव। अथ स्वहेतुभावे भावात् कार्यता अस्य तर्हि कथं न सत्प्रत्ययं(य)विषयता? तथाहि—यद्यसौ 'भवति' इति प्रतीयते 'सन्' इत्यपि प्रतीयेत, नहि 'अस्ति' 'भवति' 'सद्भावः' इति शब्दानां कश्चिदर्थभेदो विद्वद्भिरिष्यते, अथ वा(चा)भावात्मकतयैवासौ भवति, न; व्याहतत्वात्। यतो 'न भवति' इत्यभाव उच्यते स कथं भवतीति? स्वग्राहिणि ज्ञाने प्रतिनियतेन रूपेणाऽप्रतिभासनात् 'अभावः' इत्येतदपि न वक्तव्यम्, अत्यन्तपरोक्षचक्षुरादीनामप्यभावताप्रसक्तेः। न चाभावस्य भवितृषु पर्युदासात् प्रसज्यप्रतिषेधो भिद्यते, नञाऽसद्रूपत्वस्य विधानात् स पर्युदासाद् भिद्यते असद्रूपस्य भवनविरोधात्, 'भवति' इति हि भूत्या सत्तयाऽभिसम्बध्यते, एवं कथमसद्रूपस्य विधानं विधिः सर्वदा प्राधान्यात्? नञर्थश्च पर्युदास एवैको भवेत् यतो यदि कुतश्चित् किञ्चिन्निवर्तेत तदा तत् पर्युदासेन तद्व्यतिरेकि परामृश्येत न चैवं भवति, 'निवृत्तिर्भवति' इत्युक्तेऽर्थान्तरस्यैव कस्यचित् सर्वत्र विधानात्, एवं वस्त्वन्तरमेवोक्तं स्यात् न तयोर्विवेकः, अविवेके च न पर्युदासः। अपि च, यद्यग्न्यादिभ्योऽभावो भवेत् तद्भावे काष्ठादयः किमिति नोपलभ्यन्ते? न ह्यग्न्यादिभ्यो ध्वंससद्भावेऽपि काष्ठादयो निवृत्ताः ध्वंसोत्पादन एव अग्न्यादीनां चरितार्थत्वात् काष्ठोपमर्दनं ध्वंसस्योत्पत्तेः। न तेषामुपलब्धिरिति चेत्, कुतः पुनस्तदुपमर्दः? न तावत् प्रध्वंसाभावात् काष्ठादिसत्ताकाले तस्याभावात्। नाग्न्यादिभ्यः ध्वंसाविर्भावि(व)न एव तेषां

१-पतेव वा० वा० विना। २ सिद्धेतुः अकृ-वा० वा०। ३ प्रध्वंस इति पाठः घ-वा० वा०। ४ पुनर्मङ्कव्य-वा० वा०। पुनर्मकव्य-भा०। पुनर्मुकव्य-मा०। ५-था हेतुवन्धे वा० वा०।-था हेतुवन्धे हा० वि०। अत्र 'हन्तुवंधे' इति पाठः स्यात्। ६ अत्र 'देवदत्तहन्तुर्देवदत्तमरणरूपत्वात्' इति संभाव्यते। ७ वा हेतुमत्ताभ्युप-आ० हा० वि०। चा हेतुमत्ताभ्युप-भा० मा०। ८ भवतः न चा-वा० वा०। भव नवा-हा० वि०। ९-था भवे भां० मा०।-था भावं ना-हा० वि०। १०-स्य प्र-वा० वा० विना। ११-मर्थ्यायो-वा० वा० विना। १२ घटापटादी-वा० वा० भा० मा०। घटादी-हा०। १३-नां भेद प्र-वा० वा० विना। १४-यस्य वा भावरूपतेति वा० वा० विना। १५ सद्भाव इ-वा० वा०। १६-कताया वासौ वा० वा०।-कतायैवासौ आ० हा० वि०। १७-स्वात् यैतो वा० वा०। १८-भावस्येतेतदपि न च व-वा० वा०। १९-श्चुदानीम-वा० वा०। २० वास्य आ० हा० वि०। २१-विविषु प-वा० वा०।-वितृष्णु प-वि०। २२-द्यते सद्रू-वा० वा०। २३-वतीतिति हि वा० वा०। २४ एव क-आ०। २५-थन-स-वा० वा०। २६ सर्वदाऽप्रा-मां०। सर्वद प्रधानात् वा० वा०। २७-वर्तते त-वा० वा०। २८ न चैकं भ-वा० वा०। २९-घस्त्यादि-वा० वा०। ३०-द्भावे को काष्ठाद-वा० वा०। ३१ ह्यस्यादि-आ० हा० वि०। ३२ एवात्मादी-वा० वा०। ३३ न भावत् वा० वा० विना। ३४-ध्वंसाक्षात् काष्ठादि-भां० मां० आ० हा० वि०। ३५-साविन एव तेषां भा० मां०।-सादेर्भावनं एव तेषां आ० हा० वि०।

व्यापारात्। न चोत्पन्नः प्रध्वंसाभावः काष्ठादीनुपमर्दयति तद्यौगपद्यप्रसङ्गात्; तथा च सत्यविरोधप्राप्तिः। ध्वंसेन च काष्ठादेर्विनाशने विकल्पत्रयस्य तदवस्थत्वात् ततश्चानवस्था। न च ध्वंसेनावृतत्वात् काष्ठादेरनुपलम्भः तदवस्थे तस्मिन्नावरणायोगात् ततो विकारभावे वा पुनरपि विकल्पत्रयानतिवृत्तिः। किञ्च, यदि हेतुमान् विनाशस्तदा तद्भेदात् म(स) भेदं किं नानुभवेत्? कार्यात्म(त्मा)-
५नो हि घटादयः कारणभेदाद् भेदमनुभवन्तोऽध्यक्षत एवावसीयन्ते, नैवमनासादितभावान्तरसम्बन्धः प्रच्युतिमात्रस्वभावो ध्वंसः तस्याप्यभिघातादिहेतुभेदेऽपि तुस्व(च्छ)रूपतयैव सर्वेन विकल्पज्ञानेऽवभासनात्। नहि 'अभावो भावः' इति तुच्छरूपतामपहायापरं तस्य किञ्चिद् रूपमीक्ष्यते हेतुमत्त्वे च तदवस्थस्तस्य विनाशप्रसङ्गः। अथ विनाशस्य विनाशहेतुर्न दृष्ट इति नासौ विनश्यति। तदुक्तम्—

१० "घटादिषु (?) यथा हेतवो ध्वंसकारिणः।
नैवं नाशस्य सो हेतुस्तस्य सञ्जायते कथम्?" [ ] इति।

नन्वेवं बुद्ध्यादीनामप्यविनाशिताप्रसक्तिः विनाशहेत्वदर्शनात्। अथात्राऽदृष्टोऽपि ध्वंसहेतुः कल्प्यते अहेतुकविनाशानुपपत्तेः अन्यत्र तस्य हेतुमत्त्वदर्शनात्, बुद्ध्यादीनां चोत्तरकालं स्वरूपासंवेदनात् अवस्थितरूपत्वे च तेषां तदयोगादिति, असदेतत्; स्वसंविदितत्वानभ्युपगमे बुद्ध्यादी-
१५नामस्य प्रलापमात्रत्वात्। तथाहि—यथा घटादयो भावा न सर्वदैव ज्ञानविषयतामुपगच्छन्ति तथा बुद्ध्यादयोऽपि ज्ञानान्तरसंवेद्याः सन्तोऽपि नावश्यमनुभवपथमुपयास्यन्तीति कुतस्तेषामनुपलम्भादभावनिश्चयः? न चैकदोपलब्धानामन्यथा(दा)ऽत्यन्तानुपलम्भादसत्त्वनिश्चयो युक्तः, यत उपलम्भः प्रमेयकार्यम्, न च कार्यनिवृत्तिः कारणाभावं गमयति, "न हि अवश्यं कारणानि फलवन्ति" [ ] इति न्यायात् केवलमनुपलभ्यमाना बुद्ध्यादय उपलम्भप्रत्ययान्तरविकला
२०न 'असन्त एव' इति निश्चयः। येषां त्वर्थापत्तिसमधिगम्या बुद्धिस्तेषां चक्षुरादीनामिव कार्यानारम्भेऽपि कुतोऽस्या प्रभ(अभा)वो भवेत्? अथवा एकैवावस्थितरूपा बुद्धिस्तांस्तान् पदार्थान् क्रमेणोपलभते, न ह्यस्या घटादीनामिव विनाशकारणमुत्पश्यामः, ततोऽदृष्टोऽपि यथाऽस्या विनाशहेतुः कल्प्यते विनाशस्यापि तथैव कल्प्यताम्, ततो विनाशेनापि स्वविषयज्ञानजननसामर्थ्यं बिभ्राणेन विनंष्टव्यमिति घटादीनां पुनरप्युन्मज्जनप्रसङ्गः। य(त)तोऽयमहेतुर्निःस्वभावोऽभ्युपग-
२५न्तव्यः, अग्निसंयोगादयस्तु काष्ठादिष्वङ्गारादिकमेव जनयन्ति, काष्ठादयस्तु स्वरसत एवं निरुध्यत-(न्त) इत्यनवद्यम्। लोकश्चाकिञ्चिद्रूपतामेवं नाशस्य प्रतिपद्यते, तत्त्वमपि(?) चा(चा)सतोऽकिञ्चिद्रूपतैव, यतोऽवैपरीत्यं तत्त्वमुच्यते, न चैतद् विपरीतं यत् 'अकिञ्चिद्रूपो ध्वंसः' इति। ततो यद्यपि 'सदसती तत्त्वम्' इति व्यपदेशस्तथापि नासतो वस्तुता। तेन "विनाशकाले

१ न चोत्प–आ० हा० वि०। २–ध्वंसाभावः भां० मा०। ३–वृत्तत्ता–भां० आ० विना। ४ तद्भेदात् म भेदात् म भेदं वा० बा०। ५–न्तरं स–भां० मा०। ६–स्याद्यभिघा–आ० हा० वि०।–स्याद्याविघा–वा० बा०। ७–शहेतुर्न भा० मां०। ८–था— — हेतवो भां० मां०।–था दहेतवो आ०। –थादहेतवो हा० वि०। ९–कारिणाः तैवं हा० वि०।–कारिणाः ति(ते)वं आ०। १०–शस्य संज–भां० मां०।–शस्य सोऽहेतुस्तस्य संज्ञायतो कथ–वा० बा०। ११ नत्वेवं भां० मां० आ० हा० वि०। १२ अज्ञा–वा० बा०। १३–ति चेत् अस–वा० बा० विना। १४–द्ध्यादीनां नामस्य प्रलापनात्वात् वा० बा०। १५–लम्भावनि–भां० मां०। १६ न चैक–आ० हा० वि०। १७–कदोपलब्धा–वा० बा० भां० मां० आ० वि०। १८ न च कार्यं न च कार्यनि–वा० बा०। १९–लम्भः प्र–भां० मां० आ० हा० वि०। २०–र–विरपनास–वा० बा०।–रविकालनास–आ० हा० वि०। २१ अथचैकै–भां० मां०। २२–नाशिना–भां० मां०। २३–मर्थ्यं च विभ्रा–भां० मा०। २४–च निरूध्यत–भां० मां० वि०।–च विरुत–वा० बा०। २५–च नाशस्य आ० हा०।–च नास्य वि०।–च नात्रस्य वि० सं०। २६– द्रूपपत्तैव यतो–मां०। –द्रूपपतैव यतो–भां०।–द्रूप वि यतो–आ०। २७ यतो वै–वा० बा० विना। २८ न चै परीत्यं तत्त्वमुच्यते न चैव तद्वि–भां० मां०। २९–यदि किञ्चिद्रूपो ध्वं–आ०। ३० "किं पुनस्तत्त्वम्? सतश्च सद्भावः असतश्च असद्भावः" १, १, १ न्यायद० भा० पृ० २ पं० ५। "किं पुनस्तत्? सदसती तत्"–न्यायवा० पृ० पं० ८। "किं पुनस्तत्त्वम्?××××सदसती" इति—न्यायवा० ता० टी० पृ० ३२ पं० ११।

न तस्य किञ्चिद् भवति, न भवत्येव केवलम्, अन्यथा कस्यचिद् विधाने न भावो निवर्त्तितः स्यात्" [ ] इत्यप्रस्तुताभिधानं भवेत् ।

यदपि 'कृतकोऽपि विनाशो नित्यः, अकृतकोऽपि प्रागभावो विनाशी' इत्यभिधानम्, तदपि न न्यायानुगतम् । अथ भावानां कृतकाऽकृतकानां ध्वंसिता-स्थैर्यलक्षणो धर्म एकान्तिकः, न च भावधर्मोऽभावेष्वध्यारोपयितुं युक्तः । कुतः पुनरयमेकान्तिको भावधर्म इत्यवसितम्? अन्यथा भावस्यानुपलम्भादिति चेत् नन्वनुपलम्भोऽयं भवन्नप्यात्मादेः सत्ताया अनिवर्त्तकोऽन्यत्र कथमन्यथाभावं निवर्त्तयेत्? न चात्मनोऽनुमानेनोपलम्भादिति वाच्यम्, यतोऽनुमानेऽप्यनुपलम्भ एव हेतोः विपक्षवृत्तिं कथं निवर्त्तयति? अथ कृतकाकृतकानां पदार्थानां हेतुकृतविनाशेतरस्वभावदर्शनादव्यभिचारः यद्येवं यस्यैव घटादेः कृतकस्य विनाशकारणवशाद् विनाशो दृष्टः स एव ततस्तथा निश्चीयताम् नान्यः कृतकत्वसाधर्म्यमात्रेण । नहि वस्त्रे रागस्य एव स्वहेतुसन्निधिसापेक्षस्यावश्यम्भाविना(ता) तद्धेतुसन्निधेरप्यपरहेतुसन्निधिसापेक्षत्वात्, 'न चावश्यं हेतवः फलवन्तः' इत्युक्तम् । अथ सापेक्षोऽपि वाससि रागः सर्वत्र यद्युपलभ्यते किमित्यवश्यंभावी न भवेत्? न च तथोपलभ्यते अन्यथापि तस्य ग्रहणात् एवं यदि नाशस्याप्यन्यथापि भाव उपलभ्यते तदा सापेक्षत्वान्नावश्यंभाविता भवेत् न चैवं सर्वत्र[?? कृतके श(विनाश)स्योपलब्धेरिति, असदेतत्; भवतु समस्तवस्तुव्यापिज्ञानाभावात् भावेऽनुमानवृत्तेर्न वैफल्यापत्ति(त्तिः) ??] हेतुबलादुपजातध्वंसस्य कस्यचिद् दर्शनेऽपि[13] कारणप्रतिबद्धजन्मनामन्यथापि दर्शनात्, उपजातशङ्को देशादिविप्रकृष्टेषु भावेषु कथं तथाभावं निश्चिनुयात्? यद्यपि वा(चा)कृतकानां विनाशं(शो) नोपलब्धः तथापि कालान्तरे तदा वा असौ हेतुनिमित्तो न सम्भवीति कुतो निश्चयः? न वा(चा)कृतकः प्रागभावस्तदविनाशो वा सम्भवतीति प्रतिपादितम् । ततोऽसमर्थो विनाशहेतुरिति स्थितम् व्यर्थश्च । तथाहि-यदि स्वभावतो नश्वरो भावः न किञ्चिद् विनाशहेतुभिः तत्स्वभावतयैव तस्य स्वयं नाशतः-नहि स्वयं पतति पातप्रयासः फलवान् । अथानश्वरस्तदा तत्स्वभावस्यान्यथाकर्त्तुमशक्यत्वाद् व्यर्थो नाशहेतुः । न च व(च)लरूपतायां तदुपयोगः, यतो नास्माभिः कार्ये भावानां व्यापारः प्रतिक्षिप्यते किन्त्वचलरूपतैव । ततो भावानामुद्भूता[?? भावस्य भावपूर्वस्तु पूर्वको प्रच्युत एवेति तथोपलब्ध्यादिप्रसङ्गः ??] यश्च विनाशहेतोरस्थिरस्वभावो घटादेर्भवति कथं स सस्य(तस्य) स्वभावः तस्मिन्निष्पन्ने भिन्नहेतुकः? यतो न तत्स्वभावो युक्तः । न च स्वहेतुभिरेव नियमितस्वभावोऽयं कालान्तरस्थायी पदार्थानां हेतुभिर्जनित इत्युत्पादानन्तरं न विनष्टः स तस्मिन्नेव स्वभावे व्यवस्थितः कथमन्तेऽपि[26] नश्येत्? तथाहि—उदयकाले यः स्वभावः स्थिरः तत्स्वभाव एवायमन्तेऽपीति पुनस्तावन्तमेव कालं तिष्ठेत्, तथा तदन्तेऽपि तावन्तमपरम् कालान्तरस्थितिरूपस्योदयकालभाविनः स्वभावस्य तदन्तेऽपि भावात् । न ह्यन्तेऽपि रूपान्तरसम्भवस्तस्यैकस्वभावत्वात् अकिञ्चित्करस्य च विरोधित्वाऽयोगात् तत् कथं तदपेक्षोऽयं निवर्त्तेत? दण्डादिप्रपातसमयेऽस्य प्रच्युतिलक्षणः स्वभावः स किं प्रागासीत् येनाऽसौ

१ "न तस्स किंचिद् भवति, न भवत्येव केवलम्"-आप्तमीमा० प० ३ श्लो० ५३ अष्टश० पृ० २८ प० ३० । अष्टसह० पृ० २०० पं० १३ । २-धाने भावो भा० मा० । ३-स्यनप्र-वा० बा० विना । ४-चानां कृतकानां आ० ।-चानां कृताकानां वा० बा० । ५-सितांस्थै-भा० मा० हा० वि० ।-सिनांस्थै-आ० । ६ नत्वनु-आ० हा० वि० । नचनु-भा० मा० । ७ न चात्मानु-भा० मा० । न वात्मानु-आ० हा० वि० । ८ न वा-आ० हा० वि० । ९ पृ० ३४६ प० १८ । १०-स्यान्य-वा० बा० । ११-तकेशास्यो-वा० बा० । १२-वृत्ते इ एंन विफल्यापत्ति हे-वा० बा० । १३-पि कर- वा० बा० विना । १४-शादिप्र-वा० बा० । १५-कानां विनाश नो-हा० वि० । १६ सम्भवाति आ० हा० वि० । १७-श्चया न आ० ।-श्चय न हा० ।-श्चये न वि० । १८-तक प्रा-वा० बा० भा० मा० विना । १९ च वल-वा० बा० विना । २० कार्यं भा-वा० बा० । २१ किन्त्वरल-भा० मा० । २२-नामुद्भूताभावस्वभावपूर्वस्तु पूर्वस्तु पूर्वको भा० मा० ।-नासुद्रूपताभावस्वभावपूर्वस्तु पूर्वको आ० ।-नासद्भूताभावस्वभावपूर्वस्तु को प्रत्युत-हा० वि० । २३ स त्यस्य स्वभा-भा० मा० आ० हा० वि० । २४ न तस्वभावे यु-वा० बा० । २५ च स्वभावो युक्तः न च स्वहे-भा० मा० । २६-तुभिरिति च निय-वा० बा० भा० मा० विना । २७-दानां-तरं आ० हा० वि० । २८-पि नाशात् वा० बा० । २९ तदन्तेति ता-वा० बा० । तदान्तेपि ता-आ० । ३०-भाविनश्च भा-आ० ।-भानित स्वभा-वा० बा० । ३१ प्राक्षासी-वा० बा० ।

न निवृत्तः ? नहि तदभावेऽपि पररूपेणायं निवर्त्तते स्वरूपं च तदेवास्य प्रागपि कथं न निवृत्तिः ? हेतवश्चानुपकार्यापेक्षायां नियुञ्जानाः स्वकार्यमात्मनोऽस्थानपक्षपातित्वमाविष्कुर्युः, न च भवताम-प्यकिञ्चित्करमपि मुद्गरादिकमपेक्ष्य कथं प्रवाहो निवर्त्तते इति वाच्यम् यतो न विशरारुक्षणव्यति-रेक्तो(स्य)परः प्रवाहो विद्यते यो निवृत्तावकिञ्चित्करं मुद्गरादिकमपेक्षते किन्तु परस्परविविक्ताः
५ पूर्वापरक्षणा एव, ते च स्वरसत एव विद(निरु)ध्यन्त इति न क्वचिदकिञ्चित्करापेक्षानिवृत्तिः अतो मुद्गरादिरहिता सामग्री अविभक्तं कार्यं सम्पादयन्ती तत्सन्निधाने विभक्तं कार्यान्तरं जनयति न तु मुद्गरादयः कारणसामर्थ्यं खण्डयन्ति, विकल्पत्रयस्यापि पूर्वोदितस्य प्रसङ्गात् । अतो यदुक्तम्—

"स्वभावोऽपि स तस्येत्थं येनापेक्ष (?) निवर्तते ।
१० (?) विरोधिनं यथाऽन्येषां प्रवाहो मुद्गरादिकम्" ॥ [ ] इति,

तदपि प्रतिक्षिप्तं द्रष्टव्यम् । अथायं विकल्पः सर्वप्रगत्वादसारः (?) तथाहि—उत्पादेऽप्येवं शक्यते एव वक्तुं स्वभावतो ह्युत्पत्तिस्वभावस्य न किञ्चिदुत्पत्तिहेतुभिस्तत्स्वभावतयेव स्वयमुत्पा-दात्, अनुत्पत्तिस्वभावस्य तु स्वभावतो व्यर्था उत्पत्तिहेतवः तद्भावान्यथात्वस्य कर्त्तुमशक्यत्वा-दिति, नैतत् सारम्; यतो यद्युत्पत्तिरभूत्वा भवनलक्षणैव—अन्यथा तद्योगात्—स्वभावो यस्य
१५ स तथोच्यते तदा सिद्धसाधनमेव, यस्य ह्यभूत्वा भ(?)वत्सम्पन्नस्तत्रोत्पादहेतूनां व्यापाराभी-वस्यैवाभीष्टत्वात् सतो निवर्त्तयितुमशक्यत्वात् कार्य-कारणयोः सहभावेनानिवृत्तेः, अथोत्पत्तौ स्वभाव आभिमुख्यलक्षणो यस्य सन्निहितसर्वकारणकलापानन्तरभाविन इत्यभिधातुमभिप्रेतं तदा कथमस्योत्पत्तिहेतूनां वैयर्थ्यम् ? नहि तथाभूतकारणवशात् तथाव्यपदेशहेतोर्व्यर्थता युक्ता । अथ द्वितीयो विकल्पः सोऽप्यनुपपन्नः यतोऽनुत्पत्तिर्भावप्रतिषेधमात्रं स्वभावः सर्वसामर्थ्यविरह-
२० लक्षणस्याभावस्य तत्र चानभ्युपगमाद्धेतुव्यापारस्य सिद्धसाध्यतैव, न ह्युत्पत्तिहेतवोऽभावं भावी कुर्वन्ति, भावेष्वपि परिणामस्तावदयं न सम्भवति मुत(किमुत) नीरूपेऽभावे ? नन्वे(न्वे)वं कथ-मसदुत्पद्यत इत्युच्यते ? कारणानन्तरं यः सद्भावः स प्रागसन्नित्ययमत्रार्थः न पुनरभावो भावत्व-मापद्यत इति न कश्चिद्दोषः अन्यथानुपपत्तावनन्तरभावाभावे धर्मो यस्यासन्निहितकारणस्य च स एवमभीष्टस्तदापि तत्राऽसत्त्वादेव कारणानां व्यापारो न भवतीति न काचित् क्षतिः, लोके चोत्पत्ति-
२५ धर्माऽनागत एवोच्यते, न च तस्य शशविषाणस्येव तीक्ष्णतादिगोचराणामिव भावाश्रयाणां विक-ल्पानां सम्भवः, न च यदि निर्हेतुको भावस्य विनाशः उत्पादोऽपि तथैवास्तु भावभाव(?)धर्मत्वा-विशेषात् यतो न विनाशो नामाऽन्य एव कश्चिदुदयापवर्गिणो भावात् भावश्च स्वहेतोरेव तथाभूत उत्पन्नो न कश्चिद्धर्मोऽस्या(?)न्निमित्तः केवलं तमस्य स्वभावं पश्यन्नपि मन्दबुद्धिर्न विवेचयति दर्शन-पाटवाऽभावात् यदा तु विसदृशा(श)कपालादिविधुरप्रत्ययोपनिपाताद् उत्पद्यते तदा भ्रान्तिकारण
३० विगमात् प्रत्यक्षनिबन्धनो निश्चय उत्पद्यते, अनुमानतो भावानां सुविदुषां प्रागपि भवत्येव, यथा विषस्वरूपदर्शनेऽप्यतत्कारिपदार्थसाधर्म्यविप्रलब्धो न मारणशक्तिं नि(निश्चि)नोति प्राक् पश्चात् तु विकारदर्शनात् तन्निश्चयः, न च शक्तिमतः शक्तयो भेदमनुभवन्तीति प्रतिपादितं सौगतैः । जातस्य च स्वभावस्य विनश्वरत्वेऽन्यानपेक्षणान्निर्हेतुको विनाश उच्यते इति स्थितमेतत् यथोक्तप्रकारेणानु-

१-चास्या प्रा-आ० हा० वि० । २-माविष्कु-वा० बा० । ३-द्यते माया निवृ-आ० ।-द्यते मोया निवृ-हा० वि० । ४ विरूध्यत इ-भां० । विरुध्यत इ-भा० । ५-रादिना र-वा० बा० विना । ६-रहित सा-आ० । ७-धाने विभ-वा० बा० विना । ८ न तु मु-भां० मां० आ० हा० वि० । ९ । तथा-वा० बा० विना । १०-दऽयसारः बा० बा० । ११ तवयो-भां० मां० । १२-स्वा भावस्त-वा० बा० । १३-भावा स्या- भीष्ट-भां० मा० ।-भावास्याभीष्ट-आ० ।-भावस्या अभीष्ट-हा० वि० । १४-स्यास्याभी-वा० बा० । १५-ना वृ बा० बा० । १६-स्य सन्निहि-भा० मां० । १७-मभिप्रेयः त-भा० मां० । १८-था-तत-वा० बा० । १९-पपन्नाव-वा० बा० । २० धर्मा यस्या-भा० मां० । २१-धर्म्यतानग ए-आ० ।-म गत ए-हा० वि० । २२ भावतावध-वा० बा० । २३ कश्चिद्धर्मा स्या-हा० वि० । २४-दुषो प्रा-आ० ।-दुषां प्र-वा० बा० । २५ यथा वि-आ० । यवा वि-हा० वि० । २६-विषयरू-वा० बा० विना । २७-लब्धो न बा० बा० भां० मां० विना । २८ न कारण-वा० बा० विना । २९-शक्तिं निनोति भां० ।-मिनोति वि० खं० ।-शक्तिं नोति बा० बा० ।

मानतो भावानां क्षणक्षयः सिद्धः, प्रत्यक्षतोऽपि क्षणक्षयाधिगमे तद्व्यवहारसाधनानुमानं साफल्यमनुभवतीत्यपरे प्रतिपन्नाः । तदेवं प्रत्यक्षतः अनुमानतश्च क्षणिकत्वव्यवस्थितेः स्थितमेव तद् मूलाधारः **पर्यायनयस्य ऋजुसूत्रवचनविच्छेद** इति । तस्य ऋजुसूत्रतरोः **'तुः'** अवधारणार्थः तेन तस्यैव न द्रव्यास्तिकस्य **शब्दार्दयः** शब्दार्दर्थं गमयन्तः शब्दनयत्वेन प्रतीताः शब्द--समभिरूढेवंभूतास्त्रयो नयाः **शाखाप्रशाखा** इवं स्थूलसूक्ष्मतर(तसूक्ष्मसूक्ष्मतर)दर्शित्वात् ५ **सूक्ष्मो** भेदो विशेषो येषां ते तथा । यथा हि तरोः स्थूलाः शाखाः, सूक्ष्मास्तत्प्रशाखाः, प्रतिशाखा-अति(शाखाश्च) सूक्ष्मतराः एवम् ऋजुसूत्रतरोः स्थूल-सूक्ष्म-सूक्ष्मतराः शाखाःप्रशाखाः (शाखा-प्रशाखा)प्रतिशाखारूपा अशुद्धःशुद्धतर-(अशुद्ध-शुद्ध-शुद्धतर)पर्यायास्तिकरूपाः शब्द-समभिरूढैवंभूतास्त्रयो नयाः द्रष्टव्याः । तथाहि-ऋजुसूत्राभ्युपगतं क्षणमात्रवृत्ति वस्तु दिगा(लिङ्गा)दि-भेदाद् भिन्नं शब्दो वृक्षाच्छाखामिव सूक्ष्ममभिमन्यते एकसंज्ञं समभिरूढः शब्दाभिमतं वस्तु १० संज्ञाभेदादपि भिद्यमानं शाखातः प्रशाखामिव सूक्ष्मतरमध्यवस्यति, तदेव समभिरूढाभिमतं वस्तु शब्दप्रतिपाद्यक्रियासमावेशसमय एवं स्थिति(?)भूत एवंभूतः क्रियाभेदाद् भिन्नं प्रशाखातः प्रतिशाखामिव सूक्ष्मतममधिगच्छत्येवं बाह्यार्थाभ्युपगमपरः शब्द-समभिरूढैवंभूतभेदवानयगन्तव्यः।

[२ ऋजुसूत्रपदस्य द्वितीयां व्याख्यामाश्रित्य विज्ञप्तिमात्रवादः]

[पूर्वपक्षः-बाह्यार्थवादिभिः सौत्रान्तिक-वैभाषिकैः विज्ञप्तिमात्रस्य निराकरणम्] १५

अथवा ऋजु बाह्यापेक्षया ग्राहक-संवित्तिभेदविकलमविभागं बुद्धिस्वरूपमकुटिलं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः शुद्धः पर्यायास्तिकः ।

ननु किमविभागबुद्धिस्वरूपावेदकप्रमाणसद्भावतो विज्ञप्तिमात्रमभ्युपगम्यते, आहोस्विदर्थसद्भावबाधकप्रमाणसङ्गतेरिति वक्तव्यम् । तत्र यद्याद्यः पक्षः स न युक्तः, यतस्तथाभूतविज्ञप्तिमात्रोपग्राहकं प्रत्यक्षं वा तद् भवेत् अनुमानं वा प्रमाणान्तरस्य सौगतैरनभ्युपगमात्? तत्र न तावत् २० प्रत्यक्षमर्थसंस्पर्शरहितं विज्ञप्तिमात्रमेवेत्यधिगन्तुं समर्थमर्थाभावनिश्चयमन्तरेण विज्ञप्तिमात्रमेवेत्यवधारणाधिगमानुपपत्तेः । उक्तं च-

> "अयमेवेति यो ह्येष भावे भवति निर्णयः ।
> नैष वस्त्वन्तराभावसंवित्त्यनुगमादृते" ॥ [श्लो० वा० अभाव० श्लो० १५]

न चार्थाभावोऽध्यक्षसमधिगम्यः अर्थविभासकत्वेन तस्योत्पत्तेः, न च तत्रावभासेऽपि तस्या-२५ भावः विज्ञप्तेरप्यभावप्रसक्तेः न च तैमिरिकाक्षजप्रतिभासे चकासदिन्दुद्वयं यथाऽसत्यत्वमनुभवति तथा शुद्धदृक्प्रतिभा(भास)विषयस्यापि स्तम्भादेरपि वितथा(थ)त्वं यतस्तिमिरपरिकरितदृग्विपर्य-

---

१ तद् मूलधा-वा० बा० भा० मां० । अत्र 'स्थितमेतद् मूलाधार.' इति चारु भाति । २-जुनयसू-भा० । ३ तत्र ऋ-वा० बा० विना । ४-रणोर्थस्ते-भा० मा० । ५-दय र्थं ग-आ० ।-दय शब्दोदर्थं ग-हा० वि० ।-दर्थ ग-वा० बा० । ६-दर्थ ग-भां० मा० विना । ७ शाखा इव वा० बा० । ८-व मूलसूक्ष्मतर-भा० मां० आ० हा० वि० । ९-खाः प्रतिशाखा अतिसूक्ष्मतरा ए-भां० मा० ।-खा सू-आ० ।-खाः सूक्ष्मास्तत्प्रशाखाः सूक्ष्मा तत्प्रशाश्च स्तत्ततरा ए-वा० बा० । १०-तरो मूल.सूक्ष्मसूक्ष्मतरा शाखा-रूपा अ-भां० ।-तरो स्थूलःसूक्ष्मसूक्ष्मतरा शाखारूपा अ-भां० ।-तरो स्थूलसूक्ष्मतराः शाखाः प्रशाखाः प्रतिशाखारूपा अ-वा० बा० । ११ स्थूलः सू-आ० । १२-तरा शा-आ० हा० वि० । १३-रूपा श-भा० मा० आ० । १४-स्तु दिगादि-वा० बा० विना । १५ वृक्षाच्छा मिव सूक्ष्मामिम-वा० बा० । १६ एकं सं-आ० हा० वि० । एकसंज्ञा स-वा० बा० । १७ तदेवं स-वा० बा० विना । १८-च च स्थि-भां० मा० ।-च च स्थि-वा० बा० । १९-भूताः कि-वा० बा० विना । २०-भूताभेदावा-वा० बा० । २१-मागवु-आ० । २२-दनप्र-वा० बा० । २३ "तथाभूतविज्ञप्तिमात्रं(त्र)ग्राहकं प्रत्यक्षम् अनुमानं वा?"-प्रमेयक० पृ०२१ प्र० पं० १ । २४-रहितवि-आ० । २५ प्रमेयक०पृ० २१ प्र० पं० ३ । २६-भानेऽपि वा० बा० । २७ "न च तैमिरिकप्रतिभासे प्रतिभासमानेन्दुद्वयवन्निर्मलमनोऽक्षप्रभवप्रतिभासविषयस्यापि असत्त्वमिति अभिधातव्यम्"-प्रमेयक० पृ०२१ प्र० पं० ४ । २८-मस्या बाध्य-भां० मां० ।

स्यार्थस्य बाध्यमानप्रत्ययविषयत्वादसत्त्वं युक्तम् न पुनः शुद्धदृगवसेयस्य तत्र बाध्यत्वायोगात् यद्वा तैमिरिकावभासिनोऽपीन्दुद्वयादेर्वैतथ्यमस्तु । न च बाध्यप्रत्ययावसेयस्य कथमवितथत्वमिति वक्तव्यम् बाध्यत्वाऽयोगात् ।

तथाहि-दर्शनं वा बाध्येत, तत्रावभासमानो वाऽर्थः, प्रयोजनं वा? न तावदाद्यः पक्षः दर्शन-
५ स्योत्पन्नत्वात् । नाप्यर्थो बाध्यः प्रतिभासमानेन रूपेण तस्य सत्त्वात् अन्यथा प्रतीयमानताऽयोगात् । न च प्रतिभासोऽस्ति किन्तु तन्निर्भासि रूपमसत्यमिति वक्तव्यम् प्रतिभासमानं रूपं विप्रतोऽप्य-सत्त्वे संविदोऽपि तथात्वप्रसक्तेः । अथार्थक्रियाविरहाद् भ्रान्तज्ञानावभासिनो हिमकरादेर्वैतथ्यम्, अयुक्तमेतत्; यतो यत्र(यस्य)र्थक्रिया तत्र नोदिता तथापि पूर्वज्ञानावभासिनः कथं वैतथ्यम्? नह्यन्याभावादन्याभावः अतिप्रसङ्गात् । न चार्थक्रियानिबन्धनं भावानां सत्त्वमिति यत्र सा नोदेति
१० तत् प्रतिभासमानमपि न सत्तामनुभवतीति वाच्यम् यतो यदि भावाः प्रयोजनमुपजनयन्तः सत्तामनुभवन्ति तदा साऽप्यर्थक्रियाजननात् सत्तासंगता स्यात् साऽप्यपरार्थक्रियाजननात् इत्यनवस्थाप्रसक्तिः । अथ अर्थक्रिया प्रतिभासविषयत्वात् सती पदार्थमात्रा अपि तथैव सत्यः (त्याः) स्युरिति व्यर्थाऽर्थक्रिया अत एव तैमिरिकावभासिनः केशादयोऽपि सत्याः प्रतिभासविषयत्वात् । न च बाधकवशात् तेषां वैतथ्यव्यवस्था, बाधकस्यैवानुपपत्तेः । यतस्तैमिरिकोपलब्ध-
१५ केशादेर्दर्शनान्तरं यदि बाधकं तदा वक्तव्यम्-एककालम् भिन्नकालं वा? यदि भिन्नकालं बाधकमाश्रीयते तदा पूर्वदर्शनकाले नाऽपरम् अपरदर्शनसमये च न पूर्वमिति परस्परकालपरिहारेण प्रवर्त्तमानयोः कथं बाध्य-बाधकता? अथैककालं तद्बाधकम् तचा(दा)त्रापि वक्तव्यम्-एकविषयम् भिन्नविषयं वा? न तावदेकविषयम् तस्य सुतरां तत्साधकतोपपत्तेः नह्येकविषयं संविदन्तरं तद्विषयस्यैव संविदन्तरस्य बाधकमुपलब्धम् । भिन्नविषयं संविदन्तरं स्वविषयमेव भासयितुं
२० समर्थम् न पुनर्विषयान्तरसंवेदनमुपदलयितुमलम्, नहि स्वविषयमवतरन्ती नीलसंवित् पीत-दशामपह्नुतुं समर्था । न च दर्शनान्तरं पूर्वदर्शनाधिगतमर्थमसत्यमधिगच्छत् तस्य बाधकम् । यतस्तदपि दर्शनं स्वविषयीकृतं वा अस्वविषयीकृतं वा पूर्वदर्शनाधिगतमर्थमसत्यमधिगच्छत् तस्य बाधकं स्यात्? प्रथमपक्षे पूर्वदर्शनाधिगतोऽर्थ उत्तरकालभाविनि दर्शने परिस्फुटमवभासमानः सुतरां सत्यः स्यात् न वितथ इति कथं तत् 'तदसत्यम्' इत्यावेदयति? अथ द्वितीयः पक्षोऽङ्गी-
२५ क्रियते तदात्रापि बाध्यदर्शने प्रतिभासमानस्यार्थस्य बाधकसंविदि प्रतिभासाभावात् कथं तस्य ततो वैतथ्यावगतिः? न च विषयान्तरस्य शुक्तिकादेस्तत्रावभासनात् रजतादेरलीकतेति वाच्यम् यतो यदि शुक्तिकाज्ञाने स्वेन रूपेण शुक्तिका प्रतिभाति रजतादेर्भिन्नकालावभासिनः किमिति वैतथ्यं भवेत् सर्वस्य वैतथ्यप्रसक्तेः? अथानुपलम्भो बाधकं प्रमाणमुच्यते तदात्रापि वक्तव्यम्-एककालः, भिन्नकालो वा? तत्र च यद्येककालः सोऽसिद्धः स्वप्रतिभासमये रजतस्यानुपलम्भायोगात् ।
३० कालान्तरभावी रजतानुपलम्भः तदैव तस्यासत्त्वं न पूर्वकालम् । न च भाविकाले पूर्वदर्शनप्रत्यस्तमयात् स्वदर्शनकालावधेरर्थस्याभावः अतिप्रसङ्गात् । तदेवं विशददर्शनावभासि सत्यं बहिरर्थस्वरूपम् यथा स्वसंवित्प्रतिभासमानं विज्ञप्तिस्वरूपम् तथा च तैमिरिकदर्शनावभासीन्दुद्वयमिति स्वभावहेतुः असतः प्रतिभासायोगात् । अथेन्दुद्वयादेर्बहिः सत्त्वे किमिति शुद्धदृशि न प्रतिभासः? यत्र हि बहिरर्थोऽस्ति तत्र योग्यदेशादितः सकलसामग्रीप्रभवसमस्तजनसंविदि प्रतिभा

---

१ अन्यत्रा प्र-आं० । २-वानां त स-भां० मां० ।-वानोनां स-आं० । ३ त र्थेव भां० मां० । तत्रैव आं० । ४ सत्यः हा० वि० । ५-कालं वा भि-आं० । ६ तत्रापि वा० बा० विना । ७-लब्ध भि-आं० विना । ८-न्तरं सं-वा० बा० विना । ९-पहलयि-हा० ।-पदर्शयि-आं० । १० द-र्शनानन्त-वा० बा० विना । ११-दा तत्रा-भां० मां० । १२-भासि र-वा० बा० विना । १३-त्र यद्ये-भां० मां० । १४-भासमये भां० मां० । १५-रभावा तु (वी तु) रज-वा० बा० । १६ तदेव वा० बा० । १७ बोधयेत् इति शेषः । १८-काले । बा० वा० विना । १९-या स्व-वा० बा० । २०-भासि आं० ।-भावि सत्यं वा० बा० । २१-था च तै-वा० बा० । २२-देर्बहिः स-वा० बा० विना । तत्र यो-वा० बा० विना । २४-विदि प्र-वा० बा० ।

समाधत्ते यथा नीलादिः न चेन्दुद्वयं नरान्तरविशदद्दशि प्रतिभाति तद्देशव्यवस्थितपुरुषान्तरसंविदि एकेन्दुमण्डलस्य प्रतिभासनात् ततो ज्ञानाकार एवेन्दुद्वयं न बाह्यम्, असदेतत्; यतो न बहिरर्थाः सन्निधिमात्रेण ज्ञाने प्रतिभासमादधति किन्तु स्वसामग्रीवशात् अन्यथा अत्वा(न्धा)दिदृशि प्रतिभासमादध्युः । अथ लोचनाद्यभावात् नान्धादिदृशि तत्प्रतिभासः, नत्वे(न्वे)वं तिमिरादिसामग्र्यभावात् शुद्धदृशि हिमकरद्वयादेरप्रतिभासमानत्व(त्वम्) । न च स्वसामग्रीवशात् क्षपाकरयुगलं संविदि भासमानं ज्ञानस्वरूपमेव, बहिर्ग्राह्याकारतया प्रतिभासमानस्य इन्दुद्वयस्यान्तर्ग्राहकाकारतया-(याऽ)प्रतिभासनात् ज्ञानरूपत्वायोगात् तद्रूपत्वे वा ग्राहकाकारतया प्रतिभासमानज्ञानस्यापि तथाप्रतिभासमानस्यार्थरूपताप्रसङ्गः। तत्र(त्र) बहिर्ग्राह्याकारतया प्रतिभासमानस्येन्दुद्वयादेर्विज्ञप्तिरूपता, परिशुद्धविशदद्दगवसेयस्य तु स्तम्भादेः सुतरां ज्ञानरूपतानुपपत्तिः । तन्न अध्यक्षं बहिरर्थाऽवभासि तदभावं गमयति । न चाध्यक्षमभावग्राहि, तस्य तुच्छतया तद्विषयत्वायोगात् । न च वस्तुत्वादसदंशः प्रत्यक्षग्राह्यः इन्द्रियसम्बन्धाभावेन तस्यापि प्रत्यक्षत्वायोगात् तदसम्बन्धस्तु योग्यताभावात् इन्द्रियस्य । उक्तं च—

"न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।

भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि" ॥ [श्लो० वा० अभाव० श्लो० १८] इति ।

तन्नोभयरूपोऽप्यर्थाभावोऽध्यक्षवेद्यः ।

नाप्यनुमानं बाह्याभावमावेदयति, प्रत्यक्षाभावे तस्यायोगात् । न च प्रत्यक्षविरोधे अनुमानस्य प्रामाण्यं सम्भवति "प्रत्यक्षनिराकृतो न पक्षः" [ ] इति वचनात् । न च बाह्यार्थवेदकस्याध्यक्षस्य भ्रान्तत्वान्न तेनानुमानबाधेति वक्तव्यम्, इतरेतराश्रयप्रसक्तेः । तथाहि-अर्थाभावे सिद्धे तद्ग्राहि अध्यक्षं भ्रान्तं सिध्येत्—अन्यथा कथमवितथार्थग्राहिणो भ्रान्तता—भ्रान्तत्वे च तस्य सिद्धे अर्थाभावानुमानस्ये(स्य) न तेन बाध्यते(बाधेति) व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । न च तद् अध्यक्षमेव न भवति अनुमानेन बाधनादिति वक्तव्यम्, अनुमानेऽप्यस्य पर्यनुयोगस्य समानत्वात् । [?? तथाहि-बाह्याभावग्राह्यस्य भ्रान्तत्वात् तेनानुमानबाधेति वक्तव्यम् इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः । तथाहि-अर्थाभावे सिद्धे बलादनुमान(नं) प्रमाणमिति दर्शनाभावेऽप्यर्थाभावसिद्धिः तत्प्रतिबन्धसिद्धेः अध्यक्षसिति[11] तत्त्वात् अन्यथा अनवस्थापत्तेरिति नानुमानवेद्योऽप्यर्थाभावः ??] ।

१-था दि-भा० मा० ।-था दि प्रति-आ० । २-मग्र्या भा-भा० मा० । ३-मग्रीसमावेशात् आ० । ४ न बाध्य-आ० ह० वि० । ५ "संयोगो"-श्लो० वा० ।

६ "साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः" । १४ ।

"प्रतिपाद्यस्य यः सिद्धः पक्षाभासोऽक्षलिङ्गतः । लोक-स्ववचनाभ्यां च बाधितोऽनेकधा मतः" ॥ २१ ॥

—न्यायावता० ।

"पक्षः × × × प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेषः"—न्यायप्रवेशसू० पृ० १ पं० ६ ।

"साधयितुमिष्टोऽपि प्रत्यक्षादिविरुद्धः पक्षाभासः"—न्यायप्रवेशसू० पृ० २ पं० १३ ।

'प्रत्यक्षादयो वक्ष्यमाणलक्षणास्तैर्विरुद्धः निराकृतः प्रत्यक्षादिविरुद्धः । किम् ? पक्षाभासः"—न्यायप्रवेशसू० वृ० पृ० १९ पं० १८ ।

"स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति" ॥ ४० ॥—न्यायविन्दुप्र० तृतीयप० ।

"अनिराकृत इति-एतल्लक्षणयोगेऽपि यः साधयितुमिष्टोऽप्यर्थः प्रत्यक्षाऽनुमानप्रतीति-स्ववचनैर्निराक्रियते न स पक्ष इति प्रदर्शनार्थम्" ॥ ५० ॥ न्यायबिन्दुप्र० तृतीयप० ।

"प्रत्यक्षनिराकृतो न पक्ष इत्यभिधानात्"—प्रमेयक० पृ० २१ प्र० पं० ६ ।

७-माने बा-भा० मां० विना ।

"न च बाह्यार्थवेदकाध्यक्षस्य भ्रान्तत्वात्त तेन अनुमानबाधेत्यभिधातव्यम्, अन्योन्याश्रयात्-सिद्धे ह्यर्थाभावे तद्ग्राहि अध्यक्षं भ्रान्तं सिध्येत् तत्सिद्धौ च अर्थाभावानुमानस्य तेन अबाधेति"—प्रमेयक० पृ० २१ प्र० पं० ६ ।

८-त्वात् तथाहि अर्था-आ० । ९-त्वा तेना-वा० बा० । १०-यप्र-वा० बा० । ११-ति त्वत्वात् वा० बा० ।

अपि च, तदनुमानं किं कार्यलिङ्गप्रभवम्, स्वभावहेतुसमुत्थं वा, उतानुपलब्धिप्रसूतमिति विकल्पत्रयम्। न तावत् प्रथम-द्वितीयपक्षौ कार्य-स्वभावहेत्वोर्विधिसाधकत्वाभ्युपगमात् "अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ" इधि वचनात् ("अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ" [न्यायबिन्दु० परि० २ सू० १९] इति वचनात्)। नापि अनुपलब्धिप्रसूतमिति पक्षः अनुपलब्धेरसिद्धत्वात्(रसिद्धत्वात्) बहिरर्थस्य प्रति-५भासनात्। उपलभ्यानुपलब्धिस्वा(स्त्व)भावा(व)साधनी सा च नियतदेश-कालमेवार्थाभावं गमयति न सर्वत्र सर्वदेति न ततोऽपि सर्वथा अभावसिद्धिः। तद् भावबाधकप्रमाणाभावात् नार्थाभावतो निराप्तिमात्रसिद्धिः।

अथापि स्यात् नार्थाभावद्वारेण विज्ञानमात्रं साध्यते अपि त्वर्थ-संविदोःसहोपलम्भनियमादभेदः चन्द्रद्वयादिवदिति वि(विधि)मुखेनैव साध्यत इति न पूर्वोक्तो दोषः, असदेतत्; अभेदस्य १०प्रत्यक्षेण बाधनात् यतः पुरस्स्फुटवपुर्नीलादि प्रतिभाति हृदि रूपग्राहकाकारं विज्ञाणा संविचकास्तीति कुतोऽध्यान्तसं(कुतोऽर्थ-तत्सं)विदोरभेदः साधयितुं शक्यः शब्देऽश्रावणवत्(णत्ववत्) पक्षस्य प्रत्यक्षेण निराकृतेः, न वा(चा)भेदेऽपि प्रत्यक्षं भेदाधिगमनुपलब्धमिन्दुद्वयादिवत् इति न तेव(तेन) बाधा यतो द्विचन्द्रादौ बाधादर्शनात् तस्य भ्रान्तत्वमस्तु स्तम्भादौ त्वर्थक्रियाकारिरूपोपलब्धि(ब्धे)स्तदभावास्त(त्स)त्यता ततो नील बुद्ध्योर्भेद एव। असिद्धश्चायं हेतुर्मीमांसकमतेन वि-१५ज्ञानव्यतिरेकेण बाह्यार्थस्यैवोपलम्भात् प्रत्यक्षार्थव्यतिरिक्तस्य तदा ज्ञानस्यानुपलक्षणात्। न चान्तः-सुखाद्या(द्या)कारज्ञानोपलम्भात् सिद्धो हेतुरिति वक्तव्यम्, सुखादेर्बाह्य(ह्य)संवेदनं प्रति व्यापारासंवेदनात्। नहि सुखादयः स्वरूपनिमग्नतया प्रतिभासमानास्तदैवार्थग्राहितया प्रतीयन्ते। न च समकालप्रतिभासनात् व्यापारमन्तरेणापि नीलादिग्राहकाः, तेषामपि तद्ग्राहकतापत्तेः। यदि च नीलादी(लादी)नां सुखादिकं ग्राहकं तथासति तदभावे नीलादीनां ग्रहणं न स्यात्। नहि यद् यद्ग्राह्यं तत् २०तदभावे प्रतिभाति चक्षुरभाव इव रूपम् चक्षुःसमवधाने व(च) सुख(खा)भावेऽपि नीलमाभाति [?? नापि तस्य तद्ग्राहकम्। यदि च सुखादिरूपैव संविद् नान्या एवंसति सुखाद्यभावेऽपि नीलादिकस्य स्फुटतया प्रतिभासात् तदा मानसस्य च सुखादेर्नीलावभासावेप्यवभासनत्वासिद्धो नीलादीनां ग्रहणं न स्यात् नहि यद् यदग्राह्यं तत् तदभावाद्धियोः सहोपलम्भनियमः नियतकादाचित्कसहोपलम्भतो—यो-

१ अत्रे न्द्रौ वा० बा० विना।

"अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ एक प्रतिषेधहेतु" ॥ १९ ॥–न्यायबिन्दुप्र०।

" 'अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ' इत्यभिधानात्"–प्रमेयक० पृ० २१ प्र० पं० ८। २–धनादिवचनाद्गाप्यनु–भां० मां० हा० वि०।–धनाद्गाप्यनु–आ०। ३–लब्धिर–भां० मां०। ४–द्धा व–आ०।

"अनुपलब्धेरसिद्धत्वात् बाह्यार्थस्याध्यक्षादिनोपलम्भात्। किञ्च, अदृश्यानुपलब्धिस्तदभावसाधिका स्यात् दृश्यानुपलब्धिर्वा? प्रथमपक्षे अतिप्रसङ्गः। द्वितीयपक्षे तु सर्वत्र सर्वदा सर्वथा अर्थाभावाऽप्रसिद्धि प्रतिनियतदेशादावेव अस्यास्तदभावसाधकत्वसम्भवात्"–प्रमेयक० पृ० २१ प्र० पं० ९। ५–लब्धिस्थाने भा–बा० बा० विना। ६ तदन्ना–बा० बा०। ७–विदोपलम्भ–बा० बा० विना। ८ "द्विचन्द्रदर्शनवदिति विधिद्वारेणैव साध्यते"–प्रमेयक० पृ० २१ प्र० पं० १२। ९–दस्य प्रत्युक्षेण वा० बा०।–दस्य प्रत्युपेक्षण हा० वि०।–दप्यस्य प्रत्युपेक्षण भां० मां०। "अभेदपक्षस्य प्रत्यक्षेण बाधनात् शब्दे श्रावणत्ववत्"–प्रमेयक० पृ० २१ प्र० पं० १२। १० पुरस्य फुटव–(पुरस्थं स्फुटव)–बा० बा०। ११ कुतोध्वंतसं–मां०। कुतोध्वंतसवि–भा०। कुतोध्वंतसंविवि–बा० बा०। १२ शब्दे श्रावणाव–बा० बा०। १३–धिगनुप–भा० मां०।–धिगंनुमंप–बा० बा०। १४ बाधद–भां० मा०। १५ "अर्थक्रियाकारिस्तम्भाद्युपलब्धौ तु तदभावात् सत्यता"–प्रमेयक० पृ० २१ प्र० प० १४। १६–बुद्ध्याभेे–आ०।–बुद्ध्यादेभे–वि० स०। १७ न चान्तसु–भा० मा०। न चान्तासु–बा० बा०। न चान्तसु–हा० वि०। १८–पारसं–आ०। १९–लादीना सु–बा० बा० विना। २०–दिकां ग्रा–बा० बा० आ० विना। २१–भाति भाति चक्षु–बा० बा० भां० मां०। २२ एवंसन्ति भा० मा० हा० वि० विना। २३–खाद्याभावे आ० विना। २४ तदी मा–बा० बा०। २५–खादेनी–बा० बा० विना। २६–लावभासायप्येवभा–आ० हा०।–लावभासावप्यवभा–वि०।–लावभासाभावेप्यवभा–वि० स०।–लावभावप्येवभा–मां०।–लावप्येवभा–भा०। २७–भावाद्धियोः भा० मा० आ० हा० वि०। २८–म्भनियमःऽनयतका–बा० बा०।–म्भनियतका–भां० मा०। २९–म्भतो—यो नि–हा० वि०।–म्भन्तो योर्नि–बा० बा०। —तोययोर्नि–वि० सं०।

नियमो युक्तः नील-पीतयोरपि तथाभावप्रसङ्गात् ततः सुखादिरूपा न बुद्धिः ??] नापि नीलोपलम्भकाले प्रतिभाति केवलस्य नीलस्यैव तदा प्रतिभासात्(सात् पश्चात्) त्वर्थप्रत्यक्षता अन्यथानुपपत्त्या गम्यते।

अन्ये तु(तु) मन्यन्ते पश्चादपि प्रत्यक्षतैव बुद्धिः प्रतीयते न पुनः सा सर्वदा परोक्षेत्यसिद्ध एव सहोपलम्भनियमः क्रमेण नील-तद्धियोः प्रतिभासात् अथा(थ) नीलप्रतिभासकाले तद्बुद्धिः५ प्रत्यक्षा भवेत् तथापि सहोपलम्भश्च भवेत् भेदश्चेति नात्र विरोधः तथापि रूपाऽऽलोकयोर्भिन्नयोरपि सहोत्प(प)लम्भात् कथं सहोपलम्भा(म्भ)नियमस्य भेदेन सह विरोधसिद्धिः? न च कार्यकारणभावप्रतिबन्धतो ग्राह्यलक्षणत्वाच्च रूपाऽऽलोकयोर्भेदेऽपि सहोपलम्भः नील-तद्धियोरपि प्रतिबन्धादेव सहोपलम्भसंभवात्। न च तयोस्तुल्यकालत्वात् प्रतिबन्ध एव न संभवतीति वाच्यम् एकसामग्र्यधीनतालक्षणस्य प्रतिबन्धस्य प्रत्यक्षनील-तद्बुद्ध्योः संभवात्। ततः सहोप-१० लम्भेऽपि नाभेदो भवेत्। न चाभेदेन व्याप्तः सहोपलम्भः सिद्धः येन ततस्तत्सिद्धिः स्यात्। अथ द्विचन्द्रादावभेदे सहोपलम्भदर्शनाद् अन्यत्रापि ततोऽभेदः, नैतत् सारम्; दृष्टान्तमात्रात् साध्यसिद्धेरयोगात् अन्यथा हेतुवैयर्थ्यप्रसक्तेः। न चाभेदव्याप्तः कश्चिद्धेतुरस्ति। न च दृष्टान्तोऽपि सिद्धः चन्द्रद्वयादेरपि ज्ञानाद् भिन्नत्वेन प्रतिपादितत्वात्। अनैकान्तिकश्चायं हेतुः सर्वज्ञज्ञानस्य पृथग्जनचित्तस्य सहोपलम्भेऽपि भेदाभ्युपगमात्। न च सर्वज्ञज्ञानसंवेदनं विनापि पृथग्जन-१५ चित्तसंवेदनसंभवात् न तत्र सहोपलम्भनियम इति वाच्यम् यतः परदर्शं विनापि तद्ग्राह्यं नीलादि पृथग्नैरान्तराण्युपलम्भत(लभन्त) इति तद्दर्शनात् तदपि भिन्नमस्तु। अपि च, 'सह शिष्यैर्न पण्डितः' इति 'सह'शब्दो भेद एवोपलभ्यः ततो हेतुर्विरुद्धो भवेत् सहभावविवक्षायां भेदेन व्याप्तत्वात्। अथ 'सह'शब्दो नैव सहभावार्थवृत्तिः किन्तु एकार्थवृत्तिः ततः 'एकोपलम्भात्' इति हेतुर्विवक्षितः न चासौ विरुद्धः, असदेतत्; एकोपलम्भस्यासिद्धत्वात् तदसिद्धत्वं च नील-२० तद्धियोर्भेदोपलम्भात्। तथाहि-बहिर्गतत्वेन देश-कालादिभिन्नतया ग्राह्यतया नीलं भिन्नमाभाति अन्तर्गतत्वेन सुखादिरूपतया ग्राहकरूपापन्ना बुद्धिराभातीति न तयोरेकोपलम्भः सिद्धः।

किञ्च, एकस्यैवोपलम्भो ज्ञानस्य, अर्थस्य वा? यदि ज्ञानस्यैव तदा हेतुरसिद्धः नहि परं प्रति ज्ञानस्यैवोपलब्धिः सिद्धा अर्थस्याप्युपलब्धेः। न च तस्याभावात् अनुपलब्धिः इतरेतराश्रयदोषात्। तथाहि-अर्थाभावे सिद्धे ज्ञानस्यैवैकस्योपलम्भः सिद्धो भवति तदुपलम्भसिद्धौ चार्था-२५ भाव इतीतरेतराश्रयत्वम्। न चैकस्य ज्ञानस्योपलम्भ एवेति हेत्वर्थो युक्तः नीलादेरुपलम्भानिराकरणात्। एवं च कथमर्थाभावसिद्धिरित्यनैकान्तिक एव हेतुः। अथ अर्थस्यैवैकस्योपलम्भः एवमपि नार्थाभावसिद्धिः न च 'तथासंवेदनात्' इत्ययमपि हेतुः, असिद्धत्वात्। तथाहि-यादृग्भूतं ज्ञाने संवेदनं(नं न) तादृग् अर्थे स्वप्रकाशरूपत्वा(त्वात्) ज्ञानस्य इतरस्य च तद्विप-

---

१ "ज्ञाते त्वर्थेऽनुमानादवगच्छति बुद्धिम्" इति मीमांसकाभिमतम् अष्टस० पृ० ५७ पं० ७। २ अन्येऽनुम-वा० धा०। अन्येऽम-आ०। ३-त च भा० मा०। ४ परोक्षत्यसि-भा० मा० हा० वि०। परोक्षस्य सि-आ०। ५-तद्धियो प्र-भा०।-तद्धियोग प्र-मा०। ६-काले न बुद्धि प्र-वा० बा० भा० मा० विना। ७-क्षाभावात् वा० धा० विना। ८-म्भश्चाभ-वा० बा०। ९ सहोपलम्भान्नि-वा० धा० विना। १० सर्वज्ञान-वा० बा०। ११-त्तस-वा० वा० विना। "तथा सर्वज्ञज्ञानस्य तज्ज्ञेयस्य चेतरजनचित्तस्य सहोपलम्भनियमेऽपि भेदाभ्युपगमादनैकान्त."-प्रमेयक० पृ० २१ प्र० पं० १५।

अत्र पृथग्जनव्याख्या—

"एको पुब्बे चरित्वान मेथुनं यो निसेवति। यानं भतं व तं लोके हीनं आहु पुथुज्जनम्" ॥ ८१६॥

। -सुत्तनिपाते पृ० १२४।

"द्वे पुथुज्जना [अन्धो च कल्याणको च] वुत्ता"-मज्झिमनिकाये पृ० २३१ अ० २। "अनरियो तु पुथुज्जनो" ॥ ३५ ॥ "नीचे पुथुज्जनो" ॥ ८४ ॥-अभिधानप्प० पृ० ६४ तथा ११८। १२ न स-वा० मा०। १३-नरान्तरातराण्यु-आ०। १४-ण पिण्डि-वा० वा०। १५-शब्दे भेद एवोपलब्धिस्ततो वा० बा०। १६ एकेप-भा० मा०। १७-द्धौ त्वर्थो-वा० बा० विना। १८-लम्भनि-वा० वा० विना। १९ तातद-भा० मा०। २० अर्थो स्व-वा० बा० विना।

येयात्। अर्थस्य हि ज्ञानाधीनः प्रकाशः[1] जडत्वात्[2] न त्व(स्व)यम् ततो यदि स्वप्रकाशनं तथा-
संवेदनं हेत्वर्थस्तदाऽसिद्धः(द्धिः) तदर्थस्य[3]। अथ संवेदनसामान्यं[4] स्वपरसंविदो हेतुः तस्य प्रतिबन्धो
वाच्यः यतः साधारणं सत् तदर्थ-ज्ञानयोः ज्ञानात्मतामेव साधयति । अथापि 'संवेदन'शब्दो[5]
हेतुः सोऽपि प्रतिबन्धाभावादेव न साध्यं साधयति[6]। किञ्च, तदा(था)संवेदनं नीलादीनामभावसा-
५ धनत्वेनोपन्यस्यते, उत ज्ञानात्मकताप्रसाधकत्वेन? यद्याद्यः पक्षः स न युक्तः, हेतोर्विरुद्धत्वप्रसक्तेः
उपलब्धेः सत्तया[7] व्याप्तत्वात् नह्यसदुपलभ्यते तथाभ्युपगमे वा ज्ञप्तावप्यसत्त्वप्रसक्तिः । न चासतो-
ऽनुपलम्भे द्विचन्द्रादेरनुपलब्धिप्रसक्तिः तस्यापि सत्तायोगित्वप्रतिपादनात्। यदि वा संवेदनं सति
ज्ञाने असति च चन्द्रद्वये उपलब्धमित्यनैकान्तिकमस्तु । अथ ज्ञानात्मकता तथासंवेदनात् साध्यते
तत्रापि वक्तव्यम्-किं ज्ञानात्मकत्वेन नीलादेः संवेदनम्, उत व्यतिरिक्ततया? प्रथमपक्षे ज्ञानात्मकं
१० संवेदनं नीलादेर्हेतुः स चाध्यक्षसिद्धोऽभ्युपगन्तव्य इति नापरं साध्यमस्ति यदर्थं हेतुः स्यात्।
द्वितीयपक्षेऽपि हेतुर्विरुद्धः भिन्नरूपं हि संवेदनं भेदमेव साधयति नैकत्वमन्यथा भेदोपरतिप्रसक्तेः
तद्यमपि हेतुर्न युक्तः। इति न कुतश्चित् विज्ञप्तिमात्रसिद्धिः।

[उत्तरपक्षः–विज्ञानवादिभिर्योगाचारैः विज्ञप्तिमात्रस्य स्थापनम्]

अत्र प्रतिविदधति-यत् तावदुक्तम्[10] 'कथं प्रत्यक्षप्रतीतवपुषां नीलादीनामभावः साधयितुं
१५ शक्यते' इति, तत्र[11] प्रत्यक्षेणार्थपरिच्छेदाऽसंभवात् कथं नीलादीनां प्रत्यक्षपरिच्छेद्यता? तथाहि-
प्रत्यक्षमर्थं तुल्यकालं वा प्रकाशयति, भिन्नकालं वा? तुल्यकालमपि प्रत्यक्षम्, परोक्षं वा? यदि
प्रत्यक्षं[12] ज्ञानमर्थात्मानं तुल्यकालमवभासयति तथासति यदैव[13] ज्ञानमवभासतेऽध्यक्षतया[14] तदे(दै)व[15]
नीलादिस्वरूपमपि परिस्फुटमाभाति स्वरूपनिष्ठयोर्द्वयोरपि प्रतिभासनात् कथं ग्राह्यग्राहकभावः?
तथाहि-ज्ञानं नीलाकारविविक्तं स्वरूपनिमग्नं हृदि संधीयते[16] अर्थस्तु तद्रूपपरिहारे(रेण) बहिः
२० स्फुटवपुः प्रतिभाति। न च दर्शनप्रतिभासकाले नीलं स्वरूपनिष्ठं प्रतिभातीति तद्ग्राह्यं युक्तम्
ज्ञानस्यापि नीलावभासकाले प्रतिभासनात् तद्ग्राह्यतापत्तेः। न च दर्शनं बहिरर्थसंविदं[17] प्रति ग्रहण-
क्रियामुपरचयतीति तद् ग्राहकम् नीलं तु तत्प्रतिबद्धप्रकाशतया ग्राह्यमिति वक्तव्यम्, नील-दर्शन-
व्यतिरिक्ताया ग्रहणक्रियाया अभावात् यतो न तथाभूततद्द्वयव्यतिरिक्ता ग्रहणक्रिया प्रतिभाति। न च
तामन्तरेण कर्तृ-कर्मते नील-बोधयोर्युक्ते[18] अतिप्रसङ्गात् । भवतु वा तद्व्यतिरिक्ताऽपरा क्रिया तथा-[22]
२५ पि परोक्षायां तस्यां नीलादेः कर्मत्वम्[19] बन्धोतस्य[20](कर्मत्वं बोधस्य) च कर्तृत्वमतिप्रसक्तेः[21]तोऽयुक्तमिति
प्रतिभासना(समान)तनुः अभ्युपगन्तव्या तथाभ्युपगमेऽपि च [23]किंचित्(किं) सा स्वरूपेण प्रतिभाति,
उत तद्ग्राह्यतयेति वक्तव्यम्। प्रथमपक्षे क्रिया स्वरूपनिमग्ना प्रतिभातीति नीलम् बोधः ग्रहणक्रिया
चेति [24]त्रितयं स्वतन्त्रमाभातीति न कर्म-कर्तृ-क्रियाव्यवहृतिर्युक्तिमती। न च परस्परस्वरूपविविक्त-
निर्भासादेव कर्म-कर्तृ-क्रियाव्यवहारः, स्तम्भादेरपि तथापरस्परव्यवहारप्रसक्तेः। अथ ग्राह्यतया
३० क्रिया प्रतिभाति तदा तस्या अप्यपरक्रिया विषयीक्रियमाणायाः कर्मता तत्क्रियाया अप्यपरक्रिया-
न्तरविषयीक्रियमाणायाः कर्मतेति निरवधिः क्रियापरम्परा प्रसज्येत । अथा(थ)[25] क्रियान्तरमन्तरेण
ग्रहणक्रियाया ग्राह्यता, नन्वेवं नीलादेरपि ग्रहणक्रियाव्यतिरेकेण स्वप्रकाशवपुषः ग्राह्यता समस्तु
तथा च नीलादीनां स्वरूपमेव प्रकाशात्मकमिति विज्ञप्तिमात्रमेव सर्वं भवेत्। अपि च, बोधककाले
(बोधकाले) यदि संवेदनक्रिया विद्यमाना तदा समानकालतया प्रतिभासनात् कथं ज्ञानस्य संवित्क्रिया-

---

१ प्रकारः प्रकाशः वा० बा० । २-त्वान्नन्वय ततो आ० ।-त्वान्नत्वायं ततो हा०।-त्वान्नत्वाय ततो वि० । ३-सिस तद-वा० बा० । ४-सामां स्वप-भां० मां० । ५-शब्दे हे-भां० मा० । ६ न साधयति भा० मां०। ७ सत्ताया वा० बा० आ० । ८-सता नु-वा० बा० विना । ९ सत्वायो-वा० बा० भा० मां० । १० पृ० ३४९ पं० २५ । ११ तन्न प्र-वा० बा० आ० हा० वि० विना । १२-त्यक्षक्षा-वा० बा० भां० मां० विना । १३ यदेव हा० वि० । १४-नमेव भा-वा० बा० विना । १५ तथैव वा० बा० । १६ संधेय-आ० विना । १७-दं बहिरर्थग्रहणक्रिया-वा० बा० । १८-का क्रिया आ० । १९-सम्बन्धो तस्य भां० मां० आ० हा० । २०-स्य कर्तृ-वा० बा० । २१-क्तो यु-भां० मां० हा० वि० । २२-ति भास तनुः अ-वा० बा० वि० विना । २३ किञ्चि सो स्व-वा० बा० । २४ त्रितीयं बा० वा० विना । २५ अथार्थं था-आ० । अर्थान्नि-भां० मां० ।

(यां) प्रति कर्तृता? नहि समानकालयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव हेतुफलभावः। अथ बोधोत्तरकालभाविनी क्रिया तथापि यदा ज्ञानसत्ता न तदा संवित्क्रिया यदा तु संवेदनक्रिया प्रतिभाति न तदा ज्ञानप्रतिभास इति कथं हेतुफलभावः? न च पूर्वं स्वरूपेण बोधः प्रतिभातः पश्चात् नयनादिसामग्रीवशात् संवेदनक्रियायुक्तो भातीति कर्त्ताऽसाविति वक्तव्यम् यतो यदा संवित्क्रियायुक्तो बोधः प्रतीयते न तदा तत्पूर्वदशावगमः यदा च तदवगमः न तदा संविद्युक्तावस्थाधिगतिरिति न पूर्वापरकालावगतिस्तयोरवस्थयोः तदभावे च कथं बोधस्य ग्रहणं प्रति कर्तृताप्रतीतिः? अथ नीलानुभवसमये पूर्वदर्शी स्मरन् बोधस्यानुभवं प्रति कर्तृतां प्रतिपद्यते, अयुक्तमेतत्; नीलपरिच्छेदकाले बोध-ग्रहणयोः परस्पराऽसंसक्तयोः समानकालयोः प्रतिभासनात् कर्तृतावगमासम्भवात्। न च बोधस्य पूर्वावस्थामध्यवस्या(स्य)दपि स्मरणं ग्रहणावस्था(स्थां) प्रतिपद्यत इति कथं तत् कर्तृतामुद्द्योतयितुं प्रभु(भुः)? न च बोधात्मैवात्मानमुपलभत इति कर्तृतावगतिः यतो यदा नीलग्राहकमात्मानं बोधः प्रतिपा(प) १० द्यते न तदा पूर्वसत्तामनुभवकर्त्री(र्त्रीं) प्रतिपद्यत इति कथं ग्रहणं प्रति जनकतामात्मनोऽसावधिगच्छति? न च प्राक्तनीमग्रहणावस्था(स्थां) नीलाऽवभासकालेऽसावध्यवसी(वस्यति) प्रतिभासयोः युगपद्विरुद्धयोरापत्तेः तस्मात् समानकाले(लो) बोधो न ग्रहणक्रियामुपजनयितुं समर्थ इत्यग्राहक एव।

किञ्च, यदि बोधो व्यतिरिक्तां ग्रहणक्रियामुपरचयति नीलस्य किमायातं येन तद् ग्राह्यं भवेत् १५ विज्ञानं तद्ग्राहकमिति। न च संविदुत्पत्तावपरोक्षतया नीलमाभातीति ग्राह्यं संविदुत्पादेऽपि तस्याप्रकाशात्मकस्य प्रतिभासायोगात्। तथाहि-नीलादिरर्थो जडरूपत्वात् न स्वयं प्रतिपत्तिगोचरतामवतरतीति दर्शनं प्रकाशकमस्याभ्युपगतम्, यदि पुनः स्वप्रकाशात्मकं नीलं स्यात् तदा 'विज्ञप्तिरूपं नीलम्' इति परवाद एवाभ्युपगतो भवेत्। यच्चाप्रकाशात्मकं वस्तु तत् प्रकाशसद्भावेऽपि नैव प्रकाशते यतो न प्रकाशात्मा नीलं सद्भामति भेदमतिहतिप्रसङ्गात्। न चार्थाकारकार्यतया प्रकाश- २० स्यार्थस्य प्रत्यक्षता, यतोऽपरोक्षाकाररूपत्वे तस्य प्रत्यक्षता युक्ता यथा नीलस्वभावतायां नीलस्य नीलरूपता न तु प्रकाशात्मनं(नः) कार्यस्योद्भूतेः अर्थकार्यतया हि तत्सम्बन्धिता प्रकाशस्य सङ्गता यथा नयनकार्यतया तत्सम्बन्धिता न तु तत्स्वरूपं प्रकाशः। अथेन्द्रियाणां ज्ञाने स्वरूपाऽनर्पणाद-(दप्रत्य)क्षता अर्थस्य तु तत्र स्वरूपपरिच्छेदात् प्रत्यक्षता, असदेतत्; अर्थस्य प्रत्यक्षस्वरूपासम्भवात् यतो न नीलादेः स्वरूपं बहिरुन्मुखताऽप्रतीतिः(?) यथाप्यपरा बहिरुन्मुखता तत्रास्ति तथापि स्वरूप- २५ मात्रनिमग्ना प्रतिभासमानमूर्त्तिः सा तृतीया सिद्धेति न तद्वशाद् बोधस्य ग्राहकता सिद्धो(द्धा) तत्र नील-संविदोस्तुल्यकालं प्रतिभासनादपरव्यापाराभावतः स्वस्वरूपनिमग्नयोर्वेद्यवेदक(कता) न च नीलतत्संवेदनद्वयस्य स्वरूपनिमग्नस्य स्वतन्त्रतयावभासने तदुत्तरकालभावी कर्म कर्त्रभिनिवेशी 'नीलमहं वेद्मि' इत्यवसायो न स्यात् नहि पीतदर्शने नीलोल्लेख उपजायमानः संलक्ष्यते भवति च तथाऽध्यवसायी विकल्प इति तयोर्ग्राह्यग्राहकतेति वाच्यम्, मिथ्यारूपकल्पनया ग्राह्यग्राहकरूपतायाः परि- ३० च्छेदासम्भवात्। तथाहि-'नीलम्' इति प्रतीतिः पुरोवर्त्ति नीलमुल्लिखन्ती वर्त्तमानदर्शनानुसारिणी भिन्ना लक्ष्यते, 'अहम्' इत्यात्मानं व्यवस(स्य)न्ती स्वानुभवायत्ता लक्ष्यपरा प्रतीयते, 'वेद्मि' इति प्रतीतिरप्यपरैव क्रियाव्यवसितिरूपा परस्पराऽव्यतिमिश्रसंविंत्तिनितया(य)मेतत्। नातः कर्म-कर्तृ क्रियाव्यवस्था।

भवतु वैकेयं कल्पनाप्रतीतिः कर्म-कर्तृ-क्रियाव्यवसायिनी तथापि नातो ग्राह्य ग्राहकता सत्या, ३५ मृगतृष्णिकासु जलाध्यवसायाज्जलसत्यताप्रसक्तेः। न चात्र बाधातोऽसत्यता प्रकृतेऽप्यस्य समानत्वात्। तथाहि-कल्पनोल्लिख्यमानस्य कर्म-कर्तृभावस्य नील-संविदोः स्वतन्त्रतया निर्भासोऽस्त्येव बाधक इति कथं न ग्राह्यग्राहकभावोऽसत्यः? किञ्च, भ्रान्तेऽपि प्रत्यये ग्राह्यग्राहकतोल्लेखे(खो) दृश्यते,

---

१-स्तयोस्तदव-भा० मा०। २-वसाद्-आ० विना। ३-साति भा-बा० बा०। ४ तत् तस्या-आ० हा० वि०। ५-फ प्र-बा० बा०। ६-भा यो-आ०। ७ पराद्द् वाद-बा० बा०। ८-घतयां बा० बा०। ९-काशोत्मन का-बा० बा०।-काशात्मकं नं का-हा० वि०। १० न नु त-बा० बा० आ०। ११ यतो नी-बा० बा० विना। १२ सिद्धौ त-बा० बा० विना। १३-यतोदक-बा० मा०। १४-त्ति-त्वतायामेतत् भा० मा० हा० वि०।-त्तित्वतया मतव नात क-आ०।

न च तदुल्लेखमात्रभ्रान्तदर्शनावभासिनः केशादेः सत्यता। अथ तत्र बाधकसद्भावादसत्यता, न; बाधाऽयोगादित्यभिधानात्। [?? न च बहिरर्थाभावेऽपि कथं ग्राह्यताऽध्यवसायादयः वितथदर्शनावसेये केशकलापाध्यवसायेऽप्य(प्यस्य) समानत्वात्। अथात्र सत्यकेशग्राह्यताऽध्यारोप्यते वितथकेशाभावे अर्थाभावे तु सर्वसंविदां न क्वचित् पूर्वदर्शनदृष्टा ग्राह्यता वर्तमानदर्शनेऽध्यारोप्यते तत्रा-
५प्यपरपूर्वदर्शनदृष्टा तत्राप्येवमित्यनादिरध्यारोपपरम्परा बहिरर्थाभावेऽपि व्यवहारनिबन्धनं युक्तेति ??]। अपि च, तुल्यकालं प्रकाशमानवपुर्नीलमुद्भासयन्ती(न्तीं) प्रतीतिमभ्युपतेत्य(भ्युपेत्य) व्यापाराभावाद् ग्राह्यग्राहकभावे(वः) प्रतिक्षिप्तः सैव प्रतीतिर्विचार्यमाणा न सङ्गच्छते कुत एवार्थग्राहिणी स्यात्? तथाहि-अनुभूयमानमर्थाक(का)रं विहाय नान्या प्रति(?)यदाभाति यतः प्रकाशमानं नीलादिकं बहिः अन्तश्च सुखादि स्वसंविदितं विरहय्य नान्या संवित् सता(ती) कदाचित्
१०प्रतिभाति इत्यसती सा कथमर्थग्राहिणी भवेत्? न च सुखादिकमेवाहंकार(रा)स्पदस्य(?)तं हृदि परिवर्तमानं नीलादेर्ग्राहकम्, सुत्पादेः(सुखादेः) प्रतिभासमानवपुषो ग्राहकत्वानुपपत्तेः। तथाहि-सुखादयः स्वसंविदिता हृदि प्रकाशन्ते नीलादयस्तु बहिस्तथाभूता एवाऽऽभान्ति, न च परस्पराऽसंस्पृष्टवपुषोस्तयोः समानकालयोः वेद्यवेदकता, तुल्यकालता(त)या प्रकाशमाननील-पीतयोरपि परस्परतस्तद्भावापत्तेः। न च सुखादिराकारः स्वपरप्रकाशतया प्रतिभासमानो नीलादेर्वेदकः
१५सवितृप्रकाश इव घटादीनाम्। यतो दर्शनात्मनः प्रकाश एव किं बहिरर्थावभासः, आहोस्विद् दर्शनकाले तेषां प्रत्यक्षात्मता? आद्ये विकल्पे ज्ञानात्मनः प्रकाशः स्वसंविद्रूपोऽनुभवः तत् ज्ञानस्य रूपं न बाह्यार्थात्मनाम् अन्यथा प्रत्यक्षात्मतया तयोरभेदप्रसङ्गः। तत्र दर्शनानुभव एव नीलानुभवः। अथ दर्शनसमये प्रत्यक्षं नीलादिस्वरूपं तेषामनुभवः; नन्वत्रापि दर्शनोदयसमये यदि पदार्थप्रत्यक्षता तथासति सामग्रीवशात् प्रत्यक्षाकारं नीलमुत्पादितमिति दर्शनवत् तत् स्वसंविदितं प्रसक्तम्।
२०अत एव दृष्टान्तोऽपि अत्रासङ्गतः। तथाहि-सवितृप्रकाशः स्वरूपनिमग्न एवाभाति घटादिरपि स्वात्मनिश्व(ष्ठ) एव भासत इति नानयोरपि परस्परं प्रकाश्यप्रकाशकभावः। अपि च, आलोकोद्(काद्) घटादिः प्रकाशरूपः प्रादुर्भवतीत्यालोकः प्रकाशकः स्यात्, उपकाराभावे व्यतिरिक्तोपकारप्रादुर्भावे वा घटादीनां प्रकाशायोगात्। न चात्राहङ्कारास्पदंनंतर्दनं(दमन्तर्दर्शनं) बहिःपरोक्षाकारमर्थं जनयति, तुल्यकालतया हेतुफलभावायोगात् उपकार्योपकारकभावमन्तरेण बाह्यार्थानामन्तर्दर्शा
२५चं तद्य(वेद्य)वेदकभावानुपपत्तेः सर्वं वस्तुसं(सं)विन्मात्रकमेवेति स्थितम्।

[?? न च नीलादिव्यतिरिक्तबोधानभ्युपगमे नीलस्वरूपः प्रकाशः पीतस्य प्रकाश न नीलप्रकाश एव पीतस्य प्रकाशोऽभ्युपगम्यते ??] तयोर्भेदेन प्रतिपत्तेः नहि नीलप्रकाशः पीतप्रकाशानुगामितया प्रतिभाति नापि पीतात्मानुभवो नीला(ल)स्वरूपानुभवानुप्रविष्टः प्रकाशत इति कथं नील-पीतयोरनुभवः? तथाभ्युपगमो(मे) वा सर्वपदार्थसङ्कार्य(साङ्कर्य)प्रसक्तिः। न च 'अनुभवः' 'अनुभवः' इत्ये-
३०करूपतयोत्पत्तेरनुभवस्ये(स्यै)कता; प्रतिपदार्थं 'स्वरूपम्' 'स्वरूपम्' इत्येकत्वाध्यवसायोत्पत्तेः सर्व-

---

१-भासित के-आ० हा० वि०। २-धायो-वा० बा० विना। ३-वसेयो के-वा० बा०।-वसे के-भां० मां०। ४ अथात्र समानत्वादथात्र सत्यं के-भां० मां०। ५ सत्यं के-आ० हा० वि०। ६-विदा न भां०। ७ युक्तेचे-आ० विना। ८-य तान्या आ०। ९-मान नी-भां० मां०। १०-रप नान्या सं-हा० वि०।-रप नान्यां सं-भां० मां०।-रप न्या संवि शत कदा-आ०। ११-कारस्पदस्यं तं वा० बा०।-कारस्प तं हा०। १२-कमुत्पादादेः वा० बा० विना। १३-संस्पृष्ट-वा० बा०। १४-प्राराका-भां० मां० आ० हा० वि०। १५-र्शना का-वा० बा० विना। १६-द्रूपानु-आ०। १७ दर्शनानुभव एव नीलानुभवा एव नीलानुभवाऽथ दर्शनानुभवो एव नीलानुभवोऽथ दर्शनसम-वा० बा०। १८-भवोऽत् प्रदर्श-आ०। १९ यदपि पदा-वा० बा० विना। २०-निश्वय ए-आ०।-निश्चय ए-भां० मां० हा० वि०। २१ आलोकोदघटा-हा०। आलोकोद् घटा-वा० बा०। २२-भावेऽपि व्य-आ०। २३-स्पदनंतदर्शनंतद्दर्शनं 'बहिः-आ०।-स्पदनतर्दनं बहि प-वा० बा०। २४-न्तद्दर्शां वा० बा०।-न्तर्दर्शा आ०। २५ च नद्यवेदक-भां० मां०। च नद्यवेदक-आ०। २६ सर्वं वसुसंवि-मां०। सर्वं त्रसुसंवि-भां०। २७-काश न नीलप्रकाशन नीलप्रकाश एव वा० बा०। २८-काशानुरागितया वा० बा० विना। २९ नापि चात्मानुभावा नीलास्व-मां०। नापि वात्मानुभावा नीलास्व-भां०। ३०-तयोरनु-मां०। ३१-त्पत्तिर-भां० मां०। ३२-दार्थ स्वरूपं मित्येकत्वा-आ०।

पदार्थानां स्वरूपस्यैकताप्रसक्तेः । [?? अथ प्रत्यक्ष एव पदार्थस्वरूपामत्यक्षं तद्रूपत्वे ग्रहणरहितस्य(स्यै)- वं तस्य प्रतिभासप्रसङ्गः। अथ व्यतिरिक्तं प्रत्यक्षस्वरूपम् एव(वं)सति सामग्रीवलादुपजातं तदेकत्व- भासनम् नीलादेस्तु परोक्षत्वात् स्वरूपा(पे)ण परिच्छेदासम्भवः । न चाध्यक्षावभासमानरूपोदय- (ये)नीलमध्यक्षीभवति भिन्नाभिन्नविकल्पप्रसङ्गतोऽनुपपत्तेः ??]। अथाध्यक्षं नीलमपरोक्षस्वभावं जन- यतीति ग्राहकम् नीलादेस्त्वध्यक्षरूपतया जन्यमानत्वात् ग्राह्यता, असदेतत्; एककालत्वे नील- ५ -दर्शनयोर्जन्यजनकभावायोगात् भिन्नकालत्वे दर्शनबलादध्यक्षरूपतयोपजायमानं स्वप्रकाशकमिति कथं ग्राह्यता भवेत्? अपि च, यदि प्रकाशविकले नीलं सिध्यति तदा प्रकाशरहितस्य नीलस्य प्रकाशमाविर्भावयन्ती बुद्धिर्भवेद् वेदिका । न च दर्शनविकलस्य परिच्छेदः संभवति तस्य दर्शनेनैव परिच्छेदात्। यदा तु दर्शनमुत्पद्यते तदा तत्काला(ली)नमेवार्थमवभासय(यि)तुमलम् पूर्वसत्तां तु तस्य कथमधिगच्छति? न च प्रत्यक्षमपरं प्राग्भावमर्थस्य वेत्ति तत्राप्यपरापरप्रत्यक्षाभ्युपगमादनव- १० स्थावप(स्थाप)त्तेः । न चार्थस्य प्राग्भावमन्तरेण प्रत्यक्षतानुपपत्तेस्तस्य प्राग्भावोऽनुमानेन साध्यते, प्रत्यक्ष(क्षा)भावेऽनुमानस्याप्रवृत्तेः । यदि प्राग्भावोऽर्थस्य प्रत्यक्षतः सिद्धः स्यात् तदा तत्प्रतिबद्धो- त्तरकालभाविप्रत्यक्षादनुमीयते न चाध्यक्षोदयवेलायाः प्रागर्थसत्ता सिद्धेति तत्प्रतिबद्धतया दर्शनल- क्षणस्य लिङ्गस्याप्रतिपत्तेः । न ततोऽप्यर्थप्राग्भावः सिध्यति । न च प्रागर्थस्य प्राग्भावः सिध्यति, न च प्रागर्थसद्भावमन्तरेण नियता(त)देश-काल दशापरिगतदर्शनानुदयप्रसक्तिः स्वप्नादौ तथाभूतार्थाभा- १५ वेऽपि कुतश्चिद् वासनादेर्निमित्तम्(त्तात्) प्रतिनियताकारदर्शनादयो(नोदया)नुभा(भ)वात् अर्थ- स्य च नियताकारदर्शनाहेतुता । जाग्रद्दशायामपि प्राग्भाविनो(विता) न सिद्धा । न च प्रागर्थसत्ता- विरहे भवतोऽपि किं प्रमाणमिति वक्त(वक्त)व्यम्, यतो यथा नीलविविक्ततया नीलाकारस्य परि- च्छेदात् तत्र नीलरूपताऽभावः तथा परिस्फुटप्रतिभासस्य नीलाकारस्य वर्तमानतया प्रतिभासनात् तस्य पूर्वरूपताविरहः यदि हि तत् तद्रूपं स्यात् तथा(दा) तथैवावभासेत न ह्यन्यरूपमन्यरूपेण २० प्रतिभाति दर्शनस्यैं वेत(तथ्य)प्रसङ्गात्। न च वर्तमानप्रतिभासं नीलं पूर्वरूपतया प्रतिभातीति पूर्वरूपताविरहस्तस्य सिद्धः यथा च पूर्वरूपतां न किञ्चिज्ज्ञानमावेदयति तथा क्षणभङ्गं साध- यद्भिः प्रतिपादितमिति नेहोच्यते । तदेव(वं) दर्शनकाल एव नीलादेरवभासनान्न ग्राह्यता ।

[?? न च तद्दर्शनोपरतावपि परदृशि नीलादेरवभासनात् साधारणतया ग्राह्यता दर्शनां(नं) पुन- रसाधारणतया स्वसन्तानान्तर इति ग्राहकम् साधारणतया पदार्थपरिच्छेदासंभवात् । तथाहि-स्व- २५ दर्शने वस्तु प्रतिभातीति स्वस्वदृष्टतया प्रतीयताम् नरान्तरदर्शनपरिच्छेदेन(म)न्तरेण तद्(दृ)ष्टतया कथं तत्परिकल्पना । न हि परदृगमनन्त(गवगममन्त)रेण तदेव(तदव)गम्यता न च तस्य प्रत्येतुं

---

१ पदार्थसरूपपदार्थस्वरू प्रत्यक्षं वा० वा० । २-रहितास्यैव वा० वा० । ३-च स त-भां० मां० । ४-भास प्रत्यक्ष-भां० मां० । ५-पम् सति वा० वा० । ६-जातं तदेकवभासतम् वा० वा० ।-जातं त तदेकभासं तम् भा० मा० ।-जातं त तदेक भासतम् हा० वि० । ७-त्वाद्रूपेण आ० हा० वि० ।-त्वा पेण भां० मां० । ८-म्भवो न चाध्यक्षाद्रूपेण परिच्छेदासंभवो न चाध्यक्षावभा-भा० मां० ।-म्भवावो न चा———रूपादय-वा० वा० । ९ भिन्ना वि-वा० वा० । १० दर्शनं यला-वा० वा० विना । ११-मानस्व-वा० वा० विना । १२-कल नीलमिति सि-आ० ।- कलं सि-वा० वा० । १३-काशमावि- र्भा-भां० मां० । १४ बुद्धिर्भवेदिका वा० वा० । १५-कलस्य वा० वा० । १६ तदा तदा तत्कालानमे- वा-भां० मां० । १७ तत्कालानविमेवार्थं-वा० वा० । १८-दवस्था-वा० वा० । १९ न वा-आ० हा० वि० । २०-चद्धातिवद्धोत्तर-भा० मां० । २१ न वा-वा० वा० आ० हा० वि० । २२ लिङ्गस्यालप्र-भां० मा० । लिङ्गस्य लिङ्गस्याप्र-आ० । लिङ्गस्यप्र-वि० । २३ तदाभू-वा० वा० । २४-दशनाद्-भां० मां० ।-दर्श- द्-आ० । २५-कालदर्शनहेतु जाग्र-वा० वा० विना । २६-भासे न ह्य-वा० वा० विना । २७-स्य वेत- हा० वि० ।-स्य वेत-भां० मा० । २८ पूर्वं रू-मां० मां० । २९ न च मद्दर्शनो-वा० वा० । ३० तद्- र्शनोप-मा० । तर्शनोप-भां० । ३१ परिद्द-भां० मां० आ० हा० वि० । ३२ स्वसंतातानान्तर-वा० वा० । स्व तानान्तर-भां० मां० । ३३-भातीते स्व-वा० वा० मां० मां० हा० वि० । ३४-प्रती तां नता- न्त-हा० वि० । ३५-दनान्तरे-मां० हा० वि० ।-दनातरे-भां० । ३६-ण द्दृ-भां० मां० । ३७-कल्प्य- तां न वा० वा० । ३८ न च स्य वा० वा० । अत्र 'तदवगम्यता तस्य प्रत्येतुं शक्या' इति पाठः संभाव्यते ।

शक्ता यतः साधारणतया स्वसन्ततावेव प्रतिभाति न सन्तानान्तरं प्रति साधारणमर्थस्य प्रकाशयति अन्वयबलेनानुमानस्य प्रवृत्तेः तस्य च साधारण एव परिच्छेदात्, नानुमानं 'अदृष्टमेनायमर्थमव-गच्छति' इति एवं साधारणतां वस्तुनः प्रतिपादयति यथा च साधारणमायां(णतायां) न किञ्चित् प्रमाणं प्रवर्त्तते तथा प्रतिपादितमद्वैतं निराकुर्वद्भिः। ततोऽसाधारणतया बोधवन्नीलादिकमपि ५हृदिता ??] न च समानकालप्रतिभास(सा)विशेषेऽपि चिद्रूपतया बोधो ग्राहकः अर्थस्त्वचिद्रूपत्वाद् ग्राह्यः यतो दर्शनस्यापरोक्षात्मतैव चिद्रूपता अपरोक्षताव्यतिरिक्तायाः चिद्रूपतायाः केनचिदप्रतिपत्तेः सा च नीलादेरपि स्वरूपभासमानमूर्त्तेरस्तीति कथं ना(न) बोधात्मकता? न च नीलादेर्बहीरूपतया प्रकाशनाद् ग्राह्यता, संविदोऽपि(?)नीलादिकमपि हृदि प्रतिभास(समा)नाया बहीरूपतासद्भावाद् ग्राह्यताप्रसक्तेः [?? अथ संविदो ग्राहकत्वं बाह्योन्मुखतया प्रकाशता, असदेतत्; संविदाकार-१०व्यतिरेकेण तत्र तस्य भेदप्रतीतेरनेकता एवं तर्हि पदार्थानुभयोऽप्यध्यक्षतो भिन्नः प्रतिभातीति कथमेकत्वाध्यवसायेऽपि न तस्य भिन्नता ??] ततो नीलात्मे(त्मै)वाऽपरोक्षरूपः प्रतिभाति तद्व्यति-रिक्तस्यानुभवात्मनो नीलग्राहकस्यादर्शनात् स्वरूपेणाप्रतिभासमानस्य चार्थव्यवस्थापकत्वासंभवात् स्वसंवेदनरूपा नीलादयः सिद्धाः। अथ प्रकाशमाननीलव्यतिरिक्तप्रकाशाभावा(वात्) 'नीलस्य प्रकाशः' इति भेदप्रतिपत्तिर्न स्यात्, असदेतत्, भेदाभावेऽपि 'शिलापुत्रकस्य शरीरम्' इति १५भेदाध्यवसायदर्शनात्। अथात्र अभेदस्य प्रत्यक्षताद् भेदो बाध्यते (क्षत्वाद् भेदो बाध्यते)। ननु नील-तद्धियोरपि "भेदोल्लेखः कल्पनारचितोऽविनिर्भागावभासाद् बाध्यत एव [?? अध्यक्षत परोक्षा संविदपगम्यते तेनापरोक्षनीलावभासतद्बुद्धेरपि परिच्छेदपुरिसच्छिरिति न दूषणावकाशः परोक्षेव बुद्धिरर्थमुद्भासयति ??] अर्थस्तु बहिर्देशसंबद्धः प्रत्यक्षमनुभूयते। आह च भाष्यकारः- "स हि बहिर्देशसंबन्ध.(बद्ध) प्रत्यक्षमुपलभ्यते" [मीमांसाद० पृ० ७ पं० २३] इति, असदेतत्; २०बुद्ध्यध्यक्षतामन्तरेण नीलादेस्तद्ग्राह्यत्वायोगात्। यदि ह्यपरोक्षा बुद्धिर्नीलप्रतिभासकाले भवेत् तदा युज्येत वक्तुम्-'बुद्धिरर्थान् गृह्णाति' इति, यदा तु बुद्धिस्तदा न प्रतिभाति तदा नीलादेरपरोक्ष-स्याऽप्रादुर्भाव एवोक्तः स्यात् न ग्राह्यता। किञ्च, यथा परोक्षार्थसद्भावात् तदवभासिनी बुद्धिरनुमी-यते तथात्मना(नो) व्यापारोऽध्यक्षतया प्रतिभासनात् सा तदवभासिन्यप्यनुमीयताम्। न चात्मनो-ऽपि ग्राहिका 'अहम्' इति बुद्धिरस्त्येव इति वक्तव्यम्, परोक्षत्वे तस्याग्राहकत्व(त्वा)योगात् २५स्वरूपेण चात्मा प्रतिभातीति स्वसंवेद(द्य) एव युक्तः। [?? न चात्मा सत्तादिरूपेण ग्राह्यः (ग्राहकः) तत्पक्षरूपेण ग्राह्य इति ग्राह्यग्राहकयोर्भेदोऽस्तीति वक्तव्यम्, सत्तादिपरिच्छेदे आत्मपरि-

---

१ शक्त्या य-आ०। २-नस्य बृ-वा० बा० विना। ३-मानमद-वा० बा०। ४-मर्थ वग-भां० मां० आ० हा० वि०। ५-णतां वास्तु-वा० बा०। ६-मायायां वा० बा० विना। ७ अद्वैतनिराकरणं च पृ० २८५ पं० ६। ८-या बाधवन्नीलादिकमपे हृदिता वा० बा०। ९ कथं तां बो-हा०। १०-शतः प्र-भां० मां० आ० हा० वि०। ११ तत्र स्या भे-वा० बा०। १२-प्रतीतेर्नैक-आ० हा० वि०। १३-स्यादर्श-नाद्दर्शनात् वा० बा० भा० मां० हा०। १४-स्य चा-मां० विना। १५-पादी नी-वा० बा०। १६-भा-वनी-वा० बा० विना। १७-दाध्यव-वा० बा० भां० मां० हा० वि०। १८-तद्वितयो-भां० मा० हा० वि०। १९ भेदालेख दालेख क-भां० मा०। भेदाल्लेखक-आ० हा० वि०। २०-रचितोवनिर्भागाद्विभासाद् आ० हा० वि०।-रचितोवनिर्भागाद्वि भा द् भा० मां०। २१-ध्य त प-वा० बा०। २२-परोक्षे च वा० बा०।

२३ "स बहिर्देशसबद्ध इत्यनेन निरूप्यते"-श्लो० वा० शून्य० श्लो० ७९ पृ० २९१।

"स बहिर्देशसबद्ध इत्यनेन मनूद्यते"-तत्त्वस० का० २०७० पृ०५७८।

"आकारवान् बाह्योऽर्थः स बहिर्देशसबद्ध प्रत्यक्षमुपलभ्यते इत्यनेन ग्रन्थेन भाष्यकृता शबरेण × × × प्रतिपा-दितम्"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ५७८ पं० १५।

२४ बुद्ध्येध्यक्षता-मां०। बुध्यक्षता-हा० वि०। २५-रक्ष-वा० बा०। २६-ग्राह्यकत्वयो-वा० बा०। २७-ण चा-वा० बा०। २८ न चात्मा हा०। २९ ग्राह्यः वा० बा० आ०। ३०-च्छेदे आ ...च्छे ...आ० हा० वि०।-च्छेदे रमजाऽपरिच्छेदात् वा० बा०।

च्छेदात् । यदि हि सत्तोबोधपरिच्छेदेन तदा आत्मसत्तादिपरिच्छेदोऽन्यथा सत्तादेः सर्वत्र भावाद् वात्मसत्ता परिच्छेत्तु बोधरूप एवात्मनोऽप्रत्यक्षतैव भवेत् तस्यान्यरूपाभावात् न च बोधरूप च (एव) आत्मा प्रत्ययान्तरेण प्रकाश्यते तस्य प्रकाशरूपत्वात् यो ह्यप्रकाशात्मप्रकाशात्मकः स्वरूपेणैव तस्य प्रकाशनात् ??] ततो यद्यात्मा प्रकाश्यते तदा स्वसंवेदनरूप एवावगन्तव्यः यथा वा(चा)त्मा अपरप्रकाशाभावात् स्वप्रकाशः नीलादयोऽपि तथैवाभ्युपगन्तव्यास्तेषामन्यपरप्रका ५ शासंवेदनात् ।

यदप्युक्तम्—'बुद्धिः परोक्षा' इति, अत्रापि बुद्धेः प्रत्यक्षताप्रसक्तिः । [?? तथाहि–अर्थप्रत्यक्षता बुद्धिसत्ता तत् तस्यैवाव्यक्त स्वरूपम् यदि पदार्थस्वरूपा या प्रत्यक्षतेति सर्वः सर्वदर्शी भवेत् । अथै तद्दोषपरिजिहीर्षायां द्व्यादिसामग्र्यन्तर्गतः प्रतिनियत एवार्थः कस्यचिद्ध्यक्षीभवतीत्युपगम्यते, नन्वेवं सामग्रीवशात् कस्यचिदर्थस्य प्रत्यक्षं स्वरूपमुपजाति(त)मिति स्वसंविदितमेवार्थस्वरूपमायातम् । १० अथ दर्शनसत्तापूर्वस्य प्रत्यक्षता तर्हि परोक्षतया तस्या अप्रतिभासने तदव्यतिरिक्तपदार्थप्रत्यक्षताया अप्यप्रतिभासनादर्थः प्रत्यक्षो न भवेत् । न च प्रत्यक्षतायमार्थ. न तु तस्यां विदितायामिति वक्तव्यम्, तस्या अवेदने प्रत्यक्षीभूतार्थोऽवेदनात् । यतश्चक्षुरादिसामग्रीत. प्रादुर्भूतार्थप्रत्यक्षतया एव भाति तदार्थः तद्विशिष्टतया प्रत्यक्षीभवन् विदितो भवेत् प्रत्यक्षताऽनवगमात् तत्परिगतो वात्मानवगत इति कथमसावध्यक्षः ? यदि हि प्रत्यक्षाकारतया प्रतिभाति तदा प्रत्यक्षोऽर्थः यथा नीलं नीलाकारतया १५ परिच्छिन्नं नीलमिति व्यवस्थाप्यते नान्यथा । न चार्थः प्रत्यक्षतया प्रतीता(प्रतिभा)तीति दर्शनगोचरातिक्रान्तत्वादव्यतिरिक्तविषयसंविदोऽप्यप्रकाशनायातमान्यत्यनवशेषस्य जगत. ??] न च पूर्वमर्थावभासः पश्चाद् दर्शनान्तरेण बुद्धेरनवस्थाप्रसक्तेः । यदि पुनरर्थस्य प्रत्यक्षता अपरोक्षा बुद्धिस्तु परोक्षा(?)वगमात् तर्हि चक्षुरादिसामग्रीबलादुपजायमाना सैवार्थस्य प्रत्यक्षता प्रकाशमाना प्रतिपुरुषं भेदमासादयन्ती बुद्धिरस्तु तदुदयेऽर्थपरिच्छेदादिव्यवहारपरिसमाप्तेर्व्यर्थाऽपरा बुद्धिः नार्थ- २० प्रत्यक्षतानिबन्धनमपरा बुद्धिरभ्युपगन्तव्या तत्र तस्याः सामर्थ्यादर्शनात् यतश्चक्षुरादिसामग्रीसद्भावे प्रत्यक्षतोद(दे)ति तदभावे नोत्पद्यत इति तन्मात्रदृष्टस्य कल्पना सैवार्थस्य प्रत्यक्षता प्रकाशमाना प्रति पुरुषं भेदसंगात् ततो बुद्धिः प्रत्यक्षा अभ्युपगन्तव्या तदभ्युपगमे च तद्व्यतिरिक्तार्थानामप्रतिभासनान्निरस्तार्थसद्भावात् पक्षता (?) वा बुद्धिरेवास्तु ननु यदि बुद्धेरेव नीलाद्याकारस्तथासति

१–चावोधपापरिच्छेदेत तदा वा० वा० ।–त्तावोधे प–आ० ।–त्तावोध प–भा० मां० । २–सत्ता० स प–आ० । ३–च्छेदे तु बोधस्यैव ग्राह्यत्वाततो बोधरूप वात्मानो–वा० वा० । ४ बोधस्यैव ग्राह्यत्वात् ततो बोधरूप–आ० हा० वि० । ५–रूप चात्मा भा० मा० ।–रूपं वात्मा वि० । ६ ह्यप्रकाशात्मकः आ० हा० वि० । ह्यप्रकाशात्मकः सव्यतिरिक्तं सप्रकाशमपेक्षते ननु यः प्रकाशात्मकः स्वरू–वा० वा० । ७ यथात्मा आ० । ८–काशते वा० वा० । ९–थाह्यर्थप्रत्यक्षताप्रसक्ति. तथाह्यर्थप्रत्यक्षता बुद्धिसत्ता आ० हा० वि० । १०–सत्तो त तस्यैव व्यक्तं वा० वा० । ११ तस्यैव व्यक्तं हा० वि० । तस्यै वक्तव्यं स्व–आ० । १२–स्वरूपमव्यक्तता तथा सर्वार्थानां स्वरूपायां प्रत्यक्ष–आ० हा० वि० ।–स्वरूपमव्यक्तता तथा सर्वार्थानां स्वरूपा यात्प्रत्यक्ष–वा० वा० । १३–हीर्षायं द्रियादि–वा० वा० । १४–तीभ्युपग–भा० मा०आ० हा० वि० । १५ नत्वेवं वि० । १६–पमुपजातमुपजातिमिति आ० विना । १७– सत्तात् पू–वा० वा० । १८–सने यद्व्यतिरिक्तपदार्थं प्रत्यक्षताया अप्यप्र–आ० ।–सने तदव्य क्षताया अप्यप्र–भां० मा० । १९ न संस–आ० । २० अस(सं)वे–वा० वा० । २१–र्थावेद–आ० । २२–ताय एव भा–भा० मां० आ० ।–ताय एवा भा–हा० वि० । २३–मातत् तप–आ० हा० । २४ कथमवसा–वा० वा० । २५–साध्य–आ० । २६ नील नीला–वा० वा० विना । २७ न चार्थः आ० हा० वि० । २८–तिरिक्तं वि–आ० । २९–मान्यत्यनवशेषस्य जनगतः आ० ।–मान्यनवशेषस्य जगतः हा० वि० । ३०–रवस्था–वा० वा० । ३१–रर्थस्य आ० । ३२ परोक्षवगमा तर्हि वा० वा० । ३३–ना सेवार्थ–मा० ।–ना सैवार्थ–मा० वि० । ३४–शमना प्र–वा० वा० ।–शमाना पु–आ० हा० वि० ।–शमानां पु–भा० मा० । ३५–मातेन्य–वा० वा० विना । ३६ तस्याः सा–वा० वा० विना । ३७–क्षतादिति वि० ।–क्षताद्ति मां० मा० आ० हा० । ३८–भाव नोत्पद्य इति वा० वा० । ३९–ना सौवा–आ० । ४०–रस्त्वर्थसद्भावात्पक्षता वा वा० मा० ।

ग्राह्यग्राहकाकारद्वयस्य संवेदना(न)मेकं ज्ञानं भवेत् न चाकारद्वयमाभाति नीलादेरेवाकारस्य भासनात्, नैतदेवम्; दृश्य-दर्शनयोरेकादनिर्भासंवेद्याकारद्वयप्रतिभासाभावात्। यदि पुनर्ग्राह्याकारो ग्राहकाकारश्च पृथक् प्रतिभातस्ततो भेदप्रतिभासा(सात्) ज्ञानाद्वैतमेव न भवेत् तस्माद् दृश्य-दर्शनयोरेकाकारोपलम्भादेकत्वं व्यवस्थितमिति भ्रान्तज्ञानावसेय इव रजताकारः सत्यदर्शना-
५ धिगम्योऽप्यसौ ज्ञानस्वभाव एव।

[?? न च यद्दीरूपतया प्रतिभासनाद् भ्रान्तसंविदवभासिनोऽपि रजतासिद्धात्तसंविद्रूपता सिद्धा तस्य बाह्यार्थत्वेऽप्यव्यवहारो भेदप्रसक्तेः। न च सत्यासत्ययोर्लौकिकेतराभ्यां व्यवहारभेदः वितथाज्ञानावभासिनस्तस्यालौकिकत्वपरिज्ञानाभावान्न तावदस्यालौकिकत्वम् तज्ज्ञानादेव तत्र तस्याप्रतिभासना यदि तु तत्र प्रतिभासेत तदर्थक्रियार्थिनस्तत्र वृत्तिर्न भवेत्। अथालौकिकोऽपि रजतादिर्लौकिकतया
१० तत्रावभासत इति प्रवृत्तिरेत्वे(स्त्वे)वमलौकिकतया तत्र भातीति विपरीतख्यातिरिति न सर्वेषां प्रतिभासमानानां सत्यता। किञ्च, अलौकिके लौकिकं रूपं तस्य सिद्ध्यत् किं सत्यम्, उतासत्यं कथमवभाति? अथ सत्यम् न व्यवहारभेदः। यदि पुनरलौकिके यल्लौकिकं रूपमाभाति तदा लौकिकरूपतया सत्यम्, नन्वत्राप्यलौकिके यल्लौकिकं प्रतिभातं तत् किं सत्यतया, उत असत्यतया? यद्यसत्यतया कथं प्रवृत्तिः? अथ सत्यतया कथमलौकिकं रूपं तस्य सिध्येत्? किञ्च, येऽथालौकिकं रूपं
१५ प्रतिभातं स्वरूपेण न गृह्यते [२६] किं वा लौकिकत्वं परेणालौकिकेतररूपेण गृह्यते तदप्यपरेणेति निरा-(र)वसानो(ना) लौकिकपरम्परा समासज्येत। ??]

[?? यदि पुनर्वितथदर्शनं विपरीतख्यातिरभ्युपेयते तत्रापि वक्तव्यम्–किं विपरीता ख्यातिः, आहोस्विद् विपरीतस्य वस्तुनो विपरीताकारणे(कारेण) ख्यातिर्विपरीतख्यातिः? तत्र प्रथमे विकल्पे किं स्वरूपापेक्षया विपरीतख्यातिः, आहोस्वित् ख्यातानन्तर(रा)पेक्षया सर्वैव ख्यातिः विपरीतख्याति(तिः)?
२० आहोस्तदात्रापि वक्तव्यं किं तदैका(दैव) वोत्तरकालम्? यदि तदैव तदा विरोधस्तथाहि यदि तदा विरोधस्तथाहि यदि तदा ख्यातिः कथं स्वरूपविरहलक्षणा विपरीतताऽथ स्वरूपप्रच्युतिः कथं किं सा ख्यातिः सती अथोत्तरकालं ख्यातेरभावस्तथापि कथं विपरीता ख्यातीनामुत्तरकालप्रच्युतेर्विपरीतख्यातिप्रसक्तेः। अथ द्वितीयो विकल्पस्तत्रापि ख्यात्यन्तरापेक्षया सर्वे(र्वै)व ख्यातिर्विपरीतख्यातिरिति सर्वख्यातेर्वैपरीत्यप्रयु(प्रस)क्तिः, यदि पुनर्वैपरीत्यं शुक्तिकादि रजताद्याकारेण विपरीतेन ख्यातीति
२५ विपरीतख्यातिरित्यथ पक्षाभ्युपगमः सोऽप्ययुक्तः, अन्यरूपेणान्यस्य परिच्छेदायोगात्। तथाहि–किं

---

१ ग्राह्यग्रा–आ० विना। २ न वा–वा० वा० विना। ३–तदेव दृ–भां० मां०। ४–सादेकाका–वा० वा० विना। ५ भवेत् तस्माद् दर्शन–आ०। भवेद् त तस्माद् दर्शन–वि०। ६–द्धान्न सं वा०वा० आ०। ७ तस्या वा–आ०। ८–र्थत्वेऽ–वा० वा०। ९ च सत्ययोर्लौ–भां० मां०। १०–रभेदो त–वा० वा० विना। ११–भासितस्त–भां०। १२ तज्ञा–वा० वा०। १३ तव प्र–भां०। तद् प्र–भां० सं०। मां०। १४–भासेन तदर्थ–मां०।–भासित तदर्थ–वि०। १५–रत्वेवसलौ–हा० वि०।–रत्वेवमलौ–वा० वा० आ०। १६ सर्वेषां प्रवृत्तिभास–हा० वि०। १७–नानां सर्वेत्यता। किञ्च, अलौकिके रूप तस्य सिध्येत् किं सत्य–वि०। १८ सत्यता किंवा लौकिके लौकिकं रूपं तया सत्यं नन्वत्रा–आ०। सत्यता किंवा लौकिके रूपतया सत्यं नन्वत्रा–वि० सं०। १९–किकं रूप सस्य सिध्यन् किं मत्य–मां०।–किकं रूप सस्य सिध्यत् कि मत्य–भां०।–किकं रूप तस्य सिध्येत् किं सत्य–हा०। २०–भासिति वा० वा० विना। २१–रलौकिक य–हा० वि०।–रलौकिके य–भां० मां०। २२ तदा लोकि–भां० मां०। तदो लोकि–हा०। २३–या यद्यस–वा० वा० भां० मां० हा० वि०।–या उत असत्यतया? यद्यस–वि० सं०। २४ तस्या सिद्धोत् आ०। २५ यद्यलो–वा० वा० विना। २६ किंवालौकि–हा० वि०। किं वा लोकि–भां० मां०। २७–सानोऽलोकि–भां० मां० हा० वि०। २८–दर्शन वि–मां० आ० वि०। २९ आहोस्वित ख्यानन्तरापे–वा० वा०। ३० ख्याति विपरीतख्याति आहो–[illegible] वि०। ख्यातिर्विपरीतख्यातिः अहो–वा० वा०। ३१–व्यं कि तदेका चोत्त–भां०। ३२ कथ[illegible] मां०। ३३–परीतेऽख्या– भां०।–परीतोख्या–आ० हा० वि०। ३४–कारिण हा० वि०। आ०।

रूपद्वयनिर्भासेऽध्यारोपः कल्प्यते, उतैकरूपनिर्भासे? यदि प्रथमः पक्षः तदा द्वयं शुक्तिका रजतस्वरूपं चात्मस्वरूपेणापेक्षया सर्वे(र्वै)व ख्यातिः। अथैकं रूपं तत्र चकास्ति तत्रापि यदि रजतमेकं स्वरूपेण भाति कथमध्यारोपोऽन्याकारपरिहारेण तस्यैवैकस्य प्रतिशा(तिभा)सनात्। अथ शुक्तिका स्वरूपेण प्रतिभाति तत्रापि न विपरीतख्यातिः अन्यरूपविविक्तायास्तस्या एव परिच्छेदादन्यस्यान्याकारेण प्रतिभासना(भासन)मन्तरेण ना रजतदृग्ग्राह्यो परिमलादेरपि रूपदृग्ग्राह्यताप्रसक्तेः। ५ किञ्च, यद्यपरे(रो)क्षतया 'रजतम्' रजतसंविदवभासयति कथमस्या विपरीतख्यातित्वम्? न चान्यदेव देशादिमद् रजतमन्यदेशादितयाऽवभासयतीति विपरीतख्यातिः यतो देशान्तरादिमत्ता रजतादेः किं तेनैव दर्शनेन गृह्यते, आहोस्वित् पूर्वदर्शनेन? तत्र न तावत् तेनैव तत्र वर्त्तमानदेशादिमत्तया रजतादेरवभासनात् तद्धि तद्देशादिमत्तयैव तद् गृह्णाति न पूर्वादिमत्तया। अथ पूर्वकालादिमत्त्वं रजतादेरवभासयति, ननु तदपि तद्देशादिमत्त्वमेव तस्याव १० भासयति तदानीन्तनदेशादिमत्त्वं तदनवभासने च कथं भ्रान्तदर्शनावसेयस्य रजतादेस्तेन पूर्वदेशादिमत्तावगतेस्तेनान्यदेशादिनादिमानर्थोऽन्यदेशादितया वितथदर्शने प्रतिभातीति वक्तव्यम्, न च बाधकप्रमाणं भ्रान्तदृग्गतरजतादेरन्यत्र देशादितामावेदयति यतो बाधकप्रतीतिरपि रजतादिकमलीकतया आवेदयति नत्वन्यदेशादितया नहि सा 'अन्यदेशादी(दि) रजतम्' इत्यवगच्छति किन्तु 'नेदं रजतम्' इति। यदि च भ्रान्तदृशि प्रतिभासमानो रजतादिस्तद्देशादौ नास्ति तर्हि ज्ञा- १५ नस्यैवाभावाकारो नार्थस्येति कथं न ज्ञानस्य निरालम्बनता? निरालम्बनत्वं ह्यर्थसन्निधिनिरपेक्षस्य ज्ञानस्य जन्म तच्चोपरतप्रमेयाणामर्थसन्निधिनिरपेक्षत्वात् स्वप्नादिप्रत्यया(याना)मस्तीति न दृष्टान्तासिद्धिः। यदि च स्वप्नादिदर्शनं विशदावभासिन्यन्यदेशाद्यर्थविषयं परिशुद्धदर्शनमपि यथा प्रतिभासमानं पूर्वदृष्टानां यन्नं किं नाभ्युपेयते अथ परित्यागो भवेत्। अथ बाधकेऽपरबो(बा)धकान्तराभावात् तस्य वर्त्तमानावभासकत्वं न तु बाधकाभावप्रत्ययेऽभावप्रत्ययावतारात् पूर्वदृष्टार्थग्राहिता ननु २० बाधकवित्तेरपि पूर्वपरिज्ञातर्यजता(तरजता)द्यभाववेदित्वं भवेत् नहि कश्चिद् विशेषो वर्त्तमानानुभवं प्रति बाधक-दर्शनयोः यतो रजतदर्शनमतीतविषयग्राहि बाधकं तु वर्त्तमानार्थस्वरूपावेदकमिति विभागो भवेत्। अथ बाधके अपरबाधकान्तराभावात् तस्य वर्त्तमानावभासकत्वम् न तु बाधकाभासप्रत्ययेऽभावप्रतीतिः पूर्वमभावप्रतीति किं नोपेयते। न चापरबाधकाभावात् तत्रापि वर्त्तमानार्थग्राहित्वमिति वक्तव्यम्, तत्रापि तत्पर्यनुयोगादनवस्थाप्रसक्तेः। न च सत्यदने(त्वदर्शने) २५ संवादेयात्(वादात्) सांप्रतिकार्थग्राहित्वम् भ्रान्तज्ञाने तु विपर्ययात् पूर्वदृष्टावभासितसंवादस्याघायोगात्। तथाहि-किमुत्तरज्ञानोदयः संवादः, उतार्थक्रियाप्रस्(सू)तिः? यद्युत्तरज्ञानोदयः स किमेकविषयः, भिन्नविषयो वा? यद्येकविषयस्तदा तैमिरिकस्य [31]केशाडु(केशोण्ड)कादिविषयो ज्ञाना-

---

१ कल्पते ह्य० विना०। २-थम प-वा० बा० विना ३-तत्स्वरूपं चातमरूपेणपेक्षया स-वा० बा०।-तत्सरूपं चात्मरूपेणापेक्षायां स-ह्य०।-तत्स्वरूपेणापेक्षया स-भा० मां०। ४ सर्वेव शा० ह्य० वि०। ५ ख्याति थैकं वा० बा०। ६-ध्यारोपान्याकारकप-आ०। ७-स्तस्य ए-वा० बा०। ८-सान्तरेण रजतदृग्ग्राह्या प-वा० बा०। ९-परीतत्वम् आ०। १० न वा-बा० बा० विना। ११ ताद् गृ-बा० बा०। १२-त्वादिसद्रजता-आ०। १३-ति ननु त-भा० ह्य०। १४ पूर्वदेशादिमत्तावगतेस्तत्रान्यदेशादितया मां०। १५-स्तद्भ्रान्य-वा० बा०। १६ सामान्य-वा० बा० विना। १७-सने र-बा० बा० विना। १८-भासस्याप्य-वा० बा० विना। १९-ज्ञान्यर्थ-ह्य० वि०।-शादिन्यर्थ-भां० मां०। २०-मान पू-भा०। २१-यते ऽप परि-भा०।-यते ऽथ परिभागो बा० वा०। २२-वात् तस्या व-ह्य० वि०। २३ न नु बा-वा० बा० मां० विना। २४ ननु बा-वि०। २५-वचित्ते-वा० बा०। २६-यज- ता-वा० बा० विना। २७-सत्यम् वा० बा०। २८ न नु बा-वा० बा० मां०। २९-भावप्रतीतितयतीति किं बा० बा०।-भावअप्रतीतिर नयतीति किं ह्य०।-भाव अप्रतीति कि वि०। ३० न बा-ह्य० वि०। ३१ केशाडुदका-वा० बा० विना। "यथा चिरकालीनाध्ययनादिभिरक्ष्णोरस्थितस्य नीलत्वेऽहितादिगुणविशिष्ट केशोण्ड्रकाख्य कश्चिन्नयनामे परिस्फुरति अथवा करसम्मर्दितलोचनरश्मिषु येन केशपिण्डाकारा स केशोण्ड्रक"—१, १, ५ शास्त्रदीपिका० युक्तिस्नेहप्रपूर्णीसिद्धान्त० पृ० ९९ पं० २०।

न्तरोदयः संवादः स्यात्। अथ भिन्नविषयस्तदुदयः संवादस्तत्रापि यदि नाम[1] विषयदर्शनान्तर-मुदयमासादयति[2] पूर्वदशास्तु सत्यत्वे किमायातम्? अन्यथा रजतज्ञानस्य शुक्तिकाज्ञानोदयात् सत्यत्वप्रसक्तिः[3]। अथार्थक्रियाप्रसूतिः संवादः नन्वर्थक्रियापि पूर्वानुभूतादेवोदकादेः किं नाभ्युपगम्यते? अथाविद्यमानं पूर्वानुभूतं जलादि न पानाद्यर्थक्रियामुपजनयितुं समर्थं(र्थं)[4] तर्हि स्वप्नादि-
५दर्शनमपि तदविद्यमानं कथं जनयितुमलम्। नह्यविद्यमानस्य तत्रापि कारणत्वं युक्तम्[5] चिरतरातीतस्यापि तत्प्राप्तेः। न चार्थक्रिया-ज्ञानयोः कश्चिद् विशेषो यतो[6] ज्ञानमर्थमासादयति। नार्थक्रिया अर्थाभावेन दृष्टेति संधा(न्नि)हितार्था[7] जन्मा ननु[8] तथाभूतार्थाभावेऽपि स्वप्नदशाया-मर्थक्रियोपलभ्यते एवं जाग्रद्दशायामपि पित्तोपहततनोर्मलयजरसादिसंस्पर्शो दहदिवासा कथं[9] नार्थक्रियान्यथा दृष्टान्तसंवादः[10] इति सर्वं वासनाप्रतिबद्धं दर्शनं बाह्यार्थसंविधानक्रियमिति[11] स्वरू-
१०पप्रतिभासाः सर्वत्र प्रत्यया ना(न) बाह्यार्थावभासिन इति व्यवस्थितम् ??]। ते(तेन) 'नार्थाभावः प्रत्यक्षवेद्यस्तत्र बहिरर्थप्रतिभासनात्'[12] इति निरस्तम् बहिरर्थप्रतिभासनस्योक्तन्यायेनासिद्धत्वात्।

[?? न च प्रत्यक्षतोर्था[13] भावः साध्यते यतः प्रत्यक्षविरोधो दोषः पक्षस्य स्यात्। अपि तु प्रकाशरूपता नीलादीनां साध्य(ध्या) सा तु यथोक्तप्रकारेण प्रत्यक्षसिद्धैवेति कथं न विज्ञप्ति-मात्रता? प्रत्यक्षप्रतीते च ज्ञानमात्रे[14] न किञ्चिदनुमानेनेति[15]? न च तद्भावादोषावकाशोऽस्मा-
१५कम्, न च 'सहोपलम्भनियमात्' इति हेतूपन्यासो[16] व्यर्थ इति वक्तव्यम्, परं[17] प्रति व्यवहार-साधनाय तस्योपन्यासात्। यो हि नील-तःसं(तत्सं)विदोरप्रतीयमानमपि प्रत्यक्षतो भेदं नीलस्य संविदिति कल्पनावशात् पारमार्थिकं भेदमिच्छति तस्य नील-तद्धियोः पृथगनुपलम्भात् पृथक्त्वं न युक्तमिति प्रतिप(पा)द्यते उपलब्धिर्हि[18] सत्त्वम् न च नील-तद्धियोः क्रमेण युगपद् वा भेदो-पलब्धिः संव्यव्यतिरेकेण[19] तत्संविद इत्यनुपलब्धेनी(र्नी)लव्यतिरेकेण[20] तत्संविद इत्यनुपलब्धिर्भेदं
२०तयोर्निराकरोति न[21] तन्नील-तद्धियोरभेदः प्रत्यक्षविरुद्ध इति निराकृतं द्रष्टव्यम्। न च नील--तद्धियोरभेदे प्रत्यक्षसिद्धे किमनुमानप्रसाध्यमभेदव्यवहारयोग्यतायाः[22] इव (एव) साध्यत्वादित्यु-[23]क्तत्वात् न च सहोपलम्भनियमोऽसिद्धः। नीलप्रत्यक्षताव्यतिरिक्तसंविदो निराकृतत्वात् यतो न बोधरूपतां[24] बोद्धैस्तद्व्यतिरिक्तस्पष्टा[25] येन तदनुपलम्भात् सहोपलम्भोऽसिद्धः स्यात्। अपि तु सुखादिनीलादिप्रत्यक्षतैव संवित् तन्मात्रं[26] च सर्वव्यवहारपरिसमाप्तेश्वरादिव्यापारस्य[27] तत्रैवो-
२५पलम्भात् सा च सर्वेषां परिस्फुटमाभाति[28] तदवेदने प्रत्यक्षार्था[29] वेदनोवशे(दने चाशे)[30]षस्य जगतः[31] समायातःमात्प(यातमान्ध्य)मिति[32] प्रतीतत्वात् नील-तद्धियोः कथं(थं न) सिद्धः सहो-पलम्भनियमः? ??]

---

१ नाम भिषयदर्शनान्तरमुदयमासादयन्ति पूर्व-हा०। २-मुदर्शनान्तरमुदयन्ति पू-भां० मां० था०। ३ सत्यत्वप्रसक्त का ज्ञानोदयात् सत्यं संप्रसक्तिः हा० विना। ४-मर्थः त-भां० मां०। ५-क्तम् वैर-आ० विना। ६ यतो ज्ञानमर्थाभावे ज्ञानमर्थमा-वा० बा० आ० हा० वि०। ७ संन्निहि-आ०। ८ नतु त-वा० बा० आ० हा० विना। ९ दहन्निवासा कथं ना-भां० मां०। दहन्निवाभाव कथं ना-वा० बा०। १० दृष्टाप्रसं-वा० बा०। दृष्टान्तसं-आ०। ११-सधिधा-वा० बा०। १२ पृ० ३४९ पं० २५। १३-क्षतो वा भावः सा-भां० मां०।-क्षता वा भावः सा-हा०।-क्षतो भावः सा-आ०। -क्षतो भावाभावः सा-वि०। १४-मात्रेण न वा० बा० विना। १५-ति न च त-हा० वि०।-ति च च त-मां०।-ति न त्र त-भां०। १६-तू न प-वा० बा० विना। १७ पर प्र-आ० विना। १८ उप-लब्धिः संख्याद्य-वा० बा० विना। १९ संख्यावितिरे-मां०। २०-लब्धेन्नील-वा० बा०। २१ न त-नील —द्धियो-वा० बा०। २२-मान प्रमान प्रसा-आ०। २३-हारायो-वा० बा०। २४-ता बोधेस्त-आ०।-ता बोद्धैस्त-वा० बा०। २५-क्तस्पष्टां ये-आ०। २६-न्मात्र च वा० बा०। २७-मास्तैश्व-भां० मां०। २८ भाति तदने-वा० बा० हा० वि० विना। २९-क्षार्थवे-वि०। ३० वेदानाव-वा० बा०। ३१ जनतः वा० बा० आ० हा० वि० विना। ३२-यातःमत्यमति वि०।

[?? मीमांसकमतमपि नीलं प्रत्यक्षं बुद्धिस्तु तद्धेतुभूता प्रवेशप्रत्यक्षार्थान्यथानुपपत्त्या पश्चात् प्रतीयत इति सहोपलम्भोऽसिद्ध इति प्राग् दि(नि)रस्तमेव। यदि तेनोक्तम्-"पश्चादुपलभ्यते बुद्धिः" [ ] इति, तत्रापि बुद्धिप्रतीतिकाले यद्यर्थस्यापि प्रतीतिस्तदा द्वयोर्युगपदुपलम्भः स्यात्। न चैतदिष्टम् इष्टो वा हेतुर्न सिद्धः। न च युगपदुपलभ्यमानयोः ग्राह्यग्राहकभावः सम्भवतीति ज्ञानमिति न सिद्धो(सिध्येत्) यदि तु तदा नार्थप्रतिभासस्तथापि केवलायास्तस्याः प्रति- ५ भासनात् 'अर्थस्य बुद्धिः' इति न युक्तं भवेदित्यादेः प्राक् प्रतिपादितत्वान्नासिद्धो हेतुः। नाप्यनैकान्तिकः सर्वज्ञज्ञानस्य पृथगुपलम्भाद् भेदः यतः सर्वदा(यदा)नं पृथग्जनचित्ता(त्) पृथग् भाति पृथग्जनस्यापि स्वचित्तं सर्वविद्विज्ञानं विनापि भातीति भेदः नीलतद्धियोस्तु न कदाचित् पृथगुपलम्भः एकलोकी(लोली)भावेन सर्वदोपलम्भात्। नहि नीलव्यतिरिक्ता या प्रत्यक्षता भाति तद्व्यतिरिक्तं वा नीलम् एवं स्वे रूपोपलम्भाचे(चै)कत्वव्यवहारः अन्यथा तदयोगात् सर्वे चात्र नीलादयोऽभि- १० न्नरूपोपलम्भा एकत्व(कत्व)व्यवहारे साध्ये स्वरूपे(रूपापे)क्षया दृष्टान्तीभवन्तीति दृष्टान्तासिद्धिरपि न प्रेरणीया। न च सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिरयं हेतुः अभिन्नोपलम्भेऽपि भेदे सर्वत्राभेदोच्छेदप्रसक्तेः। यदपि 'भेदो(दे)ऽप्येकसामग्र्यधीनतया नीलतद्धियोः सहोपलम्भः' इत्युक्तम् तदयुक्तम् भेदाऽनवभासनेन तस्याभावात्। यदपि 'रूपालोकयोः सहोपलम्भेऽपि भेदः' इत्युक्तम्, तदप्यसम्यक्; यतो रूपालोकयोर्ययोरपृथगुपलम्भ(लम्भः) भेदोऽपि तयोर्न सम्भवत्येव यतो न नीलमालोकस्य वा(लोको वा) १५ तदपि निर्भागावर्त्ती पृथगभ्युपगम्यते प्रकाशात्मनो नीलस्यैवोत्पादात्। ययोः पुनर्भेदस्तयोरपृथगुपलम्भो नास्तीति नीलादिभिन्नस्याप्रत्यक्षरूपस्य तस्यानुपलम्भात्। यदप्युक्तम् 'सह'शब्ददृष्टत्वाद् विरुद्धो हेतुः' इति, तत्रापि विकल्पारूढं भेदमाश्रित्य 'सह'शब्दः प्रयुक्तः परमार्थतस्तदभावेऽपि अथ यदि भेदे विकल्पैर्कल्प्यते किमिति सत्यो न वस्तुरूपासंस्पर्शित्वाद्धि न तत्र नीलतद्धियोरभेदे एकरूपोपलम्भात् सिध्यत्येव तथा संवेदनादप्यभेदः सिद्धः। नीलादीनां प्रत्यक्षं च २० स्वरूपं संवेदनमुच्यते। विद्यमस्यापि ह्यपरोक्षस्तद्भेदात् तदर्थस्य सहशब्दस्यावृत्तिर्युक्ता परमार्थतोऽभेदेऽपि ??]

[?? यद्वा एकस्मिन्नप्यर्थे सहशब्दो दृष्टो(ष्ट) एव यथा 'सहदेशोऽयमस्माकम्' इत्येकरूपोपलब्धिरेकत्वेन व्याप्ता प्रत्यक्षत एव ते गता। ततो न विरुद्धत्वं विपर्ययव्याप्तेरभावात्। यदप्युक्तम् 'एकरूपोपलब्धिवि(र्वि)ज्ञानस्यार्थस्य वा प्रथमपक्षेऽपि बौद्धं प्रति' इति तदपि निराकृतमेव; २५ नील तद्बुद्ध्योरेकरूपोपलम्भस्य प्रतिपादितत्वात् विवादश्च तयोर्भेदाभेदा(दौ) प्रति न स्वरूपं प्रति तस्य सिद्धत्वात्। न चैकरूपोपलम्भस्तयोरध्यक्षसिद्धो वचनमात्रादेवासिद्धो भवति। तस्मान्नीलतद्धियोरभेद एकरूपोपलम्भात् सिध्यत्येव। तथा, संवेदनादप्यभेदः सिद्धः। नीलादीनां प्रत्यक्षं च

---

१ प्रवे—प्रत्य-भा मां०। प्रवशप्रत्य-हा० वि०। २ पृ० ३५३ पं० २। ३-ति प्राग्विर-वा० बा०। ४ प्राग् विर-वि०। प्राग् निर-वि० ह०। ५ पृ० ३५३ पं० ४। ६-द्धि ति तत्रा-वि०।-द्धिरि तत्रा-वा० बा० भा० मा० हा०। ७ न तैवदि-आ० विना। ८-ष्टमष्टो वा० बा०। ९ सिद्धोयदि वा० बा०। १०-थग् भावित्ति आ०। ११-पि स्तचित्तं स-वा० बा०।-पि स्तैधित्तं स-हा० वि०।-पि स्तैच्चित्तं स-आ०। १२ भावि त-मा० विना। १३-लम्भात्वेक त्व-वा० बा०।-लम्भात्वेकं त्व-आ०। १४-न्यदा त-वा० बा० विना। १५-कत्व-आ०। १६ यदि से-भा०। १७ पृ० ३५३ पं० १०। १८ भेदोऽन-वा० बा० विना। १९-लम्भो-वा० बा० विना। २० पृ० ३५३ पं० ६। २१-कयोयोर-हा० वि०। २२-लम्भेदो-वा० भा०। २३-लोकये वा वा० बा०। २४-पि निर्भागावत्ती पृ-आ० हा०।-पि निर्सागोवर्ती पृ-मा०।-पि भेद प्युक्तं निर्भागवत्ती पृ-वि०। २५ पृ० ३५३ पं० १८। २६-रूपा सं-आ० वि०। २७-रभेदो ए-वा० बा०। २८ संवादना-भा० विना। २९-प्यर्थे स-भा० मां० आ०।-प्यर्थ स-हा०। ३० दृष्टो एवं य-वा० बा० विना। ३१ गतो न विरु-वा० बा०। ३२ न विरुद्धत्व विप-हा०। न विरुद्धत्व विरुद्धत्वं विप-मां०। न विरुद्धत्वं विरद्धत्वं विप-मां०। ३३ पृ० ३५३ पं० २३। ३४-पि बौद्ध प्र-आ० हा० वि०।

स्वरूपं संवेदनमुच्यते विज्ञानस्यापि ह्यभेदः सिद्धः नीलादीनां प्रत्यक्षं च स्वरूपं संवेदनमुच्यतेऽवि-ज्ञानस्यापि ह्यपरोक्षमेव स्वरूपं संवेदनतद्व्यतिरिक्तस्य तस्यायोगात् अतो न नील तद्धियोः संवे-दनभेदः अन्योन्यस्य संवेदनायोगात्। यदप्युक्तम् 'संविदो भिन्नमभिन्नं वा नीलस्य संवेदनं भेदहेतु-विरुद्धः अभेदश्चासिद्धः' इति, तदप्यसंगतमेव; नीलादीनामपरोक्ष आत्मा संविदिति प्रतिपादि-
५ तत्वात् तथा च ज्ञानव्यवहारयोगात् साध्यते परपरिकल्पितबोधवत् अन्यथा बोधव्यवहारोच्छेद-प्रसङ्गात्। ननु कः सहोपलम्भनियमादस्य भेदः? एकोपलम्भ एव तस्याप्यर्थः अत्रापि स एव, नैतत्; सहोपलम्भेन पृथग्भावनिराकरणात् तद्वारेण संविद्रूपा नीलादयः प्रसाध्यन्ते। अनेन तु त एव बोधरूपा विधिरूपेणेति द्वयोरपि हेत्वोर्व्यापारभेदोऽस्त्येव परमार्थतस्तु न कश्चिद् भेदः। द्वयोरपि स्वभावहेतुत्वात् तस्माद्बोधव्यतिरिक्तमभ्युपगम्य सहोपलम्भनियमान्नीलादेः संवि-
१० द्रूपता साध्यते नहि सकृदुपलभ्यमानयोः ग्राह्यग्राहकभावो नील बोधयोर्युक्तस्तदन्यक्रियाविरहा-च्चन्द्रद्वयस्येव परस्परं बोधेन सहेति प्राक् प्रतिपादितम् ग्राह्यग्राहकभावाभावे स्वसंविद्रूपाः सिद्धा एव नीलादयः तेन नील-तद्धियोः स्वरूपभेदेऽपि चन्द्रद्वयादेरिव परस्परं बोधरूपत-योऽभेदः सहोपलम्भनियमात्। अयं चार्थः स्वयमेव शास्त्रकृता स्पष्टीकृतः—"नहि भिन्नावभा-सित्वेऽप्यर्थान्तरमेव रूपं नीलस्यानुभवात्।" [ ] इत्यनेन प्रतिभासभे-
१५ दात् स्वरूपभेदेऽपि नीलस्यानुभवादर्थान्तरं जडतया विजातीयमेव रूपं न भवतीति यावत् स्वरूप-भेदेऽपि प्रकाशरूपत्वात्। यदि तु सर्वात्मना नील-तद्धियोरभेदः साध्यः तथासति एवकारो न युक्तः नार्थान्तरमेवमिदं वाच्यं स्यात् प्रत्यक्षबाधश्च दुर्निवारो नीलादेः सुखादिरूपस्य च बोधस्य भेदे साध्ये यदा तु तयोर्भेदेऽपि साम्यं बोधरूपतया साध्यते तदा न कश्चिद् दोषः रूपाऽऽलोकयोरपि परस्परं न प्रकाश्यप्रकाशकभावः सहोपलम्भनियमादेवं चित्ताचैत्तानामपि स्वसंविद्रूपतयेति न तैरपि
२० व्यभिचारः सर्वविदोऽपि स्वसंवेदनामेव स्वसत्त्वं परचित्ततदनं तु व्यवहारमात्रेण विद्धेता व(च)द्दूरो-त्सादितैवास्मिन् व्याख्याने स्वरूपैकत्वासाधनादेवासिद्ध इति नैव सुखादेरतन्नी(रन्तर्नी)लादेर्बहि-श्चावभासनात्। तयोरेव ग्राह्यग्राहकभावाभावतः सहोपलम्भनियमात् स्वप्रकाशरूपता साध्यते व्यतिरिक्तस्य बोधोऽग्राहकोऽप्रतीतेरेवं। अथवा परोक्षो बोध(धः) पुरोव्यवस्थित(ता)र्थान् प्रति-पद्यत इति परेषामभ्युपगमः तदभ्युपगमान्नीलकालो बोधात्मा भवतु प्रत्यक्षस्तथापि न तयोर्वेद्यवेद-
२५ कभावः सहोपलम्भनियमादिति प्रतिपाद्यते तेनायमदोषः संवेदनं तु प्रत्यक्षरूपं बोधरूपतां नीलसुखादेर्वस्तुस्थित्यैव साधयति बोधव्यवहारस्य तत्रैव सिद्धेरन्यथाभूतस्यानुपलब्धेस्तस्या-भावात् ततो नीलादेः सुखादेश्चात्मैवानुभवः चक्षुरादिव्यापारात् परोऽपि तदा स स्यात्।

१–च्यतेऽवि–मा०। २–च्यते वि–वा० बा०। ३–दनामे–वा० बा० विना। ४ अन्योन्य संवे–वि०। अन्योन्यस्य संवेदनं भेदहेतु–मा०। अन्योन्यस्य संवेदन भेदहेतु–भां०। ५ अभेद इति नश्चा-सिद्ध इति आ०। ६ तदाप्य–वा० बा० विना। ७ तया च ज्ञा–भां० हा०। तया प ज्ञा–आ०। तया च ज्ञा–वि० सं०। ८–कल्पितं बो–मा० आ० हा० वि०। ९ तद्वा–वा० बा० हा०। १० एवा बो–वा० बा०। ११ तद्वा द्वो–मा० हा० वि०। तद्वो–आ०। तद्वा बोधेन सहेति प्राक् प्रतिपादितम् वा० बा०। १२–भावा नी–आ०।–भातिवो नी–हा० वि०। १३–स्परबो–भा० आ०। १४–त ग्रा–भां०। १५–भावो स्व–आ०। १६–द्रूपाः सिविद्रूपाः सिद्धा–भां०।–द्रूपा सिविद्रूपाः सिद्धा–आ०।–द्रूपाः सिचिद्रूपाः सिद्धा–मा०। १७–या भे-वा० बा०। १८ अयं चार्थः वा० बा०। अयं तार्थः हा० वि०। अयं भार्थः भां०। १९ युक्तो वा नाथ-तिमिलेवं वाच्यं वा० बा०। २० वाच्यं स्या–मा० भां०। २१ साधे य–भां० मां०। २२ तयोऽभे–मा०। २३–कद्वयोर–वा० बा०। २४–काशभा–वा० बा० विना। २५–च चित्तानामपि आ०।–च वित्तानामपि हा०।–च वित्तावित्तानामपि भां० मां०। २६–चार सर्व–हा०।–चारः सर्वाविदोऽपि संस्व–आ०। २७–स्वसत्व पर–हा०। स्वतत्त्वं पर–वा० बा०। २८–रचित्ततदनं नु व्य–वा० बा०।–रचित्तातदनं मु व्य–आ०।–रचित्तातदनन्तरं तु–वि० सं०। २९–द्धता च दूरोत्सा–भां०।–द्धता च दूरोत्सा–वा० बा०।–द्धतां च दूरोत्सा–भां०। ३०–रिक्तास्य आ०। ३१ बोधोग्रा–आ०। बोधो अग्रा–[illegible]० बा०। ३२–च ऽथवा आ०। ३३–वस्थिवार्थो–आ०।–वस्थितच्छिन्नार्थो–वि०।–वच्छिन्नार्थो–भां० हा०। ३४–तु पूप्र–वा० बा०। ३५–दतुं प्र–वा० बा० आ० हा० वि० विना। ३६–स्वरूपं बोधरूपं। ३७–पता नी–भां० मां०। ३८–स्तुस्थित्येव सा–वा० बा० हा० वि०।–स्तुस्थत्येव सा–सा–भां०। ३९–रा वि त–वा० बा०। ४० स्यात् च चक्षु–आ०। स्यात् न चक्षु–वि०।

न च चक्षुरादिव्यापारादेव नीलादयोऽनुभयरूपा जायन्ते यतश्चक्षुरादयोऽपि नानुभ(नुभयव्य)-तिरिक्ताः सत्य(त्या)र्थवादप्रसक्ते', नैतदेवम्; स्वप्नादेशावेज्ञा(शावज्ञा)प्रदशायामपि वासनाव-शादेव नियतावभासोदयो भविष्यतीति न कार्यव्यतिरेकादप्यर्थवादकल्पना युक्तिमतीति सर्वत्र विज्ञप्त(प्ति)मात्रतैव। ??]

[?? ननु यदि विज्ञप्तिमात्रतैव(वा)भ्युपेय(या) तथासति मेय-मानमिति व्यवहारविलोपः तस्य ५ भेदपूर्वकत्वात्—अर्थो हि प्रमितिक्रियया व्याप्यमानत्वात् प्रमेयम् कर्मणि कृत्यविधानात्। तथा नीलादयो यदि बोधः स्यात् तदाऽसौ स्वतन्त्रा(न्त्रो) नीलदर्श प्रतीत्य प्रमाता भवेत् चक्षुरा-दयश्च करणतया मानं भवेयुरर्थमितिम् उपलम्भसाध्यत्वात् स्यात् तदभावे तु न नीलादयः संविद्रूपाः सिध्यन्ति सिद्धः प्रमाणनिबन्धनत्वात्। न च स्वसंवेदनमेव प्रमाणं व्यवस्थाकारि तेन दृष्टान्तासिद्धेः। प्रदीपादयोऽपि हि परप्रकाशया एव च (न च) तेनैवात्मना स एवाधिगन्तुं शक्यम् १० न ह्यङ्गुल्यग्रेण तेनैव तदेवाङ्गुल्यग्रं स्पृश्यत इति, असदेतत्; यतो यथा बाह्यार्थवादे सुखादीनामात्मा विषये प्रमाणम् तेषामेव वेदनं वित्तिः फलं सुखादयश्च मेयं यथैवापरेषामात्मा अपरोक्षो म(मे)यः तस्य च प्रकाशरूपता मानम् तत्प्रतिभासः फलम् तदन्यग्राहकाभावेऽप्यनवस्थाप्रसक्तेर्मतनि(मतमि)-यमेव म(मे)य-मान-फलानां व्यवस्था सर्वत्र नीलादौ योजनीया विज्ञा(ज्ञान)वादे। ??]

[?? अथ नीलादीनां जडत्वान्न संविदस्ति सुखादेरात्मनश्च प्रकाशरूपत्वात् संविदिति, अत्रो- १५ च्यते; तत्रापि ज्ञानवादेऽनुभवात्मकत्वात् प्रकाशरूपत्वापत्तेः नीलादयः स्वात्मनः संविदि कर्तव्यायां योग्या नहि ते तत्र दर्शने जडरूपाः संविदस्तथाऽयोगादित्युक्तेरिति तस्मात् सा नीलादीनां प्रकाशाख्यामेदोल्लेखः। यथा स्वरूपमेयं स्वसंवित् फलमित्यस्ति प्रमाणादिव्यवस्थेत्यर्थः श्लोकद्वयस्य

"तत्रात्मनि सुखादीनां यथा वित्तिः फलं तरं। २०
तथा सर्वत्र संयोज्या मान-मेय-फलस्थितिः" ॥ [ ]

अत्राप्यनुभवात्मत्वोयोग्योऽस्ती संविदि इति सा योग्यता मानं मेयं रूपं फलं स्ववित्याचार्यो-क्तस्य यदि तर्हि नीलादीनां स्वप्रकाशो वित्तिश्च 'कथमहं नीलं वेद्मि' इति कर्तृ-कर्म-क्रियाभेदोल्लेखः यथा लतिसुखादौ चामात्राप्यहमात्मानं वेद्मि सुखादीनि वासौ दृष्ट एव। अथान्यग्राहकाभावात् तत्रासौ मिथ्योल्लेखस्तर्हि नीलादावपि व्यतिरिक्तप्रकाशाभावात् भेदोऽवसेयः कर्तृ-कर्मादितया २५ मिथ्यो वा परोक्षस्य नीलादेरेव प्रकाशनात्। अथास्याः कर्म-कर्तृ-क्रियाभेदाध्यवसितेवी(तेर्बी)जं वक्तव्यम् निर्बीजं वान्ययोगात्, नैव; तत् क्वचिदपि कर्त्रादिभेदस्य वास्तवस्यानुपलब्धेर्वातिपरम्परामात्रं अनादिवासनाप्रभवप्रधानादिविकल्पवदसावभ्युपगन्तव्यः। यदपि 'विरोधान्न संवेदनं भवत्यङ्गुल्य-

१ यश्चक्षु-आ०। २-रिक्तः स-वा० बा०। ३-दशावेज्ञाप्रद्-वा० बा० आ० हा० वि० विना। ४-त्रतैवाभ्युपेय तथा-वा० बा० विना। ५ प्रमितिक्रि या व्याप्य-आ०। ६-मितिस्तु पलम्भ-वा० बा०। ७ सिध्यं सि-वा० बा० आ० हा० वि० विना। ८-माण व्य-आ० हा० वि०। ९ तव दृ-वा० बा० विना। १०-गन्तुं शक्य न वा० बा०। ११-वादे सुखा-वा० बा०।-वादे सुखा-आ०। १२-मा-त्मविपाये प्रमाण तेपा-वा० बा०। १३ फलं तु सुखा-आ०। १४-प्रासेर्मतिनि-आ०। १५ सर्व-त्र नी-वा० बा०। १६-नश्चा प्र-आ०।-नश्चऽप्र-भा०।- नश्वा प्र-भा०। १७-दयः संवि-वा० बा० विना। १८ नहि ते त्र वा० बा०। १९-थायो-वा० बा० विना। २०-काद्याख्या-वा० बा० विना। २१-स्याभेदेले-वा० बा०। २२ तरां। त-आ० हा० वि०। ततं। त-वा० बा०। २३ संयोज्य मान-भा० आ० हा० वि०। संयोज्य मानं मे-भा०। २४-त्वाद्म यो-वा० बा०। २५-त्यास्ता संविद इति आ०। २६ मान मेयं रूप फलं आ०। मान मेयं रूपं वि०। २७-चार्योकस्य वा० बा० विना। २८-थात्मनि सु-वि० स०। २९-खादौ चा मा-भां० आ० हा० वि०।-खादौ चामत्रा-वा० बा०। ३०-नि नासौ आ०। ३१-रिक्तःप्र-वि०।-रिक्ताप्र-भा०। ३२-वसायः वा० बा०। ३३-कर्मदितया सिद्धो वा प-आ०। ३४ मिथ्यो चा प-वा० बा० हा० वि०। ३५-लादेरव प्र-आ०। ३६-व्यं तिर्बीज वा-आ०।-व्यं निर्बीजं वा हा० वि०। ३७ वान्यं वा योगात् वा० बा०। ३८-दस्य वास्तवसा-वा० बा०।

प्रयत्' इत्युक्तम्, तदसारम्; यतोऽपरोक्षं स्वरूपं स्वानुभवः तत् कुतोऽत्र विरोधः? तथा 'अङ्गुल्यग्रमपि तेनैव अङ्गुल्यग्रेण न संस्पृश(श्य)ते' इत्यत्रापि किं यथानिला(थाऽन्येना)ङ्गुल्यग्रेणाङ्गुल्यग्रं संस्पृश्यते, उत यथा तेनैव? तत्राद्ये पक्षे सिद्धसाध्यता नहि यथाऽन्येनाङ्गुल्यग्रेणान्यदङ्गुल्यग्रं संस्पृश्यते तत्संस्पर्शः सम्भवी। अथ द्वितीयः पक्षः सोऽप्यनुपपन्नः, तेन तत्संस्पर्श(र्शस्य) न्यायप्राप्तत्वात्। नहि
५ स्वरूपव्यतिरेकेणाङ्गुल्यग्रसम्भवे(वः)। न च स्वरूपमात्मानं न संस्पृशति तथाभ्युपगमे स्वरूपहानिप्रसक्तेः, नीलादीनां त्वपरोक्षप्रकाशस्वभावता स्वरूपमेव अन्यथा तेषां परोक्षताऽभावप्रसङ्गादिति प्रतिपादितत्वात् तत् व्यवस्थितमेतत् नीलादयोऽपरोक्षस्वभावाः प्रकाशन्त इति विज्ञप्तिमात्रकमेवेदं बहिरर्थ(र्थ)संस्पर्शरहितम् तदपि विज्ञप्तिमात्रं पूर्वापरस्वभावविनिर्मुक्तक्षणरूपं स्वसंवेदनाध्यक्षतः तथैव प्रतिपत्तेः पौर्वापर्ये प्रमाणात्(णाऽ)प्रवृत्तेः प्रतिपादनादिति क्षणिकविज्ञप्तिमात्रावलम्बी
१० शुद्धपर्यायाऽस्ति(स्तिक)मेद ऋजुसूत्रः ??]

[३ पुनः ऋजुसूत्रपदस्य व्याख्यान्तरमाश्रित्य शून्यवादः]

[?? यद्वा एकत्वानेकत्वसमस्तधर्मकलापविकलता(त)या तदपि विज्ञानं शून्यरूपमृजु सूनयतीति ऋजुसूत्रः। स हि माध्यमिकदर्शनावलम्बी सर्वभावनैरात्म्य(नैरात्म्य)प्रतिपादनाय प्रमा-

---

१–रूप स्वा–आ०। २– मपि ने–वा० या० विना।

"तेनेव अगुलग्गेन तं अगुलग्गं परामसेय्य"—सुमङ्गलविलासिनी (बुद्धघोषकृता दीघनिकायटीका) भा० १ सामञ्ञफलसुत्तवण्णना पृ० २३५ पं० ३४।

"न हि चित्तं चित्तं समनुपश्यति। तद्यथा न तयैव असिधारया सैव असिधारा शक्यते छेत्तुम्। न तेनैव अङ्गुल्यग्रेण तदेव अङ्गुल्यग्रं स्प्रष्टुं शक्यते"—शिक्षासमु० परि० १३ पृ० २३५ पं० ६।

"उक्तं च लोकनाथेन चित्तं चित्तं न पश्यति ॥ १७॥

न छिनत्ति यथात्मानमसिधारा तथा मनः" ॥१८॥—बोधिचर्याव०प्रज्ञापार० पञ्चि० परि० ९ पृ० ३९१–३९२ तथा ३९३ पं० २–५।

मध्यमकवृ० प्रत्ययप०प्र० १ पृ० ६२ पं० ८–पृ० ६३ पं० १ तथा टिप्प० १।

"न चैकस्यैवमात्मत्वे दृष्टान्तः कश्चिदस्ति ते"।

"न हि पाकः पच्यते, छिदा वा छिद्यते, नापि करणकर्मत्वं कर्तृकर्मत्वं वा एकस्य संभवति न हि अङ्गुल्यग्रेण एव अङ्गुल्यग्रं स्पृश्यते" इत्यादि—श्लो० वा० शून्य० श्लो० ६४ पार्थ० व्या० पृ० २८७ पं०२३–पृ० २८८ पं० ९।

{"अङ्गुल्यग्रं न तेनैव अङ्गुल्यग्रेण स्पृश्यते"

"यथा अङ्गुल्यग्रं न तेनैव अङ्गुल्यग्रेण स्पृश्यते एवं ज्ञानं न तेनैव ज्ञानेन ग्रहीतुं शक्यते"—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका पृ० ४६६ पं० १०।

"अङ्गुल्यग्रं यथात्मानं नात्मना स्प्रष्टुमर्हति।

स्वांशेन ज्ञानमप्येवं नात्मानं ज्ञातुमर्हति" ॥–प्रकरणपञ्चिका पृ० ६३। न्यायकणिका पृ० २६८।

"नो खलु अङ्गुल्येव अङ्गुली स्पृश्यते" इत्यादि। तथा,

"यथोक्तम्–

अङ्गुल्यग्रं स्वमात्मानं नात्मना स्प्रष्टुमर्हति"। न्यायमकरन्दे पृ० १३१ पं० ८ तथा पृ० १८३ पं० ११। श्रीभाष्ये पृ० १६६। सर्वार्थसिद्धौ पृ० ३९१।}—लौकिकन्याया० भा० ३ पृ० ३।

३–स्पृश इ–आ०। ४–था नित्यङ्गुल्यग्रेणातुल्यग्रं वा० या०। ५–स्पृश्येते वा० बा० आ० हा० वि० विना। ६ उत यथा वा० या० विना। ७–ल्यग्रेणा द–भां० मां० आ० हा० वि०।–ल्यग्रेणेदमङ्गु–वि० स०। ८–स्पर्शः संभ–वा० या० विना। ९–पस्वतिरे–वा० या०।–पत्वव्य–भां० मां० हा० वि०। १०–न्यमा तेषां ...। ११–ध्यक्षरू–वा० या० विना। १२–लम्बि शु–आ०। १३–पर्यायो–वा० या० विना। १४ यथा। १५–मस्तं ध–वा० या० आ० हा० वि०। १६–ल तद्–या० वा० विना। १७ शून्यं रू–आ०। स्वाप्र–वा० या०।

णयति—यद् विशदर्शनावभासि न तत् परमार्थसद्भव(सद्रूपव)इतिमवतरति यथा तिमिरप-रिकरितदृगवभासि इदु(इन्दु)द्वयं विशददर्शनावभासिनश्च स्तम्भ-कुम्भादयः प्रतिभासाविशेपात्। अथापि यु(उ)क्तं यत् तैमिरिकावभासिनश्चन्द्रद्वयादयो न परमार्थसत्वः(न्तः) तत्र कारणा(ण)-दोपाद्बा वोधो(बाधो)दयाद्व(द्वा)परिशुद्धदृगवशेपास्त्वेकेन्दुमण्डलादयो न वितथास्तु(स्त)त्र का-रणदोपविरहाद् बाधाभावत्वेत्यसिद्धः प्रतिभासाविशेपा(पात्), असदेतत्। बाध्यत्वायोगात्। ५ तथाहि—न विज्ञानस्य तत्कालभाविस्वरूपं बाध्यते(बाध्यते) तदानीं तस्य स्वरूपेण प्रतिभासनात्। नाप्युत्तरकालम्, क्षणिकत्वेन तस्य स्वयमेवोत्तरकाल(लम)भावात् नापि प्रमेयं प्रतिभासमानेन रूपेण बाध्यते, तस्य विशदप्रतिभासादेवाभावासिद्धेः। नाप्यप्रतिभासमानरूपत्वात् तस्याप्यभावे धारिणा स्पर्शादिलक्षणेन प्रतिभासनारूपात् तस्यान्यत्वात्। न चान्याभावेऽन्यस्याप्यभावः अति-प्रसङ्गात्। नापि प्रवृत्तिरुत्पन्ना बाध्यते, उत्पन्नत्वादेवासत्तायोगात् तस्याः। नाप्यनुत्पन्ना स्वत १० एवाऽसत्त्वात्। नाप्यर्थक्रिया उत्पत्ति-क्षययोर्बाध्यत्वायोगात्। न च तस्या भा(अभा)वेऽर्थस्या-सत्त्वम्, तस्यास्ततोऽन्यत्वात्। न चार्थक्रियासद्भावादर्थस्य सत्त्वम् अर्थक्रियाया अपि सत्ता(त्वा)-सिद्धे(द्धेः)। नाप्यपरार्थक्रियाभावात् तस्याः सत्त्वम् अनवस्थाप्रसक्ते(क्तेः)। नाप्यर्थजन्यत्वादर्थ-क्रियासत्त्वम् इतरेतराश्रयप्रसङ्गात्। न च सत्तासम्बन्धाद् भावान(नां) सत्त्वम् सत्ता-तत्सम्बन्धयो-र्निषेधत्(धात्)। नाप्युत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययोगात् विरोधाद्यनेकदूषणाघ्रातत्वात् बाधकसद्भावाद् बा-१५ ध्यत्वं सन्तानमतिप्रसङ्गात्। नाप्येकसन्तानम् एककालमेकतानेककालाविकल्पदर्शनद्वैयायोगात्। नापि भिन्नकालमेकार्थम् घटज्ञानानन्तरभाविनस्तज्ज्ञा(नस्तज्ज्ञा)नस्य बाधकतापत्तेः। नापि भिन्नार्थम् पटज्ञानबाधकतापत्तेः। नाप्यनुपलब्धिया(ब्धिर्या)ध्यज्ञानसमानकाला तद्बाधिका तस्या असिद्धः(द्धेः)। नाप्युत्तरकालभावितयान्यज्ञानेकार्थविपया एकविपयस्य तदर्थसाधकत्वेन बाधकत्वानुपपत्तेः। नापि भिन्नविपर्याणायास्तस्यास्तदानीं स्वविपयसाधकत्वेन पूर्वबाध्यज्ञान-२० विपयाभावप्रतिपादकत्वानुपपत्तेरन्यथातिप्रसक्तेः। न च दुष्टकारणप्रभवत्वेनेन्दुद्वयावभासज्ञान-स्यासत्यार्थविपयता तत्प्रभवत्वज्ञातुमशक्तो रिन्द्रियत्वेन तद्गतदोपस्याप्यध्यक्षेणाप्रतिपत्तेः। नाप्य-

१-भासादिन्दु-मां० आं० हा० वि०।-भासादिदु-भां०। २ बोधदयाव्य परि-बा० बा०। ३-शेपास्वेके-मां० हा० वि०।-शेपांस्वेके-भां०।-शेपास्तोके-आ०। अत्र-'दृगवसेयास्त्वेकेन्दु'-इति पाठः संभवेत्। ४ वितथ्यसूत्र आ० वि०। वितथ्यस्तत्र बा० बा० भां० मां०। ५-रणत्रोपः विर-आ०।-रणादोप विर-भां० मां० हा० वि०। ६-हादवा-हा०। ७-भासाविशेपाः सदे-आ०।-भासाविशेपाऽस-द्वोतदेतद् व्याध्यत्वा-बा० बा०।-भासादिशपाऽसंदे-भां० मां०। अत्र 'बाधाभावाच्चेत्यसिद्धः प्रति-भासाविशेपः असदेतत्' इति पाठसंभवः। ८-रूप बोच्य-मां०।-रूपं बोच्य-आ० हा० वि०।-रूपं बोच्य-भां०। ९ तदानीं त रू-मां०। तदानी त रू-भां०। तदानीं तनस्य स्वरूपं बोच्यते तदानीं तनस्य स्वरूपेण आ०। तदानीं तनस्य स्वरूपेण हा० वि०। १०-मानरूपे-आ०। ११-रूपात्त-बा० बा०। १२-क्षणेम प्र-बा० बा०। १३ तस्यान्यत्वत्वा-बा० बा०। तस्यातत्वा-आ०। तस्या त्वत्वा-हा०। तस्य त्वत्वा-वि०। १४ स्वत एवासत्तायोगात् तस्या नाप्यनुत्पन्ना स्वत एवा-भा० आ०। स्वत एवासत्वायोगात् तस्या नाप्यनुत्पन्ना स्वत एवा-मां० विना। १५-सत्वासिद्धे। आ०। १६ तस्याऽभा-बा० बा०। १७ तस्या स-बा० बा० विना। १८ सत्वा त-बा० बा०। १९-निंपेधत्वात् ना-आ० हा० वि०।-षेधत्वा ता-बा० बा०। पृ० १०६ पं० ९। पृ० ११० पं० ८। २०-त्वात् अपि बाधाध-बा० बा०। २१-ध्यत्वां स-बा० बा० विना। २२ नाप्येककालमेकता-बा० बा०। २३-न्तानाम् आ०। २४-क-स्पाद-हा०। २५-द्व योत् नापि आ०। २६-लमेकालमेकार्थम् भां० मां०। २७-ज्ञानानन्तरं भा-मां०।-ज्ञानांनन्तर भा-भां०। २८-नसज्ञान-आ०।-नसजान-बा० बा०। २९-धता-आ०। ३०-नार्थं प-बा० बा० विना। ३१-स्या सिद्धः। बा० बा० विना। ३२-भाविनया-आ० हा० वि०।-भावि-नीयान्यजाने-बा० बा०। ३३-कत्तेन भां०। ३४-याणां यास्त-बा० बा० भां० आ० हा० वि०। ३५-द्वा-क्तोरि-बा० बा०। 'तत्प्रभवत्वस्य ज्ञातुमशक्तेरिन्द्रियस्यातीन्द्रियत्वेन' इति पाठः स्यात्। पृ० ९ पं० ३। ३६-स्याप्यक्षे-बा० बा०।-आप्यक्षे-आ०।

नुमानात् कारणदोषावगतिः अध्यक्षाभावेऽनुमानस्याप्रवृत्तेः । न च नरान्तरस्येन्दुद्वयादेरप्रतिभासनाद् दुष्टकारणजनितविज्ञानविषयत्वामस्य(त्वमस)त्यत्वं वा स्वग्राहिज्ञाने परिस्फुटतया प्रतिभासनात् । न च समानसामग्रीकस्य नरान्तरस्य तदप्रतिभासः यावत् तिमिरं तावत् तस्यावभासनात् न च परिज्ञा सामग्रीकस्यानवभासनात् तदभावः सत्कारणानामेव तद्ग्रहणं प्रति
५ सामर्थ्याविरहाद् दुष्टत्वसिद्धे(द्धेः) ??]

[?? न च सत्यदर्शित्वात् तस्य कारणदुष्टतानुपपत्तिः, कारणादुष्टत्वे सत्यार्थदर्शित्वम् तद्दर्शित्वाच्च क(का)रणादोष इतीतरेतराश्रयदोषापत्तेः । न च तदवभासिविज्ञानस्य मिथ्यारूपत्वात् दोषवत्कारणा(ण)जन्यत्वम् अत्रापीतरेतराश्रयदोषस्य तदवस्थानात् । न च विसंवादिज्ञानविषयत्वात् इन्दुद्वयादेरपारमार्थिकत्वम् विसंवादस्यैवासिद्धेः । न तावत् समानजातीयतद्विज्ञानानुत्प-
१० त्तिविसंवादा(दो) यावत् तिमिरं तावत् तस्योदयसद्भावेन तदनुत्पत्तेरसिद्धत्वात् । नापि विजातीयविज्ञानसंवादादिन्दुद्वयादेर्वैतथ्यम् संस्पर्शज्ञानावभासिस्तम्भादेरपि तत्सद्भावेना(न) वैतथ्यप्रसक्तेः । न च स्तम्भादेरवितथत्वं तदवभासिज्ञानबाधाभावादिति वक्तव्यम् बाधाभावस्य तदवैतथ्याप्रसाधकत्वात् । तथाहि—न तावत् तत्कालो बाधाभावः भावसद्भावम् अ(अव)गमयन्तीन्दुद्वयावभासिज्ञानेऽपि तत्सद्भावात् क्षपाकरयुगलस्य सद्भावप्रसक्तेः । नाप्युत्तरकालभावी तदभावः
१५ पूर्वकताल्प(पूर्वकाला)मर्थसत्तां साधयति तत्कालपरिहारेण प्रवृत्तेस्तथापि तत्साधकत्वे भ्रान्तदगर(व)सेयस्य रजतादेरुत्तरकालभाविबाधाऽभावतो भावप्रसक्तिर्भवेत् । नाप्युत्तरकाला(कालं) भावमसौ साधयति भ्रान्तदगत(गवगत)रजतेनैव व्यभिचारात् । नापि समानकाला(कालं) तमेव गमयति समानकालावभासिनोऽर्थस्य भ्रान्तज्ञानावभासिरजतस्यैव ततः सद्भावसिद्धेः । न च बाधाभावः प्रसज्यरूपस्तुच्छरूपतयार्थसत्त्वस्य व्यवस्थापकः तद्भावे तुच्छत्वायोगात् । न चासाव-
२० ज्ञात तद्व्यवस्थितः स्या परस्परस्थापकयोगाज्ञानामपि ज्ञातः स्वसंवेदनं तत्र ज्ञानासम्भवा(वात्) स्वसंविद्रूपतां बिभ्राणस्य भावस्वरूपतापत्तेः । नाप्यनुपलब्धितस्तज्ज्ञप्तिः तस्या अप्यज्ञाताया गादन्यायो ज्ञापकत्वायोगादन्यानुपलब्धेस्तुच्छरूपायास्तज्ज्ञप्तौ तत्पर्यनुयोगतोऽनवस्थाप्रसक्तेः । न च पर्युदासरूपायास्ततस्तत्सिद्धिः भावविषयत्वेन तस्यास्तदवगमहेतुत्वायोगात् । न बहिर्बाधकविषयगोचरानुपलब्धिर्बाधकाभावमवगमयत्यतथा(त्यन्यथा) देवदत्तनीलज्ञानावा(व)भासिनी-
२५ लगोचरात् प्रतिपत्तिनीलदशमपाकुर्यात् । नापि भिन्नविषया सा तमवगमयत्यन्यथा देवदत्तनीलप्रतिपत्ति तत्पीतप्रतिपत्तिरपाकुर्यात् । न च बाधकप्रत्ययो 'नास्ति' इत्युल्लेखवदभावेनाज्ञानं

१-रणादो-हा० वि० । २ नवान्त-वा० बा० । ३-यादे प्र-वा० बा० । ४-ना दुष्ट-वा० बा० आ० हा० वि० । ५-मत्यत्वं वा० बा० विना ।-मन्यत्वं वि०स० । ६-भासा या-भा० । ७-भासात् वा० बा० । ८-स्यावभव-वा० बा० । ९ तद्ग्राह-आ० । १० सामर्थ्याविरहा दुष्ट-आ० । सामर्थ्यविरहा दुष्ट-हा० वि० । सा र्थ्यविरहा दुष्ट-वा० बा० । ११-सिद्धे न च स-हा० वि० ।-सिद्धे त च स-आ० । १२-स्य कर-वा० बा० । १३-पत्तिः कर-आ० विना । १४-त्वात्त्व क-भां० आ० ।-त्वात्व क-भा० । १५-सिद्धो न था० ।-सिद्धः न हा० । १६-त्पत्तिर्विसंवादा यावत् वा० बा० । १७-ज्ञानं सं-वा० बा० विना । १८-चादादिदु-आ० ।-वादीविदु-हा० । १९-यादेवोत-आ० । २० सत्पक्षाना-आ० । २१-तथ्याप्र-आ० । २२-गमायन्ती-आ० । २३-वात क्ष-आ० । २४-द्दगन्त रज-वा० बा० विना । २५ न चा-भा० । वि० स० । २६ स्यात् प-आ० । 'न चासावज्ञातः तद्व्यवस्थितये स्यात् परस्परस्थापकतायोगात् नापि ज्ञातः स्वसंवेदनं तत्र' इति पाठो भवेत् । २७-गानाना-हा० वि० । २८ ज्ञाना स्व-आ० । २९-दन त-वा० बा० । ३०-वात् संभवा स्व-वा० बा० । ३१-रूपाप-वा० बा० विना । ३२-लब्धिस्ततस्त-वा० बा० विना । ३३ तस्या अप्यज्ञानयोगादन्यानुपलब्धेस्तुच्छरूपायास्त-वा० बा० विना । 'तस्या अप्यज्ञाताया ज्ञापकत्वायोगात् अन्यानुपलब्धेस्तुच्छरूपायास्तज्ज्ञप्तौ' इति पाठो योग्यो भाति । ३४ तस्पर्यनु-आ० । तनुत्पर्यनु-वा० बा० । ३५-रूपतायास्ततस्तत्सिद्धिः भा० मां० ।-रूपतायास्ततस्यसित्तिसिद्धिः आ० ।-रूपतायास्तत्तत्सिद्धिः वि० । ३६-स्यास्तेव-भा० मां० । ३७ तथा वा० बा० विना । ३८-ज्ञानावाभासितील-भां० । ३९-पत्तिर्नीचद-भां० मां० ।-पत्तिनीच-हा० । ४०-'नीलप्रतिपत्तिं तत्पीतप्रतिपत्तिरपाकुर्यात्' इति पाठः सुचारु । ४१-वताज्ञा-वा० बा० ।

तदभावमवगमयति वस्त्वन्तरग्रहणे प्रतियोगिस्मरणे च प्रतियोग्यभावविषयत्वेन परैस्तस्याभ्युपगमात्। उक्तं च—

"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्"।

[श्लो० वा० अभावप० श्लो० २७]

इत्यादि। वस्त्वन्तरस्य च प्रतियोगिसंसृष्टस्याध्यक्षेण ग्रहणे न ततस्तद्भा(स्तदभा)वसिद्धिः। असंसृष्ट-५ ग्रहणे चाध्यक्षत एवाभावसिद्धव्य(द्धेर्व्य)र्थमभावाख्यं प्रमाणम्। न चाभावप्रमाणादेव प्रतियोग्य-संसृष्टता वस्त्वन्तरस्य प्रतीता तस्यापि प्रतियोग्यसंसृष्टं(ष्ट)वस्त्वन्तरग्रहणमन्तरेणाप्रवृत्तेः तदभ्युपगमे चानवस्थाप्रसक्तेः, तथा, प्रतियोगिनोऽपि यदि वस्त्वन्तरसंसृष्टस्य स्मरणं कथमभावः? अथासंसृष्टग्रहणे सति प्रवर्त्तते असंसृष्टताग्रहणं च यदि प्रत्यक्षादभावप्रमाणवैयर्थ्य(र्थ्यम्)। अभावप्रमाणत्वे तदपि वस्त्वन्तरसंसृष्टप्रतियोगिस्मरणे सति प्रवर्त्तते तत् स्मरणमपि तथाभूतवस्तु-१० ग्रहणे तदप्यभावप्रमाणादित्यनवस्थाप्रसक्तिः। न चभासप्रमाद(न चाभावप्रमाणाद)भावप्रतिपत्तावपि प्रतियोगिनो निवृत्तिसिद्धिः अन्यप्रतिपत्तावन्यनिवृत्त्यसिद्धेः। न च तन्निवृत्तिप्रतिपत्तौ प्रतियोगिनिवृत्तिसिद्धिरनवस्थाप्रसक्तेः प्रतियोगिस्वरूपाः(पाऽ)संस्पर्शिरूपाऽपरापरनिवृत्तिप्रतिपत्त्यपरिसमाप्तेः। न चाभावप्रत्यये प्रतियोगिस्वरूपानुवृत्तौ तत्प्रतिषेधः तस्य तत्र प्रतिभासनात्। अननुवृत्तापि(वृत्तावपि) नाभावः अप्रतिभासत(सात्) न च तद्विविक्तत्वात् तदवाप्रतिपत्तिः तदवभासे १५ तद्विविक्तताऽप्रतिपत्तेः। न स्मृतौ प्रतियोगिप्रतिभासात् तद्विविक्तावगतिः यथाप्रतिभासमवभासासिद्धेः यथा च न प्रतिभासस्तथापि निषेधायोगात् इत्यभावाकारस्य प्रतियोग्यभेदे तत्प्रतिभासेन तन्निराकृतिः भेदेऽपि न प्रतियोगिप्रतिषेध इति न बाधाभावावगमः। अपि च, बाधाभावप्रतीतिरपि यद्यपरैर्बाधाभावप्रतीते(तेः) श(स)त्या तदानवस्थाप्रसक्तिः। नापि सत्यविषयप्रतिभासा तत्प्रतीतिः सत्या इतरेतराश्रयदोषात्। तन्न प्रसज्यरूपो बाधाभावो भावस्तद्भावव्यवस्थापकः। ??] २०

[?? नापि पर्युदासरूपो बाधकाभावस्तद्व्यवस्थापकः तस्य विषयोपलम्भस्वभावत्वात्। स च यथा न प्राक्कालभावी अर्थतथाभावव्यवस्थापकः तथोत्तरकालभाव्यपि प्रतिभासाविशेषात्। पुनरप्युत्तरकालभाविपर्युदासरूपबाधाभावात्मन्यव्यवस्थायां चोद्यपरिहारानवस्थाप्रसक्तिरिति न

१-भाव गम-बा० वा० आ०। २-हण प्र-आ०। ३-रणे प्र-भां० आ० हा० वि०। ४-स्य प्रतियोगिसंसृष्ट-बा० वा० विना।

"यच्च निषेध्याधारवस्तुग्रहणादिसामग्रीत इत्याद्युक्तम् तत्र निषेध्याधारो वस्त्वन्तरं प्रतियोगिसंसृष्टं प्रतीयते असंसृष्टं वा? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः—प्रतियोगिसंसृष्टवस्त्वन्तरस्याध्यक्षेण प्रतीतौ तत्र तदभावग्राहकत्वेनाभावप्रमाणप्रवृत्तिविरोधात्। प्रवृत्तौ वा न प्रामाण्यम्—प्रतियोगिनः सत्त्वेपि तत्प्रवृत्तेः। द्वितीयपक्षे त्वभावप्रमाणवैयर्थ्यम्—प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिनोऽभावप्रतिपत्तेः। अथ प्रतियोग्यसंसृष्टतावगमो वस्त्वन्तरस्याभावप्रमाणसम्पाद्यस्तर्हि तदप्यभावप्रमाणं प्रतियोग्यसंसृष्टवस्त्वन्तरग्रहणे सति प्रवर्तेत, तदसंसृष्टतावगमश्च पुनरप्यभावप्रमाणसंपाद्य इत्यनवस्था। प्रथमाभावप्रमाणात् तदसंसृष्टतावगमे चान्योन्याश्रयः। प्रतियोगिनोऽपि स्मरणं वस्त्वन्तरसंसृष्टस्यासंसृष्टस्य वा? यदि संसृष्टस्य तदाऽभावप्रमाणाप्रवृत्तिः। अथासंसृष्टस्य; ननु प्रत्यक्षेण वस्त्वन्तरासंसृष्टस्य प्रतियोगिनो ग्रहणे तथाभूतस्यास्य स्मरणं स्यान्नान्यथा। तथाभ्युपगमे च तदेवाभावप्रमाणवैयर्थ्यम्"—प्रमेयक० पृ० ५३ द्वि० पं० ७।

५ असंसृष्ट-भां०। ६-हणे वा-बा० वा० विना। ७-ग्यसंसृष्टं-आ०। ८-भावः असं-आ० हा० वि०।-भावः सअसं-भां० मां०। ९-हणो स-बा० बा० आ०। १० न चभा-भां० हा० वि०। न चाभावप्रतिपत्ता-बा० वा०। ११ तद्विविक्तत्वात् तच्च तद्विविक्तत्वात् तदवाप्रति-भां० मां०। तद्विविक्तत्वात् तदत्वा प्रति-आ०। तद्विविक्तत्वात् तदवा प्रति-हा०। तद्विविक्तत्वादेवा प्रति-वि०। १२ तदभा-बा० वा० विना। १३-क्तताःप्र-आ०। वि० सं०। १४-पत्तेः त स्मृतौ भां० मां० हा० वि०।-पत्तेऽत सतौ आ०। १५-क्ताग-बा० वा० विना। १६-भासासिद्धेः हा०। १७-भासे तन्नि-बा० वा० विना। १८-परापा-बा० वा०। १९-धाततौ-बा० वा० विना। २०-प्र ते चात्या-भां०। २१ न प्रक्षाल-बा० वा०। न प्र—ल-भां० मां०। न पल-हा० वि०। २२ अर्थः-मा० मां० आ० हा० वि०। २३-था व्यव-हा०।-था व्यव-वि०। २४-भावोऽपि भां० मां०।-भावा पि बा० वा० हा० वि०। २५-रकालभा-बा० वा० विना। २६-पयोधा-आ०।

गमविषयः अन्यथा पीतादेव प्रतिभासमानस्य नीलादेः सत्त्वापत्तेः सर्वस्य पूर्वात्मकतापत्तेः। न च सर्वं सर्वं सर्वात्मकतापत्तेः गम्यत एव प्रत्यक्षेण तथा अप्रतिपत्तेः। न चानुमानमपि सर्वस्य सर्वात्मकतामवगमयति प्रत्यक्ष(क्षा)नवतारे तत्रानुमानस्यापानवत्(स्याप्यनवतारात्) अनुमानस्य च सर्वात्मकत्वसाधकत्वे प्रवृत्तो प्रतिनियतरूपा ग्राह्यवाक्षमशेषं विपरीतख्यातितामनुभवेत्। न ५चा भेदग्राह्यनुमानमागमो वाऽवितथो वितथो व्यक्तं तु भेदावभासिनमस्तं वितथमित्यद्वैतापत्ति-रप्यपेक्षामते भेदे अनुमानागमयोरभेदग्राहिणोः वैतथ्यापत्तेः प्रत्यक्षतोऽविगतभेदे वस्तुन्यभेदग्राहिणो-स्तयोरन्यथा ग्रहणलक्षणस्य वैपरीत्यस्य भावात् नवानुमानावगमबाधितत्वात् थभेदग्राह्यध्यक्षस्य वैतन्यं तद्बाधितत्वेन तयोरैकचैतन्यप्रसक्तेः न च तत्त्वात् तस्य तदबाधकत्वप्रसक्तेः न चानुमान-योरभेदप्रतिपादकत्वं तयोर्भेदप्रतिपादकत्वयोस्ततः प्रतिभासाविशेषात् विपरीतख्यात्यभ्युपगमे १०सर्वासद्विपरीतख्यातिर्भवेत्। न च यदविसंवादि तन्न विपरीतख्यातिरिति वक्तव्यम् अविसंवादि-त्वस्यासिद्धेरित्यसकृत् प्रतिपादनात् ??]।

[?? अपि च, पूर्वदृगवगतस्य रूपस्य पुनरवगमोऽविसंवादः न च पूर्वदृगवगमयो (दृगवगतयो)-रभेदप्रतिपादकत्वम् पूर्वदृशः प्रच्युतत्वेन तत्राप्रतिभासे तदवगतस्यापि रूपस्याप्रतिभासमाना-त्(सनात्)। न च पूर्वप्रतिभास्येवे दर्शनावभासिरूपमित्येकत्वात् न पूर्वं प्रतिभासंते स्वनमस-१५त्वामेकत्वस्यैवासिद्धेः। तथाहि-दर्शने प्रतिभासमानं रूपं तद्दर्शनग्राह्यमस्तु पूर्वं न ग्राह्यं तु तत् कथमवगतं न तावत् सर्वदर्शनेन उत्तरकालं तस्याभावात् यदापि तदासीत् न तदा वर्तमानं दर्शनं तदभावेन तदवसेयरूपावगतिः तदवसायानधिगमे तदवसेयरूपानवगमादन्यथा सकलसन्तान-दृगवसेयत्वप्रतिपत्तिप्रसक्तेः सर्व(र्वः) सर्वविद् भवेत्। न च तद्दर्शनेन तदवसायाव्यतिरिक्तभावि-दृगवगतरूपपरिच्छेदः न पुनः तद्व्यतिरिक्तरूपपरिच्छेदाभेदादेवेति वक्तव्यम् यतो भाविदृगवगमस्य २०भेदतदवसेयत्वादेवाध्यक्षस्याप्यप्रवृत्तिर्न पुनर्भेदात्। भिन्नेऽपि सन्निहिते पक्षभूतेरुत्पत्तेरुपलम्भात् तत्राभिन्नेऽपि भाविदर्शनाग्राह्यत्वमस्तीति न तत्राध्यक्षवृत्तिः न च भिन्नं भाविज्ञानावसेयसन्नि-हितत्वात् न तदवसेयमभिन्नं तु विपर्ययात् तदधिगम्यमिति वक्तव्यम् भाविदृगसन्निधाने *तदवभासस्याप्यसन्निहितत्वात्। यदि च भाविज्ञानदृशं तत् परिगतं चार्थ(र्थं) पूर्वदर्शनम-*वभासयति तदाऽसदर्थग्राहित्वात् भ्रान्तं तदासज्येत। तत्र प्रथमदर्शनेन भाविज्ञाने ग्राह्यरूप-

---

१–तादर्थं प्र–हा०।–तादर्थे प्र–वा० बा०।–तादर्थ्य प्र–वि० सं०। २ न च सर्वं स–भां०। न च सर्वं सर्वात्मक–हा० वि०। न च सर्वं सर्वमर्वात्मकतापत्ते गम्य–वा० बा०। न चा सर्वं स–आ०। ३ नवानु–भां० हा० विना। ४–स्य च सर्वा–भां०।–स्य वा सर्वा–आ०। ५ ग्राह्यचाक्ष–भां०। ६ वा-ऽवितथोऽवितथोऽव्य–भां० मां० हा० वि०। चावितथोऽवितथो व्य–वा० बा०। ७–ध्यक्षस्य वैतथ्यं तद्बाधितत्वेन तयोरैकवैतथ्यप्रसक्तेर्न च तद्बाधितत्वात् तस्य तदबाधकत्वप्रसक्तेः न चानुमानमयो-रभेदप्रति कत्वं तयोर्भेदप्रतिपादत्वयोन्ततः प्रतिभासाविशेषात् वा० बा०। ८–स्तयोरन्यथा आ० हा० वि०। ९–वाम्रचानु–भां०। १०–त्वात् से–आ० हा० वि०। ११–तन्य तद्बा–आ०। १२ न च तद्बा-धितत्वात् आ० हा० वि०। १३ न चानु–आ० हा० वि०। १४ सर्वा सचिद्वि–वा० बा०। १५ असं–मां० बा० विना। १६ अपि पूर्वयदवग–वा० बा० विना। १७ पूर्वदवगम–वा० बा० विना। १८–भा वे द–वा० बा०। १९–सते स्य तमस–आ०। सते सेनीम–वा० बा०।–सते स्य नमसत्वमेकत्व–वि० सं०। २० तत्राहि वा० बा०। २१–ग्राह्यमस्तु पूर्वं न ग्राह्यं तु वा० बा०।–ग्राह्यं तु भां० मां०। २२–मानं त द–वा० बा०। २३–रूपाप–आ०। २४–मस्ये भे–भां० मां० हा० वि०।–मस्यै भे–आ०। २५–त्वा-देतदवसेयत्वादेवाध्य–वा० बा०। २६–हिते क्षभूते–मां० हा० वि०।–हिते न्यक्षभूतेयत्तेरुपलम्भात् भिन्ना... ...त्वमस्तीति वा० बा०। २७–लम्सते तथा–भां० मां० हा० वि०। २८ च भा–भां०। २९–म्यतमिति वा० बा०। ३०भावि गसन्नि–वा० बा० विना। ३१–भासस्या–वा० वि०। ३२–गतं वार्य–भां० मां० आ० हा० वि०। ३३–ग्राहितत्वात् वा० बा० विना। ३४–स-त–वि०। ३५–भ्रान्तं भा–वा० बा० विना।

परिच्छेदः तत्परिहारेण पूर्वकालताप्रतिभासोदयात् तत् प्रतिगतमेव रूपं तद्विषयोऽभ्युपगन्तव्यः। नापि वर्त्तमानं दर्शन(नं) दृश्यमानस्य पूर्वदृगवभासिरूपमावेदयति तस्यापि स्वकालभावविरूपाव-भासकत्वेनोदयात् पूर्वदृशोऽप्रतिभासे तदवगतस्यापि रूपस्य तेनाग्रहणात् पूर्वदृशोऽनवगमेऽपि द(ऽपितद)वगतरूपपरिच्छेदाभ्युपगमात् पूर्वपूर्वज्ञानावभासिरूपपरिच्छेदापत्तिरित्युक्तत्वात्। अपि च, पूर्वज्ञानावभासि रूपं वर्त्तमानावभासितया वा गृह्यते, वर्त्तमानदर्शनावगम्यं वा पूर्वज्ञाना-५ वभासितया, द्वयं वा परस्परसंसक्तमिति विकल्पाः। आद्ये विकल्पे वर्त्तमानदृगवभासिरूपाधि-गतिरेव न पूर्वज्ञानावगतरूपाधिगमः। द्वितीयेऽपि प्राक्तनज्ञानावगतरूपाधिगतिरेव पूर्वदृगवगतं च रूपमसदिति तद्ग्राहि वर्त्तमानं ज्ञानं भ्रान्तं भवेत्। पूर्वावभासप्रच्युतेऽ(तेः) तद्ग्राह्यताया अपि प्रच्युतेः नहि तस्मिन् विनष्टे तत्प्रतिभासमानं रूपं संभवति प्रतिभासमानं रूपं संभवति प्रति-भासनप्रसङ्गात्। नापि तृतीयः पक्षः तत्र हीदानीन्तनदृगवभासि पूर्वावगासा(वभासा)धिगम्यं १० च परस्परं संसक्तं रूपद्वयमाभातीति नैकतावगम इति न पूर्वदर्शनावगतेन रूपेण दृश्यमानस्या-वगमो युक्तः। न च रूपान्तरेण दृश्यमानस्यावगमो युक्तः न च रूपान्तरेण दृश्यमानरूपावगमो रूपान्तरावगमात् पूर्वज्ञानावभासिरूपानवगमात् यतः अन्यरूपपरिच्छेदे नान्यत् परिच्छिन्नं भवति। न च वर्त्तमानदर्शनात् पूर्वदर्शनग्राह्यरूपपरिच्छेदः अभेदादेवेति वक्तव्यम् यतः भेदसिद्धो(द्धौ) पूर्वदृगवगतरूपास्यावगतसि(रूपस्यावगमसि)द्धिः तत्सिद्धो(द्धौ) चाभेदसिद्धिरितीतरेतराश्रयदो-१५ षप्रसक्तिः। तस्मान्न गृहीतस्य पुनर्ग्रहणसंभव इति न संवादः। तदभावे च भ्रान्ताभ्रान्तज्ञान-योर्विशेषाभावान्न विपरीतख्यातिसंभवः। ??]

नाप्यलौकिकत्वं भ्रान्तज्ञानावभासिनोऽर्थस्यात एव न्यायात्। तथाहि-न तावदलौकिकत्वा-प्रतिपत्तिः यतो मभा(तोऽभा)वस्य निःस्वभावतया केनचिद(दा)कारेण परिच्छेत्तुमशक्यत्वात् परिच्छेदे वास्तु(वा वस्तु)त्वापत्तेः पुनरप्यलौकिकत्वाशङ्काऽनिवृत्तेरनवस्थाप्रसक्तिः। न च लौकि-२० कत्वादन्यद्य म(न्यत्वम)लौकिकत्वम् यतो यदि तत् तदैव गृह्यते तदा भ्रान्तदृशोऽप्रवृत्तिर्भवेत्। नह्यर्थक्रियार्थिनोऽलौकिकत्वपरिच्छेदप्रवृत्तियु(र्यु)क्तिमती न्यांय्य(नाप्य)न्यदाऽलौकिकत्वप्रतिपत्तिः यतः 'नेदं रजतम्' इति कालान्तरेऽभावप्रतीतिस्तत्र जायते नालौकिकत्वावगतिः। तदेवं प्रति-भासाविशेषात् प्रतिभासमानं केशान्दुकादिव(वत्) सर्वं निःस्वभावम्।

तथाहि-नावभासमानो नीलादिरवयवी देशादिभिन्नस्थूलस्य तस्यैकत्वानुपपत्तेः। न ह्यनेक-२५ देशसम्बन्धविरुद्धधर्माध्यासवत एकत्वं युक्तम् तथाप्येकत्वे घट-पटावपि(पटयोरपि) न भेदो भवेत् विरुद्धधर्माध्यासादन्यस्याभेदकत्वात्। न च देशादिभेदेऽप्येकत्वप्रतिभासादेकता, देशादि-भेदेन व्यवस्थितानामवयवानां प्रतिभासभेदादेव भेदात्। न ह्यवोमध्योर्वादि(ह्यधोमध्योर्ध्वादि)-भागा ए(एक)रूपतया प्रतिभाति(भान्ति) पिण्डस्याणुमात्रतापत्तेः। न च तद्व्यतिरिक्तो ग्राह्याकारतां बहिर्बिभ्राणोऽवयवी प्रतिभाति। न च समानदेशतया अवयवेभ्यः पृथक्त्वस्याप्रतिभासः यतः ३० समानदेशा अपि वातातपादयो भावाः पृथगवभासमाना लक्ष्यन्ते। न चैवमवयवनिर्भास इति नासौ

१-च्छेदे त-वा० वा० विना। २-या तत् प्र-वा०० वा० आ०। ३-भासरू-आ०। ४-भावेपि विरु-आ०। ५-दनात् वा० वा०। ६ रूप वर्त-आ०। ७-रसंसिकेमिति वा० वा०।-रसंसिके मिति भां० ह्रा० वि०। ८-मानज्ञा-मां० आ० ह्रा० वि०। ९-च्युतोऽत-आ० ह्रा० वि०।-च्युतोत-वा० वा०। १०-प्र-तिभासमानं रूपं संभवति प्रतिभासमानरूपं संभवति प्रतिभासमानं रूपं संभवति प्रतिभासनप्रस-ङ्गात् भां० मां०। ११-वगमासा-मां०।-वगगासा-भां०। १२-गमोऽवगमात्। पूर्व-भां० मां०। -गमोवगमा रूपान्तरावगमात् पूर्व-ह्रा० वि०।-गमोवगमा रूपान्तरावगमा पूर्व-वा० वा०। १३-मात् तयोऽन्य-आ० वा० विना। १४-ह सम्भ-आ०। १५ यतोमभा-वा० वा०। १६-न्यथ म-आ०। -न्यत्र म-वा० वा०। १७ न्यायान्यदा-भां० मां०। १८-कत्वा प्र-आ०। १९-भावचप्रतीतिस्तव-ज्ञाय-ह्रा०।-भावप्रतीतिस्तवज्ञाय-वि०।-भावं च प्रतीति वज्ञाय-भां० मां०।-भातवप्रतीतिस्तव ज्ञाय-आ०। २० तदेवं प्र-आ० विना। २१-सनामं केशांदु-वा० वा०।-समान केशाद्दु-भां० मां०। पृ० ३६१ टि० ३१। २२ सर्वं निः-वा० वा० विना। २३-संवंद्धवि-भां० आ० ह्रा० वि०।-सवद्धवि-वा० वा०। २४ न ह्यवोमध्योऽर्वादि-ह्रा० वि०। न ह्यवोमध्योर्वादि-वा० वा०। न ह्यवोमध्येऽर्वादि-आ०। २५-भागो ए-ह्रा० वि०।-भागा एव या-वा० वा० आ० विना। २६-मवमयं च निर्भा-आ०।

तद्व्यवहारविषयः । न च 'एको घटः' इति प्रतीतेरवयवो(वी) अवयवव्यतिरिक्तमस्ति(क्तः समस्ति) यतो घट(टा)वसायेऽपि तदवयवानामुल्लेखाध्यवसीयते नापरोऽवयवी वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यस्य तस्य केनचिदप्यनु(प्यननु)भवान्न कल्पनाऽवसेये(यो)ऽप्यवयवी सत्तामासादयति ।

अनादिवासनासमुत्थं व्यवहारमात्रफमेवेदं मिथ्यार्थं ज्ञानम् । न च व्यवहारमात्रादेव ५वहिरेकं वस्तु सिद्ध्यति 'नीलादीनां स्वभावः' इत्यत्रापि व्यवहारैकत्वात् स्वभावैकत्वमाप्तेः । अथ तत्र प्रतिभासभेदादेकत्वं बाध्यते तदत्रापि मध्योर्ध्वादि(ध्योर्ध्वादि)निर्भासभेदात् घटादेरेकत्वं बाध्यत एवेति न बाह्योऽर्थोऽस्त्यवयवरूपः । नापि परमाणुस्वभावः मध्योर्ध्वादिविभागप्रतिभासेऽप्यणूनामप्रतिभासनात् । स्थूलरूपो हि नीलाद्यवभासः संवेद्यते न च परमाणुषु प्रत्येकं स्थूलरूपसम्भवः तथात्वे परमाणुत्वायोगात् । नापि तेषु समुदितेषु स्थूलरूपसङ्गतिः तथावस्थाभा-१०विनामप्यणूनां स्वरूपतः सूक्ष्मत्वात् । न च तद्व्यतिरिक्तः समुदायः तथात्वे द्रव्यवादप्रसङ्गात् तस्य चोक्तदोषत्वात् । ततो न परमाणुषु कथञ्चित् स्थूलरूपतासम्भवः । न चान्यादृगवभासोऽन्यादृशस्यार्थस्य ग्राहकः नीलदृशोऽपि पीतग्राहकतापत्तेः नियतव्यवस्थाविलोपश्चैवं प्रसज्यते । अपि च, नानादिक्सम्बन्धात् परमाणोरप्येकता असङ्गतैव । आह चाचार्यः—

"षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता" । [ ] इति ।

१५तदंशानामपि नानादिक्सम्बन्धात् पुनः सांशतापत्तेरनवस्थाप्रसक्तिरिति न परमाणुसद्भावः । न चार्थाभावे नियतदेशकालाकारः प्रतिभासो न भवेत् वासनाबलेन तथाभूतप्रतिभासस्य स्वप्नदशायामुपलब्धेर्जाग्रद्दशायामपि तद्बलेनैव तदुदयसद्भावात् अर्थस्तु स्वरूपेण न क्वचित् सिद्धः । नापि प्रतिभासनियामकत्वेनेति नार्थवादो युक्तिसंगतः । न च वासनाबलान्नियताकारं ज्ञानमेव सद्वस्तु न शून्यतेति वक्तव्यम् यतो नीलादिरूपं ज्ञानमप्येकानेकरूपमयुक्तम् । तथाहि–तस्यापि दिग्भेदाद्वे-२०कता अर्थवत् युक्ता प्रतिभासभेदाच्च, नापि नीलादिज्ञानं परमाणुरूपम् ज्ञानपरमाणूनामपि दिक्षट्कयोगात् सांशतापत्तेरनेकप्रतिपत्तेरयोगाच्चोक्तप्रायम् । न च बहिरवभासमानो नीलादिर्वितथः बोधस्तु परिशुद्धोऽवितथ इति वक्तव्यम् तस्यानुपलब्धेरेवाभावनिश्चयात् । न च वासनाप्रतिबद्धत्वमनुभवस्य निश्चेतुं शक्यम् प्रत्यक्षस्य पौर्वापर्येऽप्रवृत्तेर्नान्वयव्यतिरेकनिश्चायकत्वम् तदनिश्चये च न हेतुफलभावावगतिरध्यक्षात् । नाप्यनुमानम् प्रत्यक्षाभावे तस्याप्यप्रवृत्तेर्न हेतुफलभावः क्वचिदपि २५सिद्धिमासादयति । किञ्च, यदि वासनाप्रबोधप्रभवं नील-सुखादिव्यतिरिक्तं प्रतिपुरुषनियतं संवेदनमनुभूयेत तदा विज्ञानवादो युक्तिसङ्गतः स्यात् न च तत् कदाचनाप्युपलब्धिगोचरः नील सुखादेस्त्वेकानेकस्वभावायोगात् वासनाजन्यत्वस्यापि परमार्थतोऽसम्भवात् सर्वधर्मशून्यतैव वस्तुबलायाता । नीलाद्यवभासस्य वासनाप्रतिबद्धत्वं संवृत्या शून्यत्वमुच्यते न सर्वसंवेदनाभावः तस्य कदाचिदप्यननुभवात् । न च प्रतिभासे सति कथं शून्यत्वमिति वक्तव्यम् तस्यैका-३०नेकस्वभावायोगतः शून्यतेति प्रतिपादनात् । उक्तं चाचार्येण—

"भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः ।
यस्मादेकमनेकं वा रूपं तेषां न विद्यते" [ ] इति ।

१–क्तः मस्ति यतो घटवसाये पि वा० वा० । २ घटवसेयेपि हा० वि० । घटमेवसायेपि आ० । ३–मुल्लेख्यश्चा–आ० । ४–परोऽवसीयते नापरोऽवयवी भां० मां० । ५ ग्रन्थाग्रम् १२८३८ ॥ ६–नादयति वा–आ० । ७ वाह्यार्थो–हा० वि० । ८–पगतिः आ० । ९ पृ० १०५ पं० १३ ।

"अयमेव चार्थः कारिकया गीयते—

"षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता । षण्णां समानदेशत्वे पिण्डः स्यादणुमात्रकः" ॥

—४, २, २५ न्यायवा० पृ० ५१६ पं० १७ ।

"यदुक्तम् आचार्यपादैः" इत्युल्लिख्य श्लोकोऽयमुद्धृतः–बोधिचर्याव० प्रज्ञापार० पञ्जि० परि० ९ पृ० ५०३ पं० ६ तथा टिप्प० १ ।

न्यायतात्पर्यटी० ४, २, २५ पृ० ६५० पं० २४ तथा पृ० ६५१ पं० १० पर्यन्तम् । रत्नाकरा० प्र० परि० पृ० ३१ पं० १२ । सर्वदर्शनसं० द० २ पृ० ३१ पं० १९२ । १०–यद् यो–आ० हा० वि० । ११–ध्ययेन च हे–आ० हा० वि० । १२–रूपं नि–आ० । १३–भावयो–आ० हा० वि० । १४–नुभावा–भां० मां० हा० वि० । १५ अष्टस० पृ० ११५ पं० ९ । स्याद्वादर० पृ० ८९ प्र० पं० ६ । "तदुक्तमाचार्येण" इत्युल्लिख्य श्लोकः शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० २१५ प्र० पं ८–९ ।

भगवद्भिरप्युक्तम्—"मायोपमाः सर्वे धर्माः"[ ]इति। तदवस्थितमेतत् यत् प्रतिभाति तद् द्विचन्द्रादिवत् सकलमसत्यम्।

न चात्रैतत् प्रेरणीयम् दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभेदाभावे द्विचन्द्रादिनिदर्शनेन नीलाद्यवभासस्यासत्यता न साधयितुं शक्या। न ह्यसतो निदर्शनसङ्गतिः। भेदे वा नासत्यता भवेद् भावानाम् पक्ष-दृष्टान्तयोर्हि भेदः सत्यत्वे सति भवति असतः शशविषाणादेरिव भेदानुपपत्तेः। तथा५, साधनस्याप्यस्तित्वे न शून्यता, नास्तित्वे न साध्यप्रतिपत्तिः। एवं वादि-प्रतिवादि-प्राश्निकानामभावे न वादः सम्भवी। तत्सद्भावे च न शून्यता। आह च भट्टः—

"सर्वदा सदुपायानां वादमार्गः प्रवर्त्तते॥"
"अधिकारोऽनुपायत्वात् न वादे शून्यवादिनः।"
[श्लो० वा० निरालम्ब० श्लो० १२८-१२९] इति। १०

यतो यदि पारमार्थिकदृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकादिभेदाद् वादमार्गप्रवृत्तिः परस्याप्यसौ कथं भवेत्? नहि परमार्थतो भावभेदः प्रत्यक्षतोऽधिगन्तुं शक्यस्तदभावात्। नानुमानादपीति प्रतिपादितम्। न च परस्याभ्युपगमात् साधनादिभेदसिद्धेस्तत्प्रवृत्तिः अप्रमाणकाभ्युपगममात्रादर्थासिद्धेः कल्पितात् तु साधनादिप्रविभागाद् बाह्यार्थव्यवस्थायां भेदप्रपञ्चस्य कल्पनारचितत्वं भवेत् न वास्तवत्वम्। न च लोकप्रसिद्धेन साधनादिभेदेन बाह्यार्थव्यवस्था अर्थवादिनो युक्तिमती, शून्य- १५ वादिनोऽपि तत्प्रसिद्धेनैव तेन शून्यताव्यवस्थाया न्यायप्राप्तत्वात्। तथाहि-तस्यापि साधनादिभेदव्यवहारो लोकप्रसिद्धः प्रागासीत् तेन यदि शून्यता व्यवस्थाप्यते न तेन कश्चिद् दोषः। शून्यताव्यवस्थितेरुत्तरकालं यदि साधनादिभेदो विशरति तदा न कश्चिद् दोषः "गतोदके कः खलु सेतुबन्धः" [ ] इति न्यायात्। उक्तं चाचार्येण-"सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारः सांवृतः" [ ] इत्यादि। ततः सांवृता अनुमानगम्या शून्यता। २०

यद्वा नीलादीनां प्रतिभासमानानां यत् कल्पितमेकत्वादिरूपं तस्याऽप्रतिभासादेवा निषेधः। नहि व्यवहारबलादप्रतिभासमानमेकत्वादिकं रूपं कल्पयितुं युक्तम् प्रतिभासव्यतिरेकेण व्यवहारस्याप्ययोगात्। ततो बाह्यमाध्यात्मिकं वा रूपं न तत्त्वम् किन्तु सांवृतमेव। संवृतिश्च त्रिधा सुगतसुतप्रसिद्धा—लोकसंवृतिर्मरीचिकादिषु जलभ्रान्तिरेका, तत्त्वसंवृतिः सत्यनीलादिप्रतीतिर्द्वितीया,

---

१ पृ० ३७१ पं० १२। "यत्तु उक्तं भगवता—मायोपमा धर्मा यावत् निर्माणोपमा इति"—महायानसूत्रालंकारे पृ० ६२ पं० १०।

"एतदुक्तं भगवता—अनुत्पन्ना सर्वभावा मायोपमाश्च इति"—लङ्कावतारसू० द्वितीयभा० पृ० १११ पं० ७।

२ "अत्राप्यभिदधत्यन्ये किमित्थं तत्त्वसाधनम्। प्रमाणं विद्यते किंचित् आहोस्विच्छून्यमेव हि॥ ५७॥
शून्यं चेत् सुस्थितं तत्त्वमस्ति चेच्छून्यता कथम्?। तस्यैव ननु सद्भावादिति सम्यग् विचिन्त्यताम्॥ ५८॥
प्रमाणमन्तरेणापि स्यादेवं तत्त्वसंस्थितिः। अन्यथा नेति सुव्यक्तमिदमीश्वरचेष्टितम्॥ ५९॥
उक्तं विहाय मानं चेच्छून्यताऽन्यस्य वस्तुनः। शून्यत्वे प्रतिपाद्यस्य ननु व्यर्थः परिश्रमः॥ ६०॥
तस्याप्यशून्यतायां च प्राश्निकानां बहुत्वतः। प्रभूताशून्यतापत्तिरनिष्टा सम्प्रसज्यते"॥ ६१॥
—शास्त्रवा० समु० षष्ठस्त० पृ० २१५-२१६।

३ सम्भवतीति। प्र० मां० वहिः। ४-कारानु-आ०। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० २१६ प्र० पं० ११-१२। ५-नादिभेदे व्य-आ० हा० वि०। ६ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० २१६ द्वि० पं० ९। ७-द्धा सर्वेनी-मां०।

८ यदत्र 'लोकसंवृति'-'तत्त्वसंवृति'-'अभिसमयसंवृति'इति संवृतित्रयं निर्दिष्टम् तदेव बोधिचर्यावतारे तत्पञ्जिकायां च 'मिथ्यासंवृति'-'तथ्यसंवृति'-'योगिसंवृति'इति संज्ञया निरदेशि। तथाहि—

"संवृतिः परमार्थश्च सत्यद्वयमिदं मतम्। बुद्धेरगोचरस्तत्त्वं बुद्धिः संवृतिरुच्यते"॥ २॥

"*संव्रियते आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणाद् आवृतप्रकाशनाच्च अनयेति संवृतिः अविद्या मोहो विपर्यास इति* पर्याया ××× सा च संवृतिर्द्विविधा लोकत एव तथ्यसंवृतिः मिथ्यासंवृतिश्चेति। तथाहि—
किंचित् प्रतीत्य जातं नीलादिकं वस्तुरूपमदोषवदिन्द्रियैरुपलब्धं लोकत एव सत्यम्।"

अभिसमयसंवृतिर्योगिप्रतिपत्तिस्तृतीया । योगिप्रतीतेरपि ग्राह्यग्राहकाकारतायाः प्रवृत्तेः । उक्तं च भगवद्भिः—"कतमत् संवृतिसत्यं यावल्लोकव्यवहारः" [ ] । इति व्यवस्थितं सर्वधर्मविरहः शून्यतेति शुद्धतरपर्यायास्तिकमतावलम्बी ऋजुसूत्र एवं व्यवस्थितः ।

[ऋजुसूत्र–शब्द–समभिरूढ–एवंभूतेषु सौत्रान्तिक–वैभाषिक–योगाचार–

५ माध्यमिकानां समवतारः]

अथवा सौत्रान्तिक–वैभाषिकौ बाह्यार्थमाश्रितौ ऋजुसूत्र–शब्दौ यथाक्रमम् वैभाषिकेण नित्यानित्यशब्दवाच्यस्य पुद्गलस्याभ्युपगमात् शब्दनयेऽनुप्रवेशस्तस्य । बाह्यार्थप्रतिक्षेपेण विज्ञानमात्रं समभिरूढो योगाचारः । एकानेकधर्मविकलतया विज्ञानमात्रस्याप्यभाव इति एवम्भूतो व्यवस्थित एवम्भूतो माध्यमिक इति व्यवस्थितमेतत् तस्य तु शब्दादयः शाखाप्रशाखाः सूक्ष्मभेदा

१० इति ॥५॥

मायामरीचि–प्रतिबिम्बादिषु प्रतीत्य समुपजातमपि दोषवदिन्द्रियोपलब्धं यथास्वं तीर्थिकसिद्धान्तपरिकल्पितं च लोकत एव मिथ्या ।

तदुक्तम्—

"विनोपघातेन यदिन्द्रियाणां षण्णामपि ग्राह्यमवैति लोकः ।

सत्यं हि तल्लोकत एव शेषं विकल्पितं लोकत एव मिथ्या" ॥—बोधिचर्या० प्रज्ञापार० पञ्जि० परि० ९ पृ० ३५२ पं० ३–पृ० ३५३ पं० ७–१६ ।

"एवं संवृति–परमार्थभेदेन द्विविधं सत्यं व्यवस्थाप्य तदधिकृतस्य लोकोऽपि द्विविध एवेति उपदर्शयन्नाह—

तत्र लोको द्विधा दृष्टो योगी प्राकृतकस्तथा । तत्र प्राकृतको लोको योगिलोकेन बाध्यते ॥ ३ ॥

लोको जनः × × × × × द्विधा × योगी प्राकृतकस्तथा । योगः समाधिः सर्वधर्मानुपलम्भलक्षणः सोऽस्यास्तीति योगी लोकः इत्येकः प्रकारो राशिः । तथा प्रकृतिः संसारप्रवृत्तेः कारणमविद्या तृष्णा तस्या जात इति प्राकृतः प्राकृत एव प्राकृतको लोक इति द्वितीयः" ।–बोधिचर्याव० प्रज्ञापार० पञ्जि० परि० ९ पृ० ३६७ पं० १६–पृ० ३६८ पं० १० पर्यन्तम् ।

"न दोषो योगिसंवृत्या लोकात् ते तत्त्वदर्शिनः" ।–बोधिचर्याव० पृ० ३७७ ।

"द्वे सत्ये । तद्यथा—

संवृतिसत्यं परमार्थसत्यं चेति"–धर्मसं० पृ० २२ पं० १२ ।

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना । लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः" ॥ ८ ॥

–मध्यमकवृ० आर्यसत्यप० प्र० २४ पृ० ४९२ ।

बोधिचर्याव० प्रज्ञापार० पञ्जि० परि० ९ पृ० ३६१ पं० १३ ।

"पितापुत्रसमागमे चोक्तम्–

सत्य इमे दुवि लोकविदूनां दिष्ट स्वयं अश्रुणित्व परेषाम् ।

संवृति या च तथा परमार्थो सत्यु न सिध्यति किंच तृतीयु" ॥–बोधिचर्याव० प्रज्ञापार० पञ्जि० परि० ९ पृ० ३६१ पं० १७ ।

शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० २१५ प्र० पं० १० ।

१–रतयाऽप्र–भां० ।–रतयाप्र–मां० । २ पृ० ३१७ पं० ८ ।

[नयवन्निक्षेपाणामपि यथास्वं द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकरूपतया विभजनम्]

नयानुयोगद्वारवत् शेषानुयोगद्वारेष्वपि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकौ मूलव्याकरणिनाविति दर्शयन्त्य(यन्न)नयोर्व्यापकताम्——

नामं ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो। ५
भावो उ पज्जवट्ठिअस्स परूवणा एस परमत्थो॥ ६॥

इत्यनया गाथया—दर्शयत्याचार्यः।

अथवा वस्तुनिबन्धनाध्यवसायनिमित्तव्यवहारमूलकारणतामनयोः प्रतिपाद्य अधुना अध्यारोपिताऽनध्यारोपितनाम-स्थापना-द्रव्य-भावनिबन्धनव्यवहारनिबन्धनतामनयोरेव प्रतिपादयन्नाहाचार्यः—**नामं ठवणा** इत्यादि। १०

अस्याश्च समुदायार्थः—**नाम स्थापना द्रव्यम् इति एष द्रव्यार्थिकस्य निक्षेपः। भावस्तु पर्यायार्थिकनिरूपणाया निक्षेप इति एष परमार्थः।**

[१ नामनिक्षेपः]

[नाम व्याख्याय तत्र संकेतविधि-तद्विषययोः प्ररूपणम्]

तत्र यस्य कस्यचिद् वस्तुनो व्यवहारार्थमभिधानं निमित्तसव्यपेक्षम् अनपेक्षं वा यत् सङ्केत्यते १५ तन्नाम। सङ्केतकरणात्(णं तु) क्वचिद् अभेदेन यथा 'अयं घटः' इति, क्वचिद् भेदेन यथा 'अस्य वायं घटशब्दो वाचकः' इति भेदेन। एतच्च समानासमानाकारपरिणत्यात्मकेऽपि वस्तुनि समानाकारप्रतिपादनायैव नियोज्यते तस्यानुगतत्वेन तत्र सङ्केतकरणसौकर्यात्। असमानपरिणतेष्वननुगमात् आनन्त्याच्च न तत्र सङ्केतः कर्तुं शक्यः। शब्दव्यापाराच्च वस्तुगतसदृशपरिणतेरेव प्रतिभासतः(सनात्) स एव शब्दार्थः यः शाब्द्यां प्रतीतौ प्रतिभातीति नाऽसदृशपरिणामोऽत्यन्त-२० विलक्षणस्तस्यार्थ इति वस्तुस्थितिः।

[भर्तृहरेर्द्रव्यार्थिकानुसारिणः शब्दब्रह्मदर्शनस्य पूर्वपक्षतया वर्णनम्]

अत्र च द्रव्यार्थिकमतावलम्बी शब्दब्रह्मवार्याह भर्तृहरिः—

"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः"॥ २५

[वाक्यप० श्लो० १ प्रथमका०] इति।

अत्र आदिः उत्पादः, निधनं विनाशः तदभावाद् 'अनादिनिधनम्'। अक्षरम्' इति अकाराद्यक्षरस्य निमित्तत्वात् अनेन च विवर्त्तोऽभिधानरूपतया निदर्शितः। 'अर्थभावेन' इत्यादिना त्व-

---

१ पज्जवट्ठिअपरूवणा शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० २४२ प्र० पं० ३। २ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० २४२ प्र० पं० ४। ३-त्तसव्य-आ० हा० वि० विना। ४-नपेक्ष या यत् आ०। ५-रणत्वात् आ० विना। ६-नाकार-आ० हा० वि०। ७-नित्यास-आ०। ८-णतेष्वननु-मां०।-णते ननु-आ०। ९ शाब्दां प्र-हा०। शाब्द प्र-वि०। १०-ति ताद-आ० हा० वि०। ११ अत्रोच्यमानः शब्दब्रह्मवादिपक्षः संपूर्णोऽपि शब्दशोऽविकलतया तत्त्वसंग्रहपञ्जिकायां दृश्यते-पृ० ६७ का० १२८-पृ० ७५ का० १५२। तथाहि-

"नाशोत्पादासमालीढं ब्रह्म शब्दमयं परम्। यत् तस्य परिणामोऽयं भावग्रामः प्रतीयते"॥

-तत्त्वसं० का० १२८ पृ० ६७।

१२ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ६७ पं० २१। द्वादशारनय० लि० प्रे० कॉ० पृ० ३३८ पं० ३। प्रमेयक० पृ० ११ द्वि० पं० ६। स्याद्वादर० पृ० ४४ प्र० पं० ३। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० २३५ द्वि० पं० १०। नयोप० यू० पृ० ७५ द्वि० पं० ३। १३-नाशः तस्य तद्-आ० हा० वि० विना। १४-न वि-आ०।

भिधेयो विवर्त्तः। 'प्रक्रिया' इति भेदानामेव संकीर्त्तनम्। 'ब्रह्म' इति पूर्वापरादिदिग्विभागरहितम् अनुत्पन्नम् अविनाशि यच्छब्दमयं ब्रह्म तस्यायं (तस्यायं) रूपादिभावग्रामपरिणाम इति श्लोकार्थः। एतच्च शब्दस्वभावात्मकं ब्रह्म प्रणवस्वरूपम् स च सर्वेषां शब्दानाम् समस्तार्थानां च प्रकृतिः। अयं च वर्णक्रमरूपो वेदस्तदधिगमोपायः प्रतिच्छन्दकन्यायेन तस्यावस्थितत्वात्। तच्च परमं ब्रह्म
५अभ्युदयनिःश्रेयसफलधर्मानुगृहीतान्तःकरणैरवगम्यते। अत्र च प्रयोगः–ये यदाकारानुस्यूतास्ते तन्मयाः, यथा घट–शरावोदञ्चनादयो मृद्विकारानुगता मृण्मयत्वेन प्रसिद्धाः, शब्दाकारानुस्यूताश्च सर्वे भावा इति स्वभावहेतुः। प्रत्यक्षत एव सर्वभावानां शब्दाकारानुगमोऽनुभूयते। तथाहि–अर्थेऽनुभूयमाने शब्दोल्लेखानुगता एव सर्वे प्रत्यया विभाव्यन्ते। उक्तं च—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
१० अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते"॥

[वाक्यप० श्लो० १२४ प्रथमका०] इति।

न च वाग्रूपताऽननुवेधे बोधस्य प्रकाशरूपतापि भवेत् तस्याः परामर्शरूपत्वात् तदभावे तु तस्याभावात् बोधस्याप्यभावः, परामर्शाभावे च प्रवृत्त्या(त्त्या)दिव्यवहारोऽपि विशीर्येत इति। आह च—

"वाग्रूपता चेद् व्युत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
१५ न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥"

[वाक्यप० श्लो० १२५ प्रथमका०] इति।

ज्ञानाकारनिबन्धना च वस्तूनां प्रज्ञप्तिरिति नैषां शब्दाकारानुस्यूतत्वमसिद्धम्, तत्सिद्धेश्च तन्मात्रभावित्वात् तन्मयत्वस्य तन्मयत्वमपि सिद्धमेव। अत एव 'अयं घटः' इत्यभेदेन शब्दार्थसम्बन्धो वैयाकरणैः—'सोऽयमित्यभिसम्बन्धाद् रूपमेकीकृतम्' इत्यादिना अभिजल्पस्वरूपं दर्श-
२०यद्भिः प्रतिपादितः।

अत्र च पर्यायास्तिकमतेन प्रतिज्ञादिदोष उद्भाव्यते—किमत्र जगतः शब्दपरिणामरूपत्वाच्छन्द-

---

१ "'प्रक्रिया' इति भेदा। 'ब्रह्म' इति नामसंकीर्तनम्—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ६७ पं० २४।

"'प्रक्रिया' इति भेदा। 'शब्दब्रह्म' इति नामसंकीर्तनम्"—प्रमेयक० पृ० ११ द्वि० पं० ७। स्याद्वादर० पृ० ४४ प्र० पं० ५।

"'प्रक्रिया' इति भेदानामेव संकीर्तनम्। 'ब्रह्म' इति विशुद्धस्वनामकीर्तनम्"—शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० २३५ द्वि० प० १३।

"'प्रक्रिया' प्रतिनियता व्यवस्था, भेदानां संकीर्तनमेतत्"—नयोप० टृ० पृ० ७५ द्वि० प० ८।
२ पूर्वापरादिविभागरहितम् अनुत्पन्नम् अविनाशि यत् शब्दमय ब्रह्म"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ६७ प० २०। ३ "तस्यायं रूपादिर्भावग्राम परिणाम इति प्रतीयते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ६७ प० २०–२१। ४ "प्रणवो हि किल सर्वेषां शब्दानाम् सर्वेषां च अर्थानाम् प्रकृति स च वेद। अय तु वर्ण–पदक्रमेण अवस्थितो वेद"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ६८ प० २। ५–तास्तेन त–मां०। स्याद्वादर० पृ० ४८ द्वि० प० १३–पृ० ४९ द्वि० प० ३। ६ "यथा घट–शरावोदञ्चनादयो मृद्विकारा मृदाकारानुगता पदार्था मृण्मयत्वेन प्रसिद्धा"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ६८ पं० ६। ७–त्र पन्न आ०। ८–नात एव आ० हा० वि०। ९ "अनुविद्धमिवाऽऽभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम्"—प्रमेयक० पृ० ११ द्वि० प० ५। १० सर्वं श–आ० हा० वि०। "सर्वं शब्देन वर्तते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ६८ प० १०। स्याद्वादर० पृ० ४३ द्वि० पं० १। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० २३६ प्र० प० २। "सर्वं शब्देन जायते"—अनेकान्तज० पृ० ४१ द्वि० प० १४। ११ "शब्दसम्पर्कपरित्यागे हि प्रत्ययाना प्रकाशरूपताया एवाभावप्रसक्ति वाग्रूपता हि शाश्वती प्रत्यवमर्शिनी च तदभावे प्रत्ययानां नापरं रूपमवशिष्यते"—स्याद्वादर० पृ० ४३ प्र० प० १६। १२ तदा भा–आ०। १३ अनेकान्तज० पृ० ४१ द्वि० प० १३। नयोप० टृ० पृ० ७५ द्वि० प० १३। "न हि बोध प्रकाशेत"—स्याद्वादर० पृ० ४३ द्वि० प० २। १४ पृ० १८० प० २१ तथा टिप्प० ११।

मयत्वं साध्यते, उत शब्दात् तस्योत्पत्तेः शब्दमयत्वं यथा 'अन्नमयाः प्राणाः' इति हेतौ 'मयट्'[1]विधानात्? न तावदाद्यः पक्षः परिणामानुपपत्तेः। तथाहि-शब्दात्मकं ब्रह्म रूपाद्यात्मकतां प्रतिपद्यमानं स्वरूपपरित्यागेन वा प्रपद्येत, अपरित्यागेन वा? [2]यदि परित्यागेन इति पक्ष आश्रीयते तदा 'अनादिनिधनम्' इत्यनेन यदविनाशित्वमभ्युपगतम् तस्य [3]हानिप्रसक्तिः पौरस्त्यस्वभावध्वंसात्। [4]अथ अपरित्यागेन इति पक्षस्तदा रूपसंवेदनसमये बधिरस्य [5]शब्दसंवेदनप्रसङ्गः तद[6]व्यतिरेकात् नीला- ५
दिवत्। तथाहि-यद् यदव्यतिरिक्तं [7]तत् तत्संवेदने संवेद्यते, यथा तत्स्वरूपम्, रूपाद्यव्यतिरिक्तश्च शब्दात्मेति स्वभावहेतुः। अन्यथा भिन्नयोगक्षेमत्वात् तत् [8]तदात्मकमेव न स्यादिति विपर्यये बाधकं प्रमाणम्। [9]अथ तत्समये न तत्संवेदनमिष्यते तदा रूपादेरप्यसंवेदनप्रसङ्गः [10]एकस्वभावत्वात्। भिन्नधर्मत्वे वा शब्द-रूपादेरत्यन्तभेद एव। [11]नह्येकप्रमा(मात्र)पेक्षयैकस्यैव ग्रहणमग्रहणं वा एकत्वहानिप्रसङ्गात्। यदि पुनर्विरुद्धधर्मा[12]ध्यासेऽप्यभेदः घट-पटादिव्यक्तीनामपि कल्पितभेदानाम् १०
भेदप्रसक्तिः। परेणाभ्युपगतश्च घटादिव्यक्तीनां भेदः [13]यतः स्वात्मनि व्यवस्थितस्य ब्रह्मणो नास्ति भेदः अविकारविषयत्वादस्य इति परसिद्धान्तः। नहि घटाद्यात्मना तस्यानादिनिधनत्वम् किन्तु परमात्मापेक्षया। घटादयश्च परिदृश्यमानोदय व्ययाः परिच्छिन्नदेशादयश्चोपलभ्यन्त एव। [14]अथ चोपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वे ब्रह्मणो दोष उक्तः। अतिसूक्ष्मतयाऽतीन्द्रियत्वे तु तस्य तत्स्वरूपवन्नीलादीनामप्यग्रहणप्रसक्तिर्दोषः। तेन 'उदयव्ययवतीमेवार्थमात्रामपरदर्शनाः प्रतियन्ति' इत्ययुक्तमेवाभि- १५
धानम्। न च यथा नीलत्वाव्यतिरिक्तमपि क्षणिकत्वं [15]तत्संवेदने न संवेद्यते तद्वच्छब्दरूपमपीति वक्तव्यम् यतो [16]नासन्मते नीलसंवेदने क्षणिकत्वं न संवेद्यते [17]किन्तु भ्रान्तिकारणवशान्निर्विकल्पकेन गृहीतमपि नि(न नि)श्चीयत इत्यनुभवापेक्षया तद्ग्रहणे तदपि गृहीतमेव निश्चयापेक्षया त्वगृहीतमिति ज्ञानभेदाद् गृहीतत्वमगृहीतत्वं चैकस्याविरुद्धमेव। न चैवं शब्दब्रह्मणो भवन्मतेन [18]ग्रहणाऽग्रहणे,

---

१ "मयड् च"—अ०४।३।८२। सिद्धान्तकौ० अ० १४६२। "नृ-हेतुभ्यो रूप्य-मयटौ"—अ० ६।३।१५६। हैम०।

२ "इति यद्वक्षते येऽपि ते वाच्याः किमिदं निजम्। शब्दरूपं परित्यज्य नीलादित्वं प्रपद्यते" ॥
तत्त्वसं० का० १२९ पृ० ६८।

३ "न वा तथेति यद्याद्यः पक्षः संश्रीयते तदा। अक्षरत्ववियोगः स्यात् पौरस्त्यात्मविनाशतः" ॥
तत्त्वसं० का० १३० पृ० ६८।

४ "अथाप्यनन्तरः पक्षस्तत्र नीलादिवेदने। अश्रुतेरपि विस्पष्टं भवेच्छब्दात्मवेदनम्" ॥
"येन शब्दमयं सर्वं मुख्यवृत्त्या व्यवस्थितम्। शब्दरूपापरित्यागे परिणामानि(भि)धानत." ॥
"अगौणे चैवमेकत्वे नीलादीनां व्यवस्थिते। तत्संवेदनवेलायां कथं नास्त्यस्य वेदनम्" ॥
तत्त्वसं० का० १३१-१३२-१३३ पृ० ६८-६९।

५ "शब्दः संवेदनं प्राप्नोति नीलादिसंवेदनवत् तदव्यतिरेकात्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ६८ पं० २७। ६-काद्-नीला-आ०। ७ तत्सं-आ० हा० वि०। ८ तथात्म-आ०।

९ "अस्याऽवित्तौ हि नीलादेरपि न स्यात् प्रवेदनम्। ऐकात्म्याद् भिन्नधर्मत्वे भेदोऽत्यन्तं प्रसज्यते" ॥
तत्त्वसं० का० १३४ पृ० ६९।

१०-कत्वभा-आ०।

११ "विरुद्धधर्मसङ्गो हि वहूनां भेदलक्षणम्। नान्यथा व्यक्तिभेदाना कल्पितोऽपि भवेदसौ" ॥
तत्त्वसं० का० १३५ पृ० ६९।

"न हि एकस्य एकदा एकप्रतिपत्रपेक्षया ग्रहणमग्रहणं च युक्तम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ६९ पं० २३। प्रमेयक० पृ० १२ द्वि० पं० ४। "न हि एकस्य एकदा एकप्रमात्रपेक्षया ग्रहणमग्रहणं च युक्तम् विरोधात्"—स्याद्वादर० पृ० ४९ प्र० पं० ४। १२-ध्यासोप्य-आ० हा० वि०। १३ "यतस्तस्य स्वात्मनि व्यवस्थितस्य नास्ति भेदः विकारविषयत्वादस्येति सिद्धान्तः"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ६९ पं० २५। १४ "अयं च अश्रुते. स्पष्टं शब्दसंवेदनं स्यात् इति यः प्रसङ्ग. उक्त स यदि ब्रह्मणो रूपमुपलब्धिलक्षणप्राप्तमिष्यते तदा द्रष्टव्यः। यदि पुनः अतिसूक्ष्ममतीन्द्रियमिति वर्ण्यते तदा अयमदोषः किन्तु नीलादीनामपि तादूप्यात् तत्स्वरूपवत् अग्रहणप्रसङ्ग इत्ययं दोषो वाच्य."—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ६९ पं० २८-पृ० ७० पं० ४। १५ "नीलादिसंवेदनेऽपि न संवेद्यते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७० पं० ६। १६ नामास्सन्मते भां० हा० वि०। नासन्मते प्र० भां० यहि.। नामात्मते आ०। १७ "किन्तु गृहीतमपि निर्विकल्पेन चेतसा भ्रान्तिनिमित्तेन गुणान्तरसमारोपान्न विनिश्चीयते इत्युच्यते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७० पं० ८। १८ "ग्रहणाग्रहणे युक्ते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७० पं० १०।

सविकल्पकत्वाभ्युपगमात् सर्वसंविदाम् सविकल्पकत्वेन च सर्वात्मना शब्दस्य निश्चितत्वादगृहीत-स्वभावान्तरानुपपत्तेः।

"निश्चयैः।
यत्र निश्चीयते रूपं तत् तेषां विषयः कथम्?॥" [ ]

५ इति प्रतिपादनात्। न चाविकल्पकस्यापि ज्ञानस्याभ्युपगमादयं न दोषः, 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके' इत्यादेर्विरुद्धत्वप्रसक्तेः 'शब्दाकारानुस्यूतत्वात्' इति हेतोरसिद्धिप्रसक्तिश्च। न च यथा प्रमाणान्तरतः क्षणिकत्वप्रसिद्धेः 'अध्यक्षतोऽनुभूतमपि तन्न निश्चीयते' इति व्यपदिश्यते तथा शब्दात्मता भावानां व्यपदेशमासादयति, तत्प्रसाधकप्रमाणान्तरस्याप्रसिद्धेः। किन्तु शब्दात्मा घटादिरूपतया परिणमन् प्रतिपदार्थं भिद्यते न वेति वक्तव्यम्। यद्याद्यः पक्षस्तदा शब्दब्रह्मणोऽनेकत्वप्रसक्तिः
१० विभिन्नानेकभावात्मकत्वात् तत्स्वरूपवत् एकं च परैर्ब्रह्मेष्यते इत्यभ्युपगमापगमः। अथ यदि द्वितीयः पक्षस्तदा एकदेश-कालाकाररूपतापत्तिर्जगतः इत्येकरूपः प्रतिभासो भवेत् नीलादेरेकब्रह्मरूपाव्यतिरेकात्। अपि च, नित्यशब्दमयत्वे जगतः शब्दस्वरूपवत् सर्वभावानां नित्यत्वप्रसक्तिरिति तेन सह सर्वदोपलब्धेः परिणामासिद्धिः कृशयति परिणामप्रतीतेः(तिम्)। तन्न परिणामकृतं शब्दमयत्वं भावानाम्।

१५ नापि हेतुकृतम्, शब्दस्य नित्यत्वेन अविकारित्वात् ततः कार्योदयासम्भवात्। नाप्यक्रमाच्छब्दब्रह्मणः क्रमवत्कार्योदयो युक्तः, कारणवैकल्याद्धि कार्याणि उदयं प्रति सविलम्बानि भवन्ति शब्दाख्यं चेत् कारणमविलम्बम् अपरस्यापेक्षणीयस्याभावात् किं न तानि युगपदुदयमनुभवेयुः? अपि च, एकस्वभावाच्छब्दब्रह्मणोऽन्यस्य भावान्तरस्योत्पत्तिर्यद्यङ्गीक्रियते तदा 'अर्थरूपेण तद्

१-स्वनान्तरा-आ०। २-श्चयैर्यत्न नि-हा०।-श्चयैर्यत्र नि-वि०।-श्चयर्यत्र नि-आ०। "यथोक्तम्—"निश्चय.(यैः)। यत्र निश्चीयते रूपं तत् तेषा विषयः कथम्" इति"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७० पं० १२। ३ पृ० ३८० पं० ९। ४ "किञ्च, क्षणिकत्वं भावाना प्रमाणान्तरतः सिद्धेरनुभूतमपि न निश्चीयते इति व्यपदिश्यते। शब्दात्मता तु भावाना कुतः सिद्धा येन साऽप्येवं व्यवस्थाप्यते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७० पं० १६। ५ "किञ्च, असौ शब्दात्मा परिणामं गच्छन् प्रतिपदार्थभेदं प्रतिपद्यते न वा?"—प्रमेयक० पृ० १२ द्वि० पं० ५।

६ "प्रतिव्यक्ति तु भेदेऽस्य ब्रह्मानेकं प्रसज्यते। विभिन्नानेकभावात्मरूपत्वाद् व्यक्तिभेदवत्"॥
तत्त्वसं० का० १३७ पृ० ७०।

७ परिब्राह्मे-आ०। "एकं च परमन्नेष्यते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७१ पं० ३। ८-गमेः अगमा अत यदि आ०। ९-रूप प्रति-आ०।

"प्रतिभासं च यद्येकः शब्दात्मा(ऽ)भिन्न इष्यते। सर्वेषामेकदेशत्वमेकाकारा च विद् भवेत्"॥
तत्त्वसं० का० १३६ पृ० ७०।

१० "नित्यशब्दमयत्वे च भावानामपि नित्यता। तद्यौगपद्यतः सिद्धेः परिणामो न सगतः"॥
तत्त्वसं० का० १३८ पृ० ७१।

११-च्द्रूप-आ० हा० वि०। १२ कृतं शय-हा०।

"एकरूपतिरोभावे ह्यन्यरूपसमुद्भवे। मृदादाविव संसिध्येत् परिणामस्तु नाऽक्रमे"॥
तत्त्वसं० का० १३९ पृ० ७१।

१३ "अथापि कार्यरूपेण शब्दब्रह्ममयं जगत्। तथापि निर्विकारत्वात् सतो नैव क्रमोदय."॥
तत्त्वसं० का० १४० पृ० ७१।

१४-मविकलम् भा० वहिः। "तच्चेद् अविकलम् किमपर तैरपेक्ष्यं येन युगपन्न भवेयु."—प्रमेयक० पृ० १२ द्वि० पं० ९।

१५ "अन्योन्यरूपसंभूतौ तस्मादेकस्वरूपतः। विवृतमर्थरूपेण कथं नाम तदुच्यते"॥
तत्त्वसं० का० १४१ पृ० ७१।

१६-णोऽन्यान्यस्य प्र० भा० वहिः।

"यदि तस्मादेकस्वभावाच्छब्दात्मनोऽन्यान्यस्य स्वभावस्य उत्पत्तिरङ्गीक्रियते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७१ पं० २५। किञ्च, अपरापरकार्यग्रामोऽतोऽर्थान्तरमनर्थान्तरं वोत्पद्येत।"—प्रमेयक० पृ० १२ द्वि० पं० ६।

ब्रह्म विवृत्तम्' इत्येतन्न सिद्धिमासादयेत्, न यतोऽर्थान्तरोत्पादे तत्स्वभावमनासादयतोऽन्यस्य ताद्रूप्येण विवर्त्तो युक्तिसङ्गत इति सर्वथापि प्रतिज्ञार्थो न घटते । 'शब्दानुस्यूतत्वात्' इति हेतुश्चासिद्धः न यतः परमार्थेनैकरूपानुगमो भावानां सम्भवति स्वस्वभावव्यवस्थिततया सजातीयव्यावृत्तस्वरूपत्वात् तेषाम् विजातीयव्यावृत्तिकृतं त्वेकाकारानुस्यूतत्वं कल्पनाशिल्पिनिर्मितमेषाम् घट-शरावोदञ्चनादिषु परमार्थतो भिन्नेष्वपि अमृदात्मकपदार्थव्यावृत्तिकृतमृद्रूपानुस्यूतिवत् । न च नीलादीनां कल्पनाविरचितमपि शब्दाकारानुस्यूतत्वमस्ति, नील-पीतादिषु प्रतिभासं बिभ्राणेषु शब्दानुस्यूतत्वस्य कल्पनयाप्यनुल्लेखात् तत् कथं नासिद्धो हेतुः ? ५

अथ अविभक्तमेव सदा ब्रह्मात्मकं तत्त्वम् न तस्य परमार्थतः परिणामः—येनैकदेशत्वं नीलादेरेकाकारं वा संवेदनं भवेदिति प्रेर्यते—तच्च अविद्योपहतबुद्धयो नीलादिभेदेन विविक्तमिव(विचित्रमिव) मन्यन्ते । यदुक्तम्— १०

"यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः ।
सङ्कीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते ॥" [ ]

"तदेवममृतं (तथेदममलं) ब्रह्म निर्विकारमविद्यया ।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्त्तते ॥" [ ] इति ।

१-ह्म निवृ-आ० हा० वि० विना । २ "न हि अर्थान्तरस्य उत्पादे अन्यस्य तत्स्वभावमनाविशतस्ताद्रूप्येण विवर्तो युक्त"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७१ पं० २६ ।

"न हि अर्थान्तरस्य उत्पादे अन्यस्य तत्स्वभावमनाश्रयतस्ताद्रूप्येण विवर्तो युक्तः"—प्रमेयक० पृ० १२ द्वि० पं० १० ।

३-ब्दानुस्यूत-हा० वि० ।-ब्दानुस्सत-आ० । ४-तुश्च सि-आ० हा० वि० विना ।

५ "अतद्रूपपरावृत्तमृद्रूपत्वोपलब्धितः । कुम्भ-कोशादिभेदेषु मृदात्मैकोऽत्र कल्प(ल्प्य)ते" ॥
"नील-पीतादिभावानां न त्वेवमुपलभ्यते । अशब्दात्मपरावृत्तिबीजा कल्पनाऽपि तत्" ॥
तत्त्वसं० का० १४२-१४३ पृ० ७२ ।

"न हि भावानां परमार्थेन एकरूपानुगमोऽस्ति"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७२ पं० ७ ।

६ "अथाविभागमेवेदं ब्रह्मतत्त्वं सदा स्थितम् । अविद्योपप्लवाल्लोको विचित्रं त्वभिमन्यते" ॥
तत्त्वसं० का० १४४ पृ० ७२ ।

७ तथाविद्योपह-हा० वि० । ८ विवृत्तमि-आ० हा० वि० ।

"विचित्रमिव"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७२ पं० १९ ।

"ननु परमार्थतोऽनादिनिधनेऽभिन्नस्वभावेऽपि शब्दब्रह्मणि अविद्यातिमिरोपहतो जनः प्रादुर्भाव-विनाशवत् कार्यं भेदेन विचित्रमिव मन्यते"—प्रमेयक० पृ० १२ द्वि० पं० ११ । "यथैव हि तिमिरतिरस्कृतलोचनो जनो विशुद्धमपि आकाशं विचित्ररेखानिकरकरम्बितमिव मन्यते"—स्याद्वादर० पृ० ४४ प्र० पं० १२ ।

९ शास्त्रवा० समु० स्तब० ८ श्लो० २ पृ० २८६ द्वि० । बृहदा० उ० भाष्यवार्ति० ३, ५ पृ० १२४६ श्लो० ४३ । अष्टस० पृ० ९३ पं० २१ । प्रमेयक० पृ० १२ द्वि० पं० ११ । स्याद्वादर० पृ० ४४ प्र० पं० १५ । नयोप० वृ० पृ० ७६ प्र० पं० १२ ।

"यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः । तथा भवत्यबुद्धानामात्माऽपि मलिनो मलैः" ॥
माण्डूक्योप० गौडपादका० ३ पृ० ११३ श्लो० ८ ।

१० "तथेदममृतं ब्रह्म"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७२ पं० २१ । "तथेदममलं ब्रह्म"-शास्त्रवा० समु० स्तब० ८ श्लो० ३ पृ० २८७ द्वि० । बृहदा० उ० भाष्यवार्ति० ३, ५ पृ० १२४६ श्लो० ४४ । अष्टस० पृ० ९३ पं० २२ । प्रमेयक० पृ० १२ द्वि० पं० १२ । स्याद्वादर० पृ० ४४ प्र० पं० १६ । नयोप० वृ० पृ० ७६ प्र० पं० १३ । ११ "निर्विकल्पमविद्यया"-शास्त्रवा० समु० स्तब० ८ श्लो० ३ पृ० २८७ द्वि० । अष्टस० । नयोप० वृ० पृ० ७६ प्र० पं० १३ । "निर्विकल्पम् विजातीयभेदविकल्पविकलम्"-शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० २८७ द्वि० पं० ४ । १२ "भेदरूपं विवर्तते"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७२ पं० २२ । "भेदरूपं प्रकाशते"-शास्त्रवा० । बृहदा० उ० भाष्यवार्ति० । "भेदरूपं प्रपश्यति"-अष्टस० । प्रमेयक० पृ० १२ द्वि० पं० १२ । "कलुषत्वमिवापन्नभेदरूपं तु पश्यति"—स्याद्वादर० पृ० ४४ प्र० पं० १६ ।

न हि नीलादीनामवस्तुस्वरूपत्वादेकदेशत्वप्रसङ्गः, नापि संवेदनस्याभेदः अविद्याविरचितत्वात् तद्भेदस्येति श्लोकद्वयाभिप्रायः।

[तस्य च दर्शनस्य पर्यायास्तिकमतेन प्रतिविधानम्]

अत्र प्रतिविधीयते-प्रमाणाधीना हि प्रमेयव्यवस्था। न चैवंभूतब्रह्मसिद्धये प्रमाणमुपलभ्यते ५ किञ्चित्। तथाहि-न तावत् प्रत्यक्षं तथावस्थितब्रह्मस्वरूपावेदकम् नीलादिव्यतिरेकेण तत्रापरस्य ब्रह्मस्वरूपस्याप्रतिभासनात्। अथ ज्ञानात्मरूपवत् स्वसंवेदनस्याध्यक्षत एव शब्दब्रह्म सिद्धम् ज्योतिस्तदेव शब्दात्मत्वाचैतन्यरूपत्वाच्चेति प्रतिपाद्यते, असदेतत्; स्वसंवेदनविरुद्धत्वात्। तथाहि-अन्यत्र गतचित्तोऽपि रूपं चक्षुषा वीक्षमाणोऽभिलापासंसृष्टमेव नीलादिप्रत्ययमनुभवतीति विस्तरेण प्रतिपादितमेव सौगतैः नेह प्रदर्श्यते ग्रन्थगौरवभयात्। तेन "वाग्रूपता चेद् व्युत्क्रामेत्" इत्यादिना (स्यादि) १० तथा "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके" इति च प्रत्युक्तं द्रष्टव्यम्। तत्राध्यक्षतो बाह्येन्द्रियजात् स्वसंवेदनाद्वा तथाभूतब्रह्मसिद्धिः। नाप्यनुमानतस्तत्सिद्धिः यतोऽनुमानं कार्यलिङ्गजम्, स्वभावहेतुप्रभवं वा तत्सिद्धये व्याप्रियेत? अनुपलब्धेः प्रतिषेधविषयत्वेन विधावनधिकारित्वात्। तत्र न तावत् कार्यलिङ्गजं तत्र व्याप्रियते, नित्यस्य क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् ततः कार्यस्यैव कस्यचिदसम्भवात्। नापि स्वभावहेतुप्रभवस्य तस्य तत्र व्यापारः ब्रह्माख्यस्य धर्मिणोऽसिद्धत्वेन १५ तत्स्वभावभूतस्य धर्मस्य सुतरामसिद्धेः। न चैतद्व्यतिरिक्तमपरं विधिसाधकं लिङ्गमस्ति तस्य स्वसाध्यप्रतिबन्धाभावात्। न चाप्रतिबद्धं लिङ्गं युक्तम् अतिप्रसङ्गात्। शब्दरूपान्वयत्वं चासिद्धत्वात् न पारमार्थिकब्रह्मस्वरूपसाधनायालम्। नाप्यागमात् तत्सिद्धिः तस्यानवस्थितत्वात्। किञ्च,

"ज्ञानमात्रार्थकरणेऽप्ययोग्यं ब्रह्म चामृतम्।
तदयोग्यतयाऽरूपं तद्धा वस्तुषु (?) लक्षणम्॥" [ ]

२० इत्येतत् प्रतिपादितमनेकधा न पुनरुच्यते। यदपि न्यगादि "तं तु परमं ब्रह्मात्मानमभ्युदयनिःश्रेयसफलधर्मानुगृहीतान्तःकरणा योगिन एव पश्यन्ति' इति, तदप्यसङ्गतमेव; यतो यदि योगजे

१ "तत्रापि चेद्यते रूपमविद्योपप्लुतैर्जनैः। यन्नीलादिप्रकारेण त्यागादाने निबन्धनम्"॥
तद्रूपव्यतिरेकेण ब्रह्मरूपमलक्षितम्। कथं व्युत्थितचेतोभिरस्तित्वेन प्रतीयते"॥
तत्त्वसं० का० १४५–१४६ पृ० ७२।

२–स्वरूपा–आ० हा० वि०। "न तत् प्रत्यक्षतः सिद्धमविभागमभासनात्"। तत्त्वसं० का० १४७ पृ० ७३।
३ "स्यादेतत् स्वसंवेदनप्रत्यक्षत एव तत् सिद्धम् ज्ञानात्मरूपत्वात्। तथाहि—ज्योतिस्तदेव शब्दात्मकत्वाद् चैतन्यरूपत्वाच्च"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७३ पं० १०। ४ वीक्ष्यमा–आ० विना। ५ पृ० ३८० पं० १४ तथा ९।
६ "नित्यादुत्पत्त्ययोगेन कार्यलिङ्गं च तत्र न"॥
"धर्मिसत्त्वाप्रसिद्धेस्तु न स्वभावः प्रसाधकः। न चैतदतिरेकेण लिङ्गं सत्ताप्रसाधकम्"॥
तत्त्वसं० का० १४७–१४८ पृ० ७३।
७–लब्धे प्र–आ० हा० वि०। ८–करणोऽप्य–आ०। ९–मृताम्। हा० वि०।
१० "ज्ञानमात्रार्थकरणेऽप्ययोग्यं ब्रह्म गम्यताम्। तदयोग्यतया रूपं तद्ध्यवस्तुत्वलक्षणम्"॥
तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७३ पं० २६।
११ "ज्ञानं ज्ञेयक्रमात् सिद्धं क्रमवत् सर्वमन्यथा। यौगपद्येन तत् कार्यं विज्ञानमनुषज्यते॥
ज्ञानमात्रेऽपि नैवास्य शक्त(क्य?)रूपं ततः परम्। भवतीति प्रसक्ताऽस्य वन्ध्यासूनुसमानता"॥
तत्त्वसं० का० १४९–१५० पृ० ७३–७४।
"एतच्च पूर्वम् ईश्वरपरीक्षायां प्रसाधितम्"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७४ पं० ४। तच्चैवम्—
"क्रमाक्रमविरोधेन नित्या नो कार्यकारिणः। विषयाणां क्रमित्वेन तज्ज्ञानेष्वपि च क्रमः॥
क्रमभावीश्वरज्ञानं क्रमिविज्ञेयसंगतेः। देवदत्तादिविज्ञानं यथा ज्वालादिगोचरम्"॥
तत्त्वसं० का० ७६–७७ पृ० ५०।
१२ तत्तु भां० मां० वि०। १३ पृ० ३८० पं० ५।
१४ "विशुद्धज्ञानसंताना योगिनोऽपि ततो न तत्। विदन्ति ब्रह्मणो रूपं ज्ञाने व्याप्तस्य संगतेः"॥
तत्त्वसं० का० १५१ पृ० ७४।

ज्ञाने तस्य व्यापारो भवेत् तदा तत्स्वरूपं योगिनः पश्यन्तीति युक्तं भवेत्। न च तज्ज्ञाने तस्य व्यापार इति प्रतिपादितम्। न च तद्विषयज्ञानोत्पत्त्या योगिनस्तं पश्यन्तीति नास्माभिरभिधीयते— तद्व्यतिरिक्तस्य योगिनस्तज्ज्ञानस्य चाभावात्—किन्तु योगित्वावस्थायामात्मज्योतीरूपं स्वत एव तत् प्रकाशत इति 'योगिनस्तत् पश्यन्ति' इत्युच्यत इति वक्तव्यम्, यतो योग्यवस्थातः प्राग् यदि ब्रह्मणो ज्योतीरूपत्वस्वभावस्तदा सदैवात्मज्योतीरूपत्वात् तस्य न कदाचिद् अयोग्यवस्थेत्ययत्न- ५ सिद्धः सर्वेषां मोक्षः स्यात्। न च भवदभिप्रेताद्वयसंवेदनचित्राकारपरिग्रहप्रतिभासवद् अविभाग-स्याप्यविद्यावशाद् ब्रह्मणोऽविशुद्धसन्ततीनां तथाप्रकाशनमिति वक्तव्यम्, यतो न तद्व्यति-रेकेणान्ये अविशुद्धसन्ततयो भवदभिप्रायेण सन्ति तेषां(येषां) तथातत्प्रतिभासः। न च स्वयमेव तथा प्रकाशत इति वक्तव्यम्, मोक्षाभावप्रसङ्गात् सर्वदैव तस्य तथाप्रकाशात्मकत्वात्। अस्मन्मते तु विशुद्धज्ञानान्तरोदयात् मुक्तिर्घटत एव। न च भवन्मतेन तद्व्यतिरेकिणी अविद्या सम्भवति १० यद्वशात् तथा प्रकाशत इत्युच्यते। तदव्यतिरेके चाविद्यायास्तद्वशात् 'तदेव तथा प्रकाशते' इति वचो जाघटीति। न च 'अविद्यावशात् तत् तथा ख्याति' इत्यनेन तस्याविद्यात्मकत्वमेव प्रकाश्यते इति वक्तव्यम्, मोक्षाभावप्रसक्तेरेव—यतो न नित्यैकरूपब्रह्मण्यविद्यात्मके स्थिते तदात्मकाऽविद्याव्य-पगमः कुतश्चित् सम्भवी येनाविद्याव्युपरतेर्मुक्तिर्भवेत्। न च तद्व्यतिरेकवदविद्याङ्गीकरणेऽप्य-विद्याप्रकाशात्(द्यावशात्) तस्य तथाप्रकाशनं युक्तिसङ्गतम्, नित्यत्वाद् अनाधेयातिशये ब्रह्मणि १५ तस्या अकिञ्चित्करत्वात् अत एव तस्य तयाऽसम्बन्धात् संसाराभावप्रसक्तिश्च। न च सा तत्त्वाऽन्य-त्वाभ्यामनिर्वचनीयेति वक्तव्यम्, वस्तुधर्मस्य गत्यन्तराभावात्। न चावस्तुत्वमेव तस्याः तथात्वे तस्य तथाख्यात्ययोगादतिप्रसङ्गात्। न च तथाभूतार्थक्रियाकारिण्यास्तस्यां 'वस्तु' इति नामकरणे कश्चिद् विवादः अस्मन्मते तु तथाभूताऽभिनिवेशवासनैवाऽविद्या, वासना च कारणात्मिका शक्ति-रिति पूर्वपूर्वकारणभूतादविद्यात्मकज्ञानादुत्तरोत्तरज्ञानकार्यस्य वितथाकाराभिनिवेशिन उत्पत्तेरवा- २० विद्यावशात् तथाख्यातिरित्युच्यते, तस्याश्च योगाद्यभ्यासादसमर्थतरतमक्षणोदयक्रमतः प्रच्युतेः शुद्धतरसंवित्सन्तानप्रादुर्भावात् मुक्तिप्राप्तिरित्युपपन्नैव बन्धमोक्षव्यवस्थितिः। नित्यैकरूपे च ब्रह्मणि अवस्थाद्वयायोगात् न संसाराऽपवर्गौ भवन्मते सम्भवतः। ब्रह्मणश्चैकत्वादेकस्य मुक्तौ सर्वेषां मुक्तिप्रसङ्गः अमुक्तौ वैकस्य सर्वेषाममुक्तिप्रसक्तिश्चाऽनिवार्या। न चात्मज्योतीरूपत्वेऽयो-ग्यवस्थायां किञ्चिदस्य प्रमाणं प्रसाधकमस्ति। यथा हि ज्ञानं स्वसंवेदनप्रसिद्धं प्रकाशात्मतया २५ नैवं शब्दः सर्वसंविदि संवेद्यत इति प्रदर्शितम्। अथ अयोग्यवस्थायां ब्रह्मणो नात्मप्रकाशता अङ्गीक्रियते; नन्वेवमपि प्रागविद्यमान(ना)योग्यवस्थायां स(सा) प्रादुर्भवतीति सुस्थितं तस्य नित्यत्वम्!!!। निराकृतश्च[16] पुरुषाद्वैतवादः प्रागिति समानन्यायत्वादयमपि तथैव निराकर्त्तव्य इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

---

१ तज्ञा–भां० मां०। तदज्ञा–आ० वि०। २–संवेदिनचित्तका–आ०। ३–महः प्र–मां०। ४ "अथापि स्यात् यथा भवतां स्वप्नावस्थासु ज्ञानमद्वयमपि विचित्राकारपरिग्रहेण प्रतिभासते तथा तदद्वयमपि अविद्यावशात् अविशुद्धसन्ततीनां तथा प्रकाशते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७४ पं० १९। ५ "न हि तद्व्यतिरेकेण अन्ये केचित् अविशुद्धसन्ततयः सन्ति येषां तत् तथा प्रतिभासते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७४ पं० २१। ६–शात् तथा आ० हा० वि०। ७ "न हि नित्यैकरूपे ब्रह्मणि अविद्यात्मके"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७४ पं० २७। ८–विद्यावशात् भां० मां० वहिः। "अविद्यावशात् तथाप्रतिभासनम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७५ पं० २। ९–यात् न वा–हा० वि०।–चात् तथा व–भां०। "वस्तुधर्मस्य गत्यन्तराभावात् अन्यथा वस्तुत्वमेव न स्यात्। न च अवस्तुवशात् तथा तस्य ख्यातिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७५ पं० ४। १०–स्या वस्थित ना–आ०। "तथाभूतस्य चार्थक्रियाकारिणः स्वभावस्य अवस्थितिनामकरणे"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७५ पं० ५। ११–निवेशात उ–हा० वि०। १२–दुर्भवा-न्मु–भां० आ० हा० वि०। १३–स्ति तथा भां० मां०। १४–या नैव शाप्टः आ०।–या नैवं शाब्दः वि०। –या नैव शाब्दः हा०। १५ "एवमपि प्रागविद्यमानं तदात्मज्योतिष्ट्वमत्यक्तपूर्वरूपस्य ब्रह्मणः पश्चाद् योग्यवस्थायां कुत. संभूतमिति वाच्यम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७५ पं० १६। १६ पृ० २८५ पं० ६।

१७ "प्रधानपरिणामेन समं च ब्रह्मदर्शनम्। तद्दूषणानुसारेण बोद्धव्यमिह दूषणम्" ॥

तत्त्वसं० का० १५२ पृ० ७५।

यदपि 'अभेदेन सङ्केतकरणं शब्दार्थयोस्तादूप्यं ख्यापयति' इत्युच्यते, तदप्ययुक्तम्। नहि 'अयं घटः' इति घटशब्दस्य घटार्थता घटशब्दता(घटार्थस्य वा घटशब्दता) प्रकाश्यते किन्तु 'अयं घटशब्दवाच्यः घटार्थवाचको वा' इत्ययमत्रार्थः प्रकाशयितुमभिप्रेतः अन्यथा प्रत्यक्षप्रतीतिबाधितार्थप्रकाशकत्वेन इदमुन्मत्तकवचनवदनादरणीयं स्यात्। शब्दार्थयोश्च तादात्म्ये क्षुराऽग्नि-मोद-
५ कादिशब्दोच्चारणे आस्यपाटन-दहन-पूरणादिप्रसक्तिः अनवगतसमयस्याभिधानोपलब्धौ तदर्थस्य अर्थोपलब्धौ च तद्वाचकस्यावगतिप्रसक्तिश्च अन्यथा तादात्म्यायोगात् "निश्चीयमानानिश्चीयमानयोर्भेदान्निश्चायैकं बाध्यक्षं परपक्षे" [ ] इत्युक्तत्वात्। न च यो यत्प्रतिपादकः स तदात्मको धूमेक्षा(धूमाद्या)दिभिर्व्यभिचारात्। न च शब्दस्य अर्थविशेषणत्वेन प्रतीतेस्तदात्मकता, देशभेदेन शब्दार्थयोरुपलब्धेः। न च भेदे तस्य तद्व्यवच्छेदकत्वमनुपपन्नम्, काका-
१० देर्भिन्नस्यापि गृहादिकं प्रति व्यवच्छेदकत्वप्रतीतेः। तन्न शुद्धद्रव्यास्तिकाभिमतनामनिक्षेपो युक्तियुक्त इति भावनिक्षेपप्रतिपादकपर्यायास्तिकाभिप्रायः।

[शब्दार्थयोरनित्यसम्बन्धवादिना स्वपक्षं समुद्धर्तुं मीमांसकसंमतनित्यसम्बन्धवादस्य निराकरणम्]

अशुद्धद्रव्यास्तिकप्रकृतिव्यवहारनयमतावलम्बिनस्तु मीमांसका भिन्नानेव शब्दार्थसम्बन्धान्नित्यानाहुः—"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" [मीमां० १-१-५ पृ० ५] इति वचनात्।
१५ 'औत्पत्तिकः' इति विरुद्धलक्षणया नित्यस्तैर्व्याख्यातः। नित्यत्वे च सम्बन्धस्य कृतकसम्बन्धवादिनो येनावगतसम्बन्धेन 'अयम्' इत्यादिना शब्देनाप्रसिद्धसम्बन्धस्य घटादेः सम्बन्धः क्रियते तस्यापि यद्यन्येन प्रसिद्धसम्बन्धेन सम्बन्धः तदा तस्याप्यनेने(न्ये)नेति अनवस्थाप्रसक्तिरिति यो दोषः सः अकृतसम्बन्धवादिनोऽस्मान्न श्लिष्यतीत्ययुक्तवादिन एतेऽपीति भावनिक्षेपवादी पर्यायास्तिकः। अयुक्तवादिता च नित्यवस्तुनः शब्दादेः कस्यचिदसम्भवादिति प्रतिपादितत्वादवगन्तव्याः-
२० (व्या)। अनवस्थादूषणमपि कृतकसम्बन्धपक्षप्रतिपादितमयुक्तमेव 'अयम्' इत्यादेः शब्दस्यानादिव्यवहारपरम्परातः सिद्धसम्बन्धत्वात्, तेनानवगतसम्बन्धस्य घटादिशब्दस्य सङ्केतकरणाद् अकृतसम्बन्धवादिनोऽपि चानवस्थादोषस्तुल्य एव। तथाहि—अनभिव्यक्तसम्बन्धस्याभिव्यक्तसम्बन्धेन शब्देन यदि सम्बन्धाभिव्यक्तिः क्रियते तदा तस्यापि सम्बन्धाभिव्यक्तिरन्यतोऽभिव्यक्तसम्बन्धादिति कथं नानवस्थादोषस्तुल्यः? यदि पुनः कस्यचित् स्वत एव सम्बन्धाभिव्यक्तिः अपरस्यापि
२५ तथैवास्तु इति सङ्केतक्रिया व्यर्था। शब्दविभागाभ्युपगमे चासन्मतानुप्रवेशः प्रदर्शितन्यायेन।

'द्रव्य-पर्यायरूपमुभयमपि परस्परविविक्तमेकत्र विद्यते' इत्यभिप्रायो नैगमोऽशुद्धद्रव्यास्तिकप्रकृतिः।

[सिद्धान्तिना शब्दस्य नित्यत्वानित्यत्वपक्षद्वयमाश्रित्य यथायथं द्रव्यार्थिकनिक्षेपरूपत्वव्यवस्थापनम्]

३० कृतकत्वेऽपि शब्दस्य यत्र यत्र सङ्केतद्वारेण शब्दो नियुज्यते तत्र तत्र प्रतिपादकत्वेन प्रवर्त्तत इति

१-बाधतार्थं-हा० वि०।-बाधनार्थ-आ०। २ निश्चायमानीनिश्चायमानीनिनिश्चायमानयोर्भे-आ०। निश्चीयमानानिनिश्चीयमानानिनिश्चीयमानयोर्भे-वि०। ३-यकं चाध्य-मा०। ४-मक्षोदिभिर्व्य-मां०।-मक्षोदिभिचा-भां०। ५-प्रतीति' आ० हा० वि० विना।-प्रतीते. प्र० मां० बहि। ६-नात् नुत्प-आ० हा० वि० विना। ७ "पटादेः शब्दस्य संबन्ध क्रियते"-प्रमेयक० पृ० १२४ प्र० पं० ११। तत्र चेयं टिप्पणी—"यथा प्रसिद्धसंबन्धेन घटशब्देन घट एव वाच्यस्तथा अप्रसिद्धसंबन्धेनापि घटशब्देन घट एव वाच्य इति"-टि० ४०। ८-यनेन आ० हा० वि०। ९-प्यनेनैति आ० हा०। १०-क्त अ-हा० वि० विना। ११ पृ० ३३ पं० २५। १२-व्याम्। आ०। १३ "अनादिपरम्परातोऽर्थमात्रे प्रसिद्धसंबन्धत्वात्"-प्रमेयक० पृ० १२४ द्वि० पं० ७। अर्थमात्रे "पुरोवर्तिनि अनिर्धारितार्थे"-टि० ३२। १४-नानगत-आ०। "तेन अवगतसंबन्धस्य घटादिशब्दस्य संकेतकरणात्"-प्रमेयक० पृ० १२४ द्वि० पं० ७। तेन "अर्थेन सह"-टि० ३३। १५-गमे चा-आ० हा०। १६-स्य यस्य यत्र यत्र मां०।-स्य यत्र सङ्के-आ० हा० वि०।

द्रव्यसाधर्म्याद् द्रव्यार्थिकनिक्षेपः शब्दः य(त)था द्रव्यार्थताया अपि सर्वत्राभ्युपगमाद् वाच्य-वाचकयो-
र्नित्यत्वात् तत्सम्बन्धस्यापि नित्यता समस्त्येव सङ्केतश्च तदभिव्यक्तिरिति द्रव्यार्थिकनिक्षेपः शब्दः।

[२ स्थापनानिक्षेपः]

[स्थापनां व्याख्याय मुख्य-प्रतिनिध्योर्भेदाभेदपक्षद्वयेऽपि तस्या द्रव्यार्थिकनिक्षेपरूपत्वव्यवस्थापनम्] ५

सङ्केताभिधानस्यार्थस्य प्रतिकृतिप्रकल्पना स्थापनेति यद् वस्तु सद्भूताकारेण स्थाप्यत इति णिजन्तात् कर्मणि युं(यु)प्रत्ययः। सापि द्रव्यार्थिकस्य निक्षेपः मुख्य-प्रतिनिधिविभागाभावात् सदविशेषात् सर्वस्य मुख्यार्थक्रियाका(क)रणात् अन्यथोपयाचितादेस्ततोऽसिद्धिप्रसक्तेः तन्निमित्त-द्रव्यादिविनियोगव्यवहाराभावप्रसक्तेश्च मुख्यपदार्थरूपत्वात् स्थापनाया द्रव्यार्थत्वात्। अथवा अध्यवसायोपरचितमेव स्थापनायास्तदेकत्वम् न पुनर्वास्तवम् अन्यथा मुख्य-प्रतिनिधिविभागाभा- १० वप्रसक्तेस्तद्रूपोपलक्षकत्वाभावप्रसक्तेश्च। नह्यभेदे उपलक्ष्योपलक्षकभाव उपपन्नः। नापि भिन्नदेश-कालचेतनाऽचेतनमुक्तादिविभागो न्यायानुगतो भवेदिति सर्वत्र सद्भावासद्भावरूपतया प्रवर्त्तमा-नत्वात् द्रव्यधर्मसद्भावादेकत्वाध्यवसायकृतमेव तस्या द्रव्यार्थत्वमिति द्रव्यार्थिकनिक्षेपः स्थापना।

[३ द्रव्यनिक्षेपः]

[द्रव्यं व्याख्याय तत्र द्रव्यार्थिकनिक्षेपत्वभावनम्] १५

द्रवति अतीताऽनागतपर्यायानधिकरणत्वेन अविचलितरूपं स(सत्) गच्छतीति द्रव्यम् तच्च भूतभाविपर्यायकारणत्वात् चेतनमचेतनं वा अनुपचरितमेव द्रव्यार्थिकनिक्षेपः।

[द्रव्यार्थिकनिक्षेपेण भावनिक्षेपसंमतस्य क्षणभङ्गस्य विस्तरेण अनेकधा निरासः]

न च प्रतिक्षणविशरारुतया भावानां नित्यताऽसम्भयान्न द्रव्यार्थिकनिक्षेपः सत्य इति वक्तव्यम् निरन्वयनाशितायां प्रमाणानवतारात्। तथाहि-अध्यक्षम् अनुमानं वा तद्ग्राहित्वेन प्रवर्त्तते नान्य- २० (अन्य)स्य प्रमाणत्वेन सौगतैरनभ्युपगमात्? न तावदध्यक्षं क्षणक्षयितां भावानामवगमयितुमलम् प्रतिक्षणमुदयापवर्गसंसर्गितया भावानां तत्राप्रतिभासनात्। नहि प्रतिक्षणं त्रुट्यद्रूपतां बिभ्राणाः पदार्थमात्रास्तत्रावभान्ति स्थिरस्थूररूपतया तेषां तत्र प्रतिभाससंवेदनात्। न चान्यादृग्भूतप्रति-भासोऽन्यादृग्भूतार्थव्यवस्थापकः अतिप्रसङ्गात्। न च प्रतिक्षणं विसदृशभावानुभवेऽपि सदृशा-परापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् यथानुभवव्यवसायानुपपत्तेः क्षणक्षयानुभवेऽपि स्थिरस्थूररूपाध्यवसाय २५ इति वक्तव्यम् प्रमाणाभावात्। न चान्यादृग्भूतार्थानुभवेऽन्यादृग्भूतार्थनिश्चयोत्पत्तिकल्पना ज्या-यसी, नीलानुभवेऽपि पीतनिश्चयोत्पत्तिकल्पनायाः सर्वत्र प्रतिनियतार्थव्यवस्थितेरभावप्रसक्तेः। [?? न च भावव्यतिरिक्तस्य वा सादृश्यस्यान्यथा सामान्यपक्षोक्तदोषस्यात्रापि प्रसक्तेः सम्भवः यतो निमित्तात् सदृशापरापरोत्पत्तिविभ्रमात् यथानुभवं विकल्पोत्पत्तिर्न भवेत् न वा सदृशेष्वपि समानविकल्पजनकेषु दर्शनद्वारेण सदृशव्यवहारहेतुत्वमिति वक्तव्यम् नीलादिविशेषाणामप्यभाव- ३० प्रसक्तेः। यथा हि परमार्थतोऽसदृशा अपि तथाभूतविकल्पोत्पादकदर्शनहेतवः सदृशव्यवहारभाजो

१-निक्षेप श-हा०।-निक्षेपः शब्द सङ्के-वि०। २ "ण्यासश्रन्थो युच्" ३।३।१०७। सिद्धान्तकौ० पृ० ५७५ अं० ३२८४। "णिवेत्त्यासश्रन्थघट्टवन्देरनः" ५।३।१११। हैम०। ३ सर्वस्य—र्थ-हा०। ४-याक-र-प्र० मां० वहिः। ५ सद्भावक-हा०। ६-त्वा द्र-आ० हा० वि०। ७-रूपं स—च्छ-आ० हा० वि०।-रूप गच्छ-मां०। ८ द्रव्यम् आ० हा० वि०। ९ "प्रत्यक्षमनुमानं वा प्रवर्तेत अन्यस्य प्रमाणत्वेन सौगतैरनभ्युपगमात्"-प्रमेयक० पृ० १४४ द्वि० पं० ९। १०-मात् तत्र न तथावदध्यक्षं प्र० मां० वहिः। ११-पर्गसर्गि-आ० हा० वि०। १२-स्तवाव-मा०।-स्तदावभीति आ०।-स्तदावभीति हा० वि०। १३ "स्थिरस्थूलसाधारणरूपतयैव तत्र तेषां प्रतिभासनात्"-प्रमेयक० पृ० १४४ द्वि० पं० १०। १४ "न च अन्यादृग्भूतः प्रतिभासः"-प्रमेयक० पृ० १४४ द्वि० पं० ११। १५-यानुत्प-मा०। "सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् यथानुभवं व्यवसायानुपपत्तेः"-प्रमेयक० पृ० १४४ द्वि० पं० ११। १६-त्पत्तिवि-आ०। १७ न चास-आ०। न स-मां०। १८-सक्ते—था हा० वि०।

भावाः तथा स्वयमनीलादिस्वभावा अपि नीलादिविकल्पोत्पादकदर्शननिमित्ततया नीलादिव्यवहारभाक्त्वं प्रतिपत्स्यन्त इति तेषामपि निःस्वभावताप्रसक्तिः। अत एव प्रतिक्षणं भिन्नस्वभावान् भावान् पश्यन्नपि "विषमज्ञ इव नावधारयति" [   ] इत्यभिधानं न युक्तम्। स्वयमद्वयसरूपाणामन्तर्बहिर्निर्भासदर्शनाद् बहिरप्यनाविलाक्षविज्ञानानां खण्डशः प्रतिभासोपलब्धिः
५ याथात्म्येनैवार्थप्रतिभासोऽनुभवैरित्येतस्यासिद्धेः विकल्पवशेन चाध्यक्षस्य प्रामाण्यव्यवस्था अन्यथा दान-हिंसाविरतचेतसामपि स्वर्गप्रापणशक्तेरध्यक्षत एवाधिगमव्यवस्थितेर्न तत्र विप्रतिपत्तिरिति तद्व्युदासार्थमनुमानप्रवर्त्तनम् शास्त्रविरचनं वा वैयर्थ्यमनुभवेत्। विकल्पस्तु स्थिरस्थूरार्थाध्यवसायात् प्रतीतिः कथमध्यक्षतः क्षणिकनिरंशे परमाणुस्वलक्षणे व्यवस्थायामेव सर्वविकल्पानामवस्तुविषयत्वमबाधितार्थं तथा विकल्पस्यावा(वस्तु)विषयत्वे अन्यथाभूतसंवेदनस्यानुपलक्षणाद्
१० वस्तुव्यवस्थाभावप्रसक्तेः। संहृतसकलविकल्पावस्थायामश्वविकल्पनसमये एवं चक्षुःप्रणिधानानन्तरं पुरोव्यवस्थितस्य गवादेर्विशदतया स्थिरस्थूररूपस्यैवानुभवात् अन्यथा भूतार्थप्रतिभासस्य कदाचिदप्यनुपलब्धेः न च वस्तुनः प्रतिक्षणध्वंसित्वात् तत्सामर्थ्यबलोद्भूतेनाध्यक्षेण तद्रूपमेवानुकरणीयम् अन्यरूपानुकरणे असदर्थग्राहकत्वेन तस्य भ्रान्तताप्रसक्तेः क्षणपरिणामग्राही चाध्यक्षमिति वक्तव्यम् इतरेतराश्रयप्रसक्तेः—सिद्धे हि क्षणक्षयित्वे भावानां तत्सामर्थ्यभाविनोऽध्यक्षस्य
१५ तद्रूपानुकरणं सिद्ध्यति तत्सिद्धौ च क्षणक्षयित्वं तेषां सिध्यतीति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। अपि च, क्षणस्थायित्वेऽपि भावानां यथास्वभावमनुभवः, उतान्यथेति चेत् वस्तुस्वभावानुभवनियमाभावात् कुत आशङ्काव्यावृत्तिरिति चक्षुरादिज्ञानं प्रतिकलमपरापरमेव वस्तुस्वभावमनुभवति किन्तु विकल्पवासनाप्रभवाध्यवसायस्य तन्निश्चयं प्रत्यशक्तिरित्यसङ्गतं नीलादिस्वभावेष्वप्यनाश्वासप्रसक्तिरित्युक्तत्वाच्च। तन्न क्षणक्षयिता भावानामध्यक्षावसेया। ??]

२० नाप्यनुमानान्निश्चेतव्या, तत्र अध्यक्षावृत्तावनुमानस्याप्यनवतारात्। तथाहि–अध्यक्षाधिगतमविनाभावमाश्रित्य पक्षधर्मतावगमबलादनुमानमुदयमासादयतीति अध्यक्षानवगते तु विषये स्वर्गादाविवाध्यवसायफलस्यानुमानस्य(स्या)प्रवृत्तिरेव सौगतैरभ्युपगता। तथा चाचार्यः–"अदृष्टेऽर्थेऽर्थविकल्पनमात्रम्" [   ] इत्युक्तवान्। यदपि 'निर्हेतुको ध्वंसः पदार्थोदयानन्तरभावी देश-कालपदार्थान्तरमपेक्ष्य? भवतस्तत्सापेक्षतया निर्हेतुत्वाभावप्रसक्तेः' इत्युक्तम् यतो
२५ (तत्र) यदि नाम अहेतुकः प्रध्वंसस्तथापि यदैव मुद्गरव्यापारानन्तरमुपलब्धिगोचरस्तदैव तत्सद्भावोऽभ्युपगमनीयः भावोदयानन्तरं तु न कस्यचिदुपलम्भगोचरतामुपगच्छतीति कथं तदैवास्य सद्भावावगतिः? न च मुद्गरादिव्यापारानन्तरमस्य दर्शनात् प्रागपि सद्भावः कल्पनीयः तथाकल्पने ह्यादौ तस्यादर्शनाद् मुद्गरव्यापारसमनन्तरमप्यभावप्रकृतिप्रसक्तिः(वप्रसक्तिः) विशेषाभावात्। न चान्ते क्षयदर्शनाद् आदावप्यसावभ्युपगन्तव्यः सन्तानेनानेकान्तात्। न च
३० मुद्गरादिसंयोगादिकं कारणान्तरमनपेक्षमाणः पदार्थसत्तामात्रानुबन्धित्वात्? तदुदयानन्तरमेव

१–वारतील–मां०। २–न वाध्य–आ० हा० वि०। ३–माण्याव्य–आ० हा० वि०। ४–वावस्थि–आ० हा० वि०। ५–म् न च शा–भां० वहिः। ६–त् किं विक–मां०। ७ प्रततिः आ० हा० वि०। ८–याम् च आ० हा० वि०। ९ "विकल्पोऽवस्तुनिर्भास इत्यस्य विरोधः"–प्रमेयक० पृ० ९ द्वि० पं० ४। तथा तत्रैव 'अवस्तुनिर्भासः' "अवस्तुनि निर्भासः प्रतिभासो यस्य विकल्पस्य स." टि० १६। "स्वलक्षणविषयत्वे च "विकल्पो वास्तुनिर्भासादसंवादादुपप्लवः"। इति स्ववचनविरोधः"–अष्टस० पृ० १७० टि० १८। १० एवं च–हा०। ११ "न च अर्थस्य प्रतिविनाशित्वात् तत्सामर्थ्यबलोद्भूतेन अध्यक्षेणापि तद्रूपमेव अनुकरणीयमिति"–प्रमेयक० पृ० १४४ द्वि० पं० १४। १२–ग्राहो चा–भां० मां०।–ग्राह्यो वा–मां० वहिः। १३–सायेतस्य आ० हा० वि०। १४ "प्रत्यक्षाविषये तु स्वर्गादाविव अनुमानस्याप्रवृत्तिरेव"–प्रमेयक० पृ० १४४ द्वि० पं० १६। १५–दृष्टार्थ र्थविक–हा०।–दृष्टोर्थ यविक–आ०।–दृष्टार्थविक–वि०। १६–क्त्वान् भा० आ०। १७–मपेक्ष्य भ–आ० हा० वि० विना। १८–कः तथा प्र–आ० हा० वि०। "किञ्च, यदि नाम अहेतुको विनाशस्तथापि"–प्रमेयक० पृ० १४५ प्र० पं० ८। १९–द्भावं क–भा०। "प्रागपि सद्भावः कल्पनीयः प्रथमक्षणे तस्य अनुपलम्भात् मुद्गरादिव्यापारानन्तरमपि अभावानुषङ्गात्"–प्रमेयक० पृ० १४५ प्र० पं० ९।

सत्त्वमासादयतीति वक्तव्यम्। यतो यदि नाम भावसत्तामात्रानुबन्धिता नाशस्य तथापि न प्रतिक्षणध्वंसित्वं सिध्यति सत्ताया एव तथात्वेनानिश्चयात्। तथाहि-असावेकक्षणसंगता वा भवेत्, अनेकक्षणपरिगता वा? तत्र यद्याद्यः पक्षः स न युक्तः, तस्या एकैकक्षणावस्थानासिद्धेः तदसिद्धौ च तदनुबन्धिनः प्रध्वंसस्य कथं प्रतिक्षणभावित्वं निश्चेतुं शक्यम्। विशेषणाप्रतिपत्तौ तद्विशेष्यस्य प्रतिपत्तुमशक्तेर्न क्षणिकसत्तामात्रानुबन्धित्वान्नाशस्योदयानन्तरभावित्वं सिद्धिमासादयति। अथा- ५ (था)नेकक्षणस्थायिसत्तामात्रानुबन्धी ध्वंसः तथासति सत्तायाः क्षणान्तरावस्थानादक्षणिकतैव भावस्य न्यायादनुपतति अनेकक्षणस्थितिसत्तानुबन्धे प्रध्वंसस्यानेकक्षणस्थितिसत्तानन्तरं भावेन भवितव्यम् अन्यथा तथाभूतसत्तानुबन्धित्वयोगा(त्वायोगो) ध्वंसस्येति कथं क्षणिकत्वम्? किञ्च, उदयानन्तरमेव भावानां ध्वंस इति कुतः प्रतीयते-किं भिन्नाभिन्नविकल्पाभ्यां ध्वंसस्याघटमानत्वात् आहोस्विदन्यतः प्रमाणादिति विकल्पद्वयम्। तत्र यद्याद्यः पक्षस्तदा नोदयानन्तरं ध्वंसः सिद्धिमा- १० सादयति यतो भिन्नाभिन्नविकल्पाभ्यां मुद्गरादिनिरपेक्षि(क्ष)त्वं तस्य सिद्धिमासादयति न पुनर्जन्मान्तरं(न्मानन्तरं) भावः। नहि निर्हेतुकस्य शशविषाणादेः पदार्थोदयानन्तरभावितोपलब्धा। अथ निर्हेतुकत्वे ध्वंसस्य सर्वदा भावात् कालाद्यपेक्षाऽसम्भवतः पदार्थोदयानन्तरमेव भावः; नन्वेवं निर्हेतुकत्वे सर्वदा भावात् प्रथमे क्षणे एव भावप्रसक्तिर्नोदयानन्तरं सद्भावो ध्वंसस्य न ह्यनपेक्षत्वात् निर्हेतुकः क्वचित् कदाचिच्च भवति तद्भावस्य सापेक्षत्वं न(क्षत्वेन) निर्हेतुकत्व- १५ विरोधादिति अभ्युपगतमेव एतत् सौगतैः। अथ स्वोत्पत्तिहेतुत एव पदार्था ध्वंसमासादयन्तीति प्रथमक्षण एव तेषां प्रध्वंसे न तथा(तदा) सत्तानुषङ्ग इति पदार्थाभावात् कुतः तत्प्रच्युतिलक्षणो ध्वंसः प्रथमक्षणे भवेत्, असदेतत्; यतो यदि भावहेतुरेव तत्प्रच्युतिहेतुस्तदा किमेकक्षणस्थायिभावहेतोस्तत्प्रच्युतिहेतुत्वम्, किं वानेकक्षणस्थायिभावहेतोरिति वक्तव्यम्। यद्याद्यः पक्षस्तदाऽसिद्धम् एकक्षणस्थायिभावहेतुत्वस्याप्यसिद्धेः तत्कृतकत्वं तत्प्रच्युतेरसिद्धमेव। द्वितीयपक्षे २० तु 'क्षणिकताऽभावः' इति प्रतिपादितं प्राक्। किञ्च, यदि भावहेतुरेव तत्प्रच्युतिहेतुरभ्युपगम्यते तदा वक्तव्यं किं भावजननादसौ प्राक् तत्प्रच्युतिं जनयति, आहोस्विदुत्तरकालम्, उत समानकालम्? यद्याद्यः पक्षस्तदा प्रागभावः प्रच्युतिर्भवेन्न प्रध्वंसाभावः। अथ द्वितीयस्तथासति भावप्रभववेलायां तत्प्रच्युतिर्नोत्पन्नेति न भावहेतोस्तस्या उत्पत्तिरिति न भावहेतुस्तद्धेतुः। एवं चोत्तरोत्तरकालभाविभावपरिणतिमपेक्ष्योपजायमाना तत्प्रच्युतिः कथं भावोदयानन्तरभाविनी २५ स्यात्? अथ तृतीयपक्षोऽभ्युपगमविषयस्तथापि भावोदयसमयभाविन्या प्रच्युत्या सह भावस्य प्रथमक्षणेऽवस्थानेनाविरोधात् तत्सद्भावेऽपि सति भावेन नंष्टव्यमिति न कदाचिद् भावाभावसद्भावः। किञ्च, यद्यप्युदयानन्तरोदयवती तत्प्रच्युतिस्तथापि न तदैव मुद्गरादिव्यापारानन्तरमिव प्रतीतिपथमवतरति किन्तु मुद्गरादिव्यापारानन्तरमेव ततश्च प्रागनुपलब्धा मुद्गरादिव्यापारानन्तरमुपलभ्यमाना पुनस्तदभावेऽनुपलभ्यमाना तज्जन्यतयासौ व्यवस्थाप्यते अन्यत्रापि हेतु- ३० फलभावस्यान्वयव्यतिरेकानुविधानलक्षणत्वात्। न च मुद्गरव्यापारानन्तरं न प्रच्युतेरुपलम्भः किन्तु कपालसन्ततेरिति तदुदय एव मुद्गरादेर्व्यापारः प्रच्युत्युपलब्धिस्तु विषयाभावादुपजायमाना वितथैवेति वक्तव्यम् यतो घटादेः स्वरूपेणवाधि(वि)कृतस्यावस्थाना(ने) पूर्ववदुपलब्ध्या-

---

१-ता नाचंशस्य हा०। २-क्षणं ध्वं-आ० विना। ३-भावि श्चेतु श-हा० वि०।-भावि स्या निश्चेतुं श-आ०। ४-धन्धि ध्वं-आ० हा० वि०। ५ ध्वंस ति सत्ता-वि०। ध्वंस त्ति सत्ता-मा०। ध्वंस त्ता-हा०। ६-धन्धित्वंयो-मां० विना। ७-सस्य ति क चं क्ष-हा०। ८-न्मान्तरभा-आ०।-न्मान्तराभा-मां० मां०। "प्रथमविकल्पे तु भिन्नाभिन्नविकल्पाभ्यां मुद्गराद्यनपेक्षत्वमेव अस्य स्यात् न तु उदयानन्तरं भावः"-प्रमेयक० पृ० १४५ प्र० पं० ११। ९ "तथाभावस्य सापेक्षत्वेन अहेतुकत्वविरोधिना सहेतुकत्वेन व्याप्तत्वात् तथा सौगतैरपि अभ्युपगमात्"-प्रमेयक० पृ० १४५ प्र० पं० १३। १० "ननु प्रथमक्षणे एव तेषां ध्वंसे सत्त्वस्यैव असंभवात् कुतस्तत्प्रच्युतिलक्षणो ध्वंसः स्यात्? तत. स्वहेतोरेव अर्था ध्वंसस्वभावाः प्रादुर्भवन्तीत्यप्यविचारितरमणीयम् यतो यदि"-प्रमेयक० पृ० १४५ प्र० पं० १४। ११ "प्रथमपक्षोऽयुक्त एव क्षणस्थायिभावहेतुत्वस्य अद्यापि असिद्धे."-प्रमेयक० पृ० १४५ द्वि० पं० २। १२-न्न तद्भा-मां०। १३ यद्यप्युदयानन्त-आ०। १४-टादेऽस्व-वि०।-टादेस्व-आ० हा०। "घटादेः स्वरूपेण अविकृतस्यावस्थाने पूर्ववदुपलब्ध्यादिप्रसङ्गात्"-प्रमेयक० पृ० १४५ द्वि० पं० ७।

द्प्रिसक्तिर्भवेत् । न च तस्य तदा स्वयमेवाभावान्नोपलब्ध्यादिरिति वक्तव्यम् यतः सोऽपि तदभावस्तदैव मुद्गरादिव्यापारानन्तरमुपलभ्यते अन्यदा तु नोपलभ्यत इति कथं न तत्कार्यः? अथ न भावाभावो भावस्वरूपादन्यः केवलं कल्पनाविषयत्वादसदेवासौ (?) व्यवहारपथमवतार्यते; नन्वेवं भावप्रच्युतेः काल्पनिकत्वे भावानामपि काल्पनिकत्वमपरिहार्यम् यतो लाक्षणिको
५ विरोधो नीलपीतादेः परैरभ्युपगतः वस्तुस्वरूपव्यवस्थापकं च लक्षणं तन्निमित्तो विरोधो लाक्षणिक उच्यते भावप्रच्युतिश्च लक्षणं यतो नीलस्य विरोधो नीलप्रच्युत्या तद्विरोधे च पीतादीनामपि तत्प्रच्युतिव्याप्तानां तेन विरोधस्तथा च प्रमाणं नीलपरिच्छेदकत्वेन प्रवृत्तं नीलप्रच्युतिं तद्व्याप्तांश्च पीतादीन् व्यवच्छिन्ददेव स्वपरिच्छेद्यं नीलं परिच्छिनत्तीत्यभ्युपगमः । स च शशविषाणस्येव भावाभावकाल्पनिकत्वाभ्युपगमे कथं मु(यु)क्तिसङ्गतः? नहि शशविषाणप्रख्यस्य
१० भावाभावस्य भावविरुद्धत्वम् पीतादिव्यापकत्वं वा प्रमाणा(ण)विषयत्वेन व्यवस्थापयितुं शक्यम् यतस्तस्य प्रतिनियतपदार्थव्यवस्थाहेतुत्वं भवेत् ।

न च विनाशस्य मुद्गरादिजन्यत्वमसिद्धम् विरोधिरूपतया लोकस्थित्या मुद्गरादीनां तत्कारणत्वव्यवस्थापनात् । तथाहि–न परैः कणभुग्मतानुसारिभिरिव कार्यकारणभावात् पृथग् विरोधाख्यः सम्बन्धोऽभ्युपगम्यते यतस्तैर्मुद्गरादिजन्यस्य विनाशस्य (?) तदतद्रूपत्वेनासम्भवाद् विनाशस्य
१५ च तदतत्स्वभावतया विनाशविषयत्वमपाकृत्य घटक्षणो मुद्गरादिकं विनाशकारणत्वेन प्रसिद्धमपेक्ष्य समानक्षणान्तरोत्पादनेऽसमर्थक्षणान्तरमुत्पादयति तदपि तदपेक्षमपरमसमर्थतरम् तदप्युत्तरं तदपेक्षस(क्षमस)मर्थतमं यावद् घटसन्ततेर्निवृत्तिः अन्यत्रापि सर्वत्रैवमेव विरोधित्वं प्रतिपादितं परैः एतदभ्युपगमे च क्षणस्यासमर्थक्षणान्तरजनकत्वेनाभ्युपगतस्य मुद्गरादेः सकाशात् कश्चित् सामर्थ्यविघातोऽभ्युपगन्तव्यः अन्यथाऽसमर्थक्षणान्तरजनकत्वमेवानुपपन्नं भवेत् । न च मुद्गरा-
२० द्यपेक्षस्य घटक्षणस्य शक्तिव्यावृत्तिः स्वत एव व्यावर्त्तमानस्त्वसौ मुद्गराद्यभावे समानक्षणान्तरोत्पादकमपरं समर्थं जनयति तत्सद्भावे त्वसमर्थक्षणानन्त(णान्त)रम् न तु मुद्गराद्यपेक्षातस्तस्य कश्चित् सामर्थ्यविघात इति वक्तव्यम् यतो मुद्गरादिसन्निपाते तज्जनकस्वभावाव्याहतौ समर्थक्षणान्तरोत्पादप्रसक्तिः समर्थक्षणान्तरजननस्वभावस्य कारणपरम्परायातस्य भावात् प्राक्तनक्षणस्येव नहि तस्य स्वनिरोधादन्यज(ज्ञ)नकत्वम् स च हेतुतः समर्थजननस्वभावो भूत्वा स्वयमेव न भूतो
२५ मुद्गरादिना च न तस्य कश्चिच्छक्तिप्रतिघातो विहित इति । यद्यप्यपरकारणान्तरसन्निधानात् कार्यं वैलक्षण्येनैवोत्पत्तुमिच्छति [?? तथापि प्राक्तनघटक्षणस्य तत्स्वभावत्वाद्घटत्वेन कार्योत्पत्तिः स्यान्नान्यथेति न च स्वहेतुतो समर्थजननस्वभावस्य तस्योत्पत्तेर्नायं दोषः प्रथमक्षण एवं(व) सन्तत्युच्छेदप्रसक्तिः । अतो मुद्गरादिव्यापारकालेऽपि यदि स्वहेतुत एव समानक्षणान्तरजननसामर्थ्यं घटक्षणस्य समस्ति ततः सदृशक्षणान्तरोत्पत्तेर्मुद्गरादिसन्निधानं व्यर्थम् । अथ स्वहेतुतः समान-
३० क्षणान्तराजननसमर्थो घटक्षणस्तथापि प्राक्तनक्षणादिवत् तत्क्षणादप्यपरक्षणान्तरजनकस्य समानक्षणोत्पत्तेर्व्यापारवन्मुद्गरसन्निधिर्व्यर्थ एव । एतच्च स्वहेतुतो भावस्य नश्वरस्वभावत्वे न किञ्चिन्नाशहेतुना अनश्वरस्वभावत्वेऽपि 'सुतराम्' इति वदता परेण दूषणमभ्युपगतमेव ।

१–यमेव भा–आ० विना । "न चास्य तदा स्वयमेवाभावात्"–प्रमेयक० पृ० १४५ द्वि० पं० ७ । २–स्तदा च भां० । ३–यच्छेदादेव स्व–हा० वि० ।–वच्छेदादे स्व–आ० । ४–णस्येव भां० विना । ५ भावका–भां० । भावाभावप्रमाणाविषयत्वे का–वि० । ६–स्या मुद्गरादीनां हा० । ७ तत्कर–आ० । ८–द्रूपायनासम्भ–हा० वि० । ९–स्य तदतत्स्वभा–हा० वि० ।–स्य तदत्स्वभा–भां० । १० "अथ घट एव मुद्गरादिकं विनाशकारणत्वेन प्रसिद्धमपेक्ष्य समानक्षणान्तरोत्पादनेऽसमर्थं क्षणान्तरमुत्पादयति तदपि अपेक्ष्य अपरमसमर्थतरम् तदपि उत्तरमसमर्थतमम् यावद् घटसन्ततेर्निवृत्तिरित्युच्यते । ननु चात्रापि घटक्षणस्य असमर्थक्षणान्तरोत्पादकत्वेन अभ्युपगतस्य मुद्गरादिना कश्चित् सामर्थ्यविघातो विधीयते वा न वा ? प्रथमविकल्पे प्रथमभावस्य अहेतुकत्वम् । द्वितीयविकल्पे तु मुद्गरादिसन्निपाते तज्जनकस्वभावाऽव्याहतौ समर्थक्षणान्तरोत्पादप्रसङ्गः समर्थक्षणान्तरजननस्वभावस्य भावात् प्राक्तनक्षणवत्"–प्रमेयक० पृ० १४५ द्वि० पं० ८ । ११–रसमर्थ–भां० ।–रमर्थतर–आ० । १२–घमपे–आ० । १३–रणं प–भां० ।–रणाप–आ० हा० वि० । १४–म् स्वहे–भां० यदिः । १५–सुतोमर्द्दजन–आ० । १६–दिं-यव् तक्ष–हा० वि० ।–दिस् तत्क्ष–आ० । १७–मा सहे–आ० हा० वि० विना ।

न[1] चाकिञ्चित्करस्यापि मुद्गरादेः[2] स्वहेतुमभिहेतुसन्निधिबलायातत्वाद् घटक्षणस्यासमर्थक्षणान्तरजननकालेनोपा(प)लम्भविषयता यत एवानेकस्यैव क्षणघटस्य[3] विलक्षणक्षणान्तरोत्पादकत्वाभ्युपगमप्रसक्तिः स्यात्। एवं[4] च मुद्गरादेर्न विरोधित्वम् विनाशस्याहेतुकत्वात्[5]। नापि जनकत्वं पूर्वोक्तदोषप्रसक्तेरिति विलक्षणसन्तत्युत्पादे[6][7] सन्तानोच्छेदे वा मुद्गरादेरन्वय-व्यतिरेकाननुविधानप्रसक्तितो नाग्न्यादीनां दहनादिकार्ये लोकस्योपादानं भवेत्। न च परमार्थैकत्वस्याभावे घटादीनां ५
मुद्गरादिव्यापारानन्तरमनुपलब्धिर्भवेत्। न च पूर्वसन्तानोच्छेदाद् विलक्षणसन्तानोत्पत्तेश्च तदा घटानुपलब्धिरिति वक्तव्यम् विलक्षणसन्तत्युत्पादस्य प्राक्तनन्यायेनाभावात् पूर्वसन्ततिनिवृत्तेरपि[8] विवर्त्तमानेभ्योऽनर्थान्तरत्वात् तथैवोपलब्ध्यादिप्रसक्तेः तदा तस्य[9] स्वरूपक्षतेरभावात्। न च न तदा तस्य स्वरूपप्रच्युतिरुत्पद्यते किन्तु तस्यैकक्षणावस्थायित्वेन तदाऽभवनमिति[10] नोपलम्भः यतः स्वरूपादप्रच्युतस्य नाभवनं नाम किञ्चित् तत्सद्भावाभ्युपगमे वा कथं न स्वरूपप्रच्युतिस्ततो- १०
ऽर्थान्तरभूतोत्पत्तिमती? अथ स एव न भवति न[11] तु तस्यापरं सत्त्वम् न[12] तु तदेवेदं पुना रूपाभवनमभिधीयते, तत्र च तदेवोत्तरम्। तस्माद् विनाशहेतुव्यापारानन्तरा(रं)[13] पदार्थस्यासद्व्यवहारं[14] विदधता तद्व्यतिरिक्तार्थान्तरग्रहणमभ्युपगन्तव्यम्[15] न तु तदग्रहणमात्रम् अन्यथा तस्याभावानि-[16]श्चयेकत्व्यादिव्यवहितस्य[17] सद्व्यवहारनिषेध एव स्यात् नासद्व्यवहारप्रवर्त्तनम्[18] यतो न कश्चिद-भावानिश्चये तत्स्वरूपाग्रहणे वानुपलब्ध्योर्विशेषः येनैकत्रासद्व्यवहारप्रवृत्तिः अन्यत्र सद्व्यवहार- १५
निषेधमात्रात्[19] किन्त्वभावोत्पत्तेः[20] प्राग्भावस्याभावनिश्चय(ये) तदुत्पादककारणोपादानं[21] कुर्वन्त उपलभ्यन्ते प्रेक्षापूर्वकारिणः। तदुत्पत्तौ च निवृत्तव्यापारा विनाशकहेतुव्यापारानन्तरं च स्वरूपातिरिक्तं पदार्थान्तरमवगत्य शत्रुध्वंसे सुखभाजो मित्रप्रक्षये तु दुःखानुषक्ता उपलभ्यन्ते। न च मित्रसद्भावो दुःखहेतुः प्रतीतः नापि शत्रुसद्भावः सुखजनक इति[22] तद्व्यतिरिक्तोऽभावस्तज्जनकोऽभ्युपगन्तव्यः। न च मित्राऽमित्राभावे च न दुःख-सुखे विहितोत्तरत्वात्। न चाभावस्य २०
भवितृत्वे भावरूपता अभावप्रत्ययविषयत्वेन भवितृत्वेऽप्यभावरूपत्वात्[23]। यथा हि भवितृत्वेनाविशेषेऽपि घट-पटयोस्तत्प्रतीतिविषयत्वेन[24] तद्रूपता तथा भावाऽभावयोरपि तद्विषयात्(षयत्वात्) तद्रूपत्वे न किञ्चिद् दूषणमुत्पश्यामः। न वा भावस्य भवने विरोध एव दूषण(णम्) स्वरूपेऽध्यवसितप्रत्ययविषये[25] विरोधासिद्धेः अन्यथा सर्ववस्तुषु तत्सिद्धिप्रसक्तिः। तत्र[26] मुद्गरादिव्यापारात् प्राग् घटादेस्तद्व्यापारानन्तरमेव तस्या उपलब्धेः पदार्थात्मभूता प्रच्युतिः[27]। अत एव तस्मिन् २५
'गृहीतैव प्रमाणता' इति हेतोरसिद्धतेत्यपि न वाच्यम्, यतः किं घट एव प्रच्युतिः, उत कपाललक्षणं भ(भा)वान्तरम्, आहोस्वित् तदपरं पदार्थान्तरमिति विकल्पाः। तत्र यदि घटस्वरूपमेव प्रच्युतिस्तर्ह्यपरं तन्नामिधानान्तरं विहितम् घटस्वरूपं त्वविचलितं प्रतीयते कथं न नित्यम्? अथैकक्षणस्थायि[28] घटस्वरूपं प्रच्युतिरिति न घटस्य नित्यता; नन्वेकक्षणस्थायितया[29] घटस्वरूपं न प्रतीतिगोचर इति कथं तस्य प्रच्युतिः? अथ कपालस्वरूपमेव घटप्रच्युतिस्तथापि प्राक्कपालप्रादु- ३०

---

१ न वा-भा० हा० वि०। २-रादे स्व-आ०। ३ क्षणे घ-मां०। ४ एवं मु-मां० हा० वि०। एव मु-आ०। ५-शस्य हे-आ०। ६-क्षणांसंतत्युदसं-हा०। ७-त्पादयं संतानोच्छे-वि०।-त्पाद संततोच्छे-आ०। ८ पूर्वसंततिनिवृत्तैर-हा० वि०। पूर्वसंतितिनिवृत्तैर-आ०। ९-स्य रू-आ० हा० वि०। १० तदा भ-आ०। ११ न नु त-आ०। १२ न नु तदेवेद पु-आ०। १३-शहेतुर्व्या-आ०। १४-हार विदधतां त-हा०।-हार विदधता त-वि०। १५-रमग्र-आ० हा० वि०। १६ तस्माभा-हा० वि०। १७-श्चयेत्कन्यादि-आ०।-श्चयेकव्यादि-हा० वि०। १८-न यता म कश्चि-आ०। १९-त्रात् किंच भा-मां०।-त्रा किन्त्व भा-आ० हा० वि०। २० "किंच भावोत्पत्तेः प्राग्भावस्य अभावनिश्चये तदुत्पादककारणोपादनं कुर्वन्तः प्रतीयन्ते प्रेक्षापूर्वकारिणः"-प्रमेयक० पृ० १४५ द्वि० पं० ११। २१-दकार-आ०। २२ इति रपश्च-आ०। "ततस्तद्व्यतिरिक्तोऽभावस्तद्धेतुरभ्युपगन्तव्यः"-प्रमेयक० पृ० १४५ द्वि० पं० १३। तद्धेतुः "स मुद्गरादिर्हेतुर्यस्य सः" इति तत्रैव टि० २८। २३-प्यमावाभाव-वि०। २४ घटयोस्त-मां० आ० हा० वि० विना। २५-त्यये विषेये विरो-हा० वि०।-त्यये विषेय विरो-आ०। २६ तत्र मु-हा० वि०। २७-च्युति प्रच्युतित एव आ०। २८-यि स्व-आ० हा० वि०। २९ "अथैकक्षणस्थायि घटस्वरूपं प्रध्वंसः, न; एकक्षणस्थायितया तद्रूपस्याद्यापि अप्रसिद्धेः"-प्रमेयक० पृ० १४६ प्र० पं० १।

भावाद् घटस्यावस्थितेः कालान्तरस्थायितैव घटस्य भवेन्न क्षणिकता । न च कपालरूपप्रच्यु-
त्यभ्युपगमे मुद्गरादिव्यापारानन्तरमपि 'घटस्य ध्वंसः' इति पूर्ववदुपलब्ध्यादिप्रसङ्गः यतो न
मुद्गरादिना घटस्वरूपं क्रियते स्वहेतोरेव तस्य निष्पत्तेः। नाप्यसती स्वरूपप्रच्युतिरुत्पद्यते तत्र
परैर्हेतुव्यापारानभ्युपगमात् यत् तु कपालादिषु मुद्गरादिना निष्पाद्यत इति अभ्युपगतम् न तस्य
५विरोधान्न हेतुत्वं कुड्यादेरिवेति कथं न प्रागिवोपलब्ध्यादिकं भवेत् अथ स एव न तदा न
तेन नित्यता न चोपलब्ध्यादिकं स्व(दिकस्य)कार्यका(क)रणम्, नैतदेवम्; यतः 'सः' 'न' इति-
शब्दयोः किं भिन्नार्थत्वम्, आहोस्विदेकार्थत्वमिति वक्तव्यम्। यदि भिन्नार्थता कथं न 'नञ्'-
शब्दवाच्यः पदार्थान्तरमभावोऽभ्युपगतो भवेत्। अभिन्नार्थत्वे तु पूर्वमपि 'नञ्'प्रयोगप्रसक्तिः,
न चानुपलम्भे सति 'नञ्'प्रयोगाभ्युपगम इति वक्तव्यम् यतो व्यवधानाद्यभावे स्वरूपादप्रच्युतस्य
१०तस्यैवानुपपत्तिर्भवेत्। अथ स्वरूपात् प्रच्युतिः कथं न कपालकाले मुद्गरादिहेतुकं भावान्तरं
प्रच्युतिर्भवेत्? ??]

[?? अथ कपालकाले घटविनाशा(नाशान)भ्युपगमे स्वभावत एव घटस्याविनश्वरस्य परतोऽपि
नाशासम्भवतो यः स्वभावो घटस्य प्रथमक्षणात् कियत्कालावस्थानोत्तरकालविनाशलक्षणस्तस्य मुद्ग-
रादिसन्निधानकालेऽपि भावात्-अभावे वा स्वभावनानात्वा(त्वात्) क्षणिकत्वप्रसक्तेः-पुनरपि ताव-
१५त्कालमवस्थानमनुभूय तेन(तेन न) नंष्टव्यमिति घटादेः कौटस्थ्यप्रसङ्गः। विनाशहेतुस्(स्त्व)भाव-
स्याकिञ्चित्करतयाऽनपेक्षणीयः न ह्यसौ भावमेव करोति कृतस्य करणायोगात्। न च भावान्तरं
करोति तत्करणेऽपि भावस्य किं सञ्जातमिति तथोपलब्ध्यादिप्रसङ्गात्। न च तस्य तेन सम्बन्धो
येन 'तस्यायं विनाशः' इति व्यपदेशभाग् भवेत् तयोरुपकार्योपकारकभावाभावात् तदभावे च
पारमार्थिकसम्बन्धायोगात्। यदि पुनर्भावान्तरं विना स्वयमेव क्रियते विनाशहेतुवैक(फ)ल्यम्
२०स्वत एव तस्य तत्करणसमर्थत्वात् अन्यापेक्षानुपपत्तेः असमर्थत्वेऽन्यसन्निधानेऽपि करणानुप-
पत्तेर्न भावान्तरमपि विनाशहेतुनिर्वर्त्यम्। अभावकरणेऽपि पर्युदासपक्षेऽयमेव दोषः। प्रसज्यपक्षे
स्वभावं करोतीति क्रियाप्रतिषेधमात्रमेव । तत्र च तद्धेतुरकिञ्चित्कर एवेत्यनपेक्षणीयः स्यात्
तस्य निर्हेतुकत्वात् स्वरसतो भवन्नभावो भावस्य पावकोष्णत्ववन्न कालान्तरभावीति, असदेतत्;
हेतुतः साध्यसिद्धेः प्रत्यक्षस्य च क्षणिकत्वग्राहकत्वेनाप्रवृत्तेः न तत्प्रतिबद्धत्वेन हेतुर्निश्चित
२५इत्युक्तत्वात् अहेतुकत्वेऽपि[२६] च नाशस्य जन्मान्त(जन्मानन्त)रभावित्वं नित्यस्यापि प्राक् प्रति-
पादितत्वात् । न च पावकोष्णत्वदृष्टान्तस्तत्र सम्भवी प्रथमक्षणेऽपि भावध्वंसप्रसक्तेः तद्वदे-
वेत्यन्यत्राप्यभिहितत्वात् । न च क्षणावस्थितिलक्षणस्य विनाशस्य तदैवेष्टत्वाददोषः, काला-
न्तरस्थायित्वस्यापि स्वभावत एव सम्भवाद् विशेषाभावात्। तथाहि-एतदपि वक्तुं शक्यम्—काला-
न्तरस्थायी स्वहेतोरेव भाव उत्पन्नः न तद्भावे भावान्तरमपेक्षतो(ते)ऽग्नेरे(रि)वोष्णत्व इति किं
३०न स्वत एव स्थिरस्वभावो भावो भवेत्? न चैवं कौटस्थ्यप्रसङ्गः क्षणिकपक्षेऽप्यस्य समानत्वात्।

१-द्गलादि-भां०। २ यतो मु-आ० हा० वि०। ३ कुतश्चादेरवेति आ०। ४ कथं प्रा-भां० आ० हा० वि० विना। ५-ब्ध्यादिकं स्वका-वि०। ६ तदा न तेन न नित्यता न चोपलब्ध्यादिकं भवेत् अथ स एव न तदा न तेन न नित्यता (तेन नित्य-भां०) न चोपलब्ध्यादिक स्वका-भां० मां० हा०। ७ न यो-हा०। ८-रणे नै-हा०। ९ न नञ्-आ०। १० सति तत्प्र-आ० हा० वि०। "न चानुपलम्भे सति नञ्प्रयोग इत्यभिधातव्यम्"-प्रमेयक० पृ० १४६ प्र० पं० ३। ११ "स्वरूपादप्रच्युतार्थस्य अनुपलम्भानुपपत्ते"-प्रमेयक० पृ० १४६ प्र० पं० ४। स्वरूपात् "पृथुबुध्नोदरादेः" टि० ९। अर्थस्य "घटलक्षणस्य" टि० १०। १२-पा प्र-आ० हा० वि० विना। १३-तुक भा-आ० विना। १४-गमे श्च स्व-आ०। १५ एवं घ-आ०। १६-स्या मनु-आ०। १७-नुभूयं ते-आ० हा०। १८-य ते त नष्ट-आ०। १९-व्यमिति ते घ-हा० वि०। २०-क्षणो न आ०। २१-नर्भवा-आ० हा० वि० विना। २२ स्वभायमे-हा०। स्वभावमे-वि०। २३-पक्षेपिऽयमे-मां०। २४ तस्यानिर्हेतु-हा०। तस्यानिर्हेतु-वि०। तस्यानिर्हेतु-आ०। २५-वत्त भावस्य आ० वि०। २६-पि वा ना-आ० हा० वि०। २७-स्य न ज-आ० हा० वि०। २८-त्वात्यददो-आ० हा० वि० विना। २९ "शक्यते हिदमप्येव वक्तुम् कालान्तरस्थायी स्वहेतोरेव उत्पन्नो भावो न, तद्भावे भावान्तरमपेक्षते, अग्निरिव उष्णत्वे"-प्रमेयक० पृ० १४६ प्र० पं० ६। ३०-मपेक्षितो-आ०। ३१-भावो भवेत् भां०।

तथाहि-क्षणमपि स्वरसत एव स्थास्नोः कल्पान्तरस्थायित्वमपि किं न भवेत् अन्यथा अग्निरिव शैत्ये न क्षणमपि स्वयमस्थास्नोः स्थायिता युक्तिमती । विनाशहेतुपक्षनिक्षिप्तश्च विकल्पो भावोत्पत्तिहेतावपि समानः । तस्या(तथा)हि-उत्पत्तिहेतुः[1] स्वभावत एव भावमुत्पित्सुमुत्पादयति, आहोस्विदनुत्पित्सुम्? प्रथमपक्षे विफलता तद्धेतोः । द्वितीयपक्षेऽप्यनुत्पित्सोरुत्पादने वियत्कुसुमादेरप्युत्पादनप्रसङ्गः । स्वहेतुसन्निधेरेवोत्पित्सोरुत्पादनाभ्युपगमे विनाशहेतुसन्निधानाद् विनाशहेतु- ५
र्विनश्वरं विनाशयतीत्यभ्युपगमनीयम् न्यायस्य समानत्वात् स्वयमेवोत्पित्सोस्तत्कृतोपकाराभावात् सम्बन्धाभावतो व्यपदेशाभावतोऽपि(भावोऽपि) समानः एवं च प्रयोजनाभावाद् भावहेतुर्भावं नोत्पादयतीति नाप्यभावं भावयतीति कथं नाकिञ्चित्करत्वम्? अभावं भावीकरोति इति चेत्; नन्वेवं हेतुर्विनाशहेतुर्भावमभावीकरोतीति तुल्यम् । यदपि 'स्वकारणादुत्पत्तिरात्मलाभो धर्मो यस्याः सा (यस्य स) स्वोत्पत्तिधर्मा तं यदि स्वहेतुर्नोत्पादयति तदा विरुद्धमभिधानं स्यात्' इत्याद्युक्तं तद् विना- १०
शहेतावपि तुल्यम् । तथाहि-विनाशकारणाद्विनाश आत्मप्रच्युतिलक्षणो धर्मो यस्य तं यदि विनाशहेतुर्न विनाशयति तदा विरुद्धाभिधानमित्याद्यपि कथ(थं) न समानम् । यदपि 'उत्पत्तेः प्राग् उत्पत्तिधर्मिणोऽसत्त्वात् किमुत्पत्तिधर्माणमुत्पत्तिहेतुरुत्पादयति, आहोस्विद् अनुत्पत्तिधर्माणम् इत्यादिविकल्पानुपपत्तिः' तदपि विनाशहेतौ समानम्-प्रागभाववत् प्रध्वंसाभावस्यापि भवन्मतेनाभावात् कथं तत्रापि विकल्पोत्पत्तिः? 'येषां च न घटनिवृत्तिः कपालस्वरूपादन्या तेषां कथं न १५
कपालहेतुर्घटध्वंसहेतुर्भवेत्? अथ कथं कपाललक्षणस्य वस्त्वन्तरस्य प्रादुर्भावे 'घटो विनष्टः' इति व्यपदिश्यते? नैष दोषः, मुद्गरादेर्घटस्यैव कपालभावाद् 'घटो विनष्टः' कथं स एवान्यथा भवतीति चेत्, नन्वसत् कथं भवतीति समानम् । अथ प्राग् घटादिकमसत् सद् भवत्युत्पत्तिसमय इत्यविरुद्धम्; नन्वन्यदा घटः सन् कपालीभवति इत्यविरुद्धमेव । कथं तस्यैव तदन्यत्वमिति चेत्, यथा संवेदनस्यैकस्य ग्राह्यग्राहकाद्याकारभेदः यथा स्वरूपेणानेकमेवं(कं) भवन्न विरुध्यते इत्यस- २०
कृदावेदितम् तेन निवृत्तिः कारणस्य कार्यात्मना परिणतिरेवाभिधीयते तथा च घटप्रच्युतेः कपालस्वरूपत्वे कुतः क्षणिकत्वम्? अथ भावान्तरं घट-कपालव्यतिरिक्तं घटप्रच्युतिः, नन्वेवमपि तेन सह घटस्य युगपदवस्थानाद्यविरोधात् कथं तत् तत्प्रच्युतिः? अथ कपालमन्यभावोपलक्षणम् तेन घटक्षणस्यान्यस्य प्रादुर्भावः पूर्वस्य च प्रध्वंसः सदृशापरापरानुभवश्च दलितपुनरुदितकररुहनिकरादिष्विव 'स एवायम्' इत्येको(का)ऽध्यवसायोदयः । नन्वत्रापि किं स एव पदार्थात्मा प्रतिभाति, २५
आहोस्वित् तत्प्रतिसमयमन्यान्यसंवेदनेऽपि सादृश्यादेकत्वभ्रान्तिरिति नात्र निश्चयो बाधकानुत्पत्तौ दर्शनस्य वितथत्वात् सिद्धः??] न च क्षणक्षयव्यवस्थापकमनुमानमेकत्वाध्यवसायि दर्शनस्य बाधकम् अनुमितेरध्यक्षबाधकत्वेन प्रवृत्तेस्तस्यास्तत्पूर्वकत्वात् यतोऽध्यक्षावगतं प्रतिबन्धमाश्रित्य पक्षधर्मतादर्शनबलादनुमितिरुदयति अनुमानादविनाभावावगमेऽनवस्थाप्रसक्तेः । न च स्थायितादर्शनमनुमानेन बाधितत्वान्नाध्यक्षतामनुभवतीति वाच्यम्, क्षणक्षयानुमानमध्यक्षेण बाधनादनुमानं(नं न) ३०
भवतीत्यपि पर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात् । अतः स्थायितादर्शनं क्षणक्षयग्राहिणा परेणाध्यक्षेण बाधकेनाध्य(नानध्य)क्षीकर्त्तव्यम् क्षणक्षयनिर्भासविरहेण तस्य (?) अन्यथा तेन सह विरोधासिद्धेः । ततः प्रतिक्षणभेदावभास्येवाध्यक्षं नित्यताध्यवसायिदर्शनस्य बाधकं नान्यत् । न च प्रतिक्षणविशरारुतावभास्यध्यक्षमनुभूयते, स्थिरस्थूरार्थावभासिनोऽध्यक्षप्रभवस्य संवेदनस्य सर्वदोपलक्षणत्वात् । अथ प्रत्यक्षेऽपि बाधकेऽभ्युपगम्यमाने द्वयोरपि दर्शनयोः परस्परप्रतिहतिद्वारेणानध्यक्षता कस्मान्न भवति ३५
येनैकमेवानध्यक्षीभवति, नैतदेवम्; अतुल्यत्वात् दुर्बलं हि बलवता प्रतिहन्यते रजतदर्शनमिव

---

१ "तथाहि—उत्पादहेतुः स्वभावतः" इत्यादि-प्रमेयक० पृ० १४६ प्र० पं० ११ । २-प्य भावयती-आ० । ३-स्या सा हा० वि० । ४-था वि-आ० । ५ धर्मोप्यस्य हा० । ६ येषां न च घ-आ० हा० वि० । ७-पादेन्या भां० आ० वि० विना । ८-स्य ग्राहकाद्या-हा० ।-स्य र्थाकाद्या-आ० । ९-स्हेतुमे-वि० । १०-न न निवृत्तिः भां० मां० ।-न विवृत्तिः हा० । वि० सं० । ११ "युगपदवस्थानाविरोधात् कथं तत् तत्प्रध्वंसः"-प्रमेयक० पृ० १४६ प्र० पं० ५ । १२-क्षणस्यान्यप्रा-आ० ।-क्षणान्यस्य प्रा-भां० मां० । १३-परानु-आ० । १४ नत्तत्रापि हा० । नतत्रापि वि० । न त्रापि आ० । १५-कत्वं भ्रा-हा० । १६-नाधप्र-आ० । १७-क्षयि प्रा-भां० मां० । १८ तत प्र-भां० । तत्र प्र-आ० हा० वि० । १९-भासैवा-हा० । २०-णाध्यक्ष-आ० हा० वि० ।

शुक्तिकादर्शनेन बलवता रजतदर्शनमेयार्थ(मयथार्थ)क्रियाकारि रूपावभासि दुर्बलमनध्यक्षीक्रियते। न च लूनपुनर्जातकेशादिष्वपि प्रत्यभिज्ञाज्ञानोदया(यात्) स्थायिताप्रतिपत्तिः सर्वत्रालीका, न; दृष्टान्तमात्रादर्थसिद्धेरभावात् अन्यथा हेतूपन्यासस्य वैफल्यापत्तेः। हेतुप्रयोगितयैव निदर्शनस्य परैः साफल्याभ्युपगमात्। आह च—"स एवाविनाभावो दृष्टान्ताभ्यां दर्श्यते" [ ] इति।
५यद्वा लूनपुनर्जातशिरसिजादिष्वपि प्रत्यभिज्ञानात् एकता भवतु अप्रध्वस्तः केशादिः कथं प्रत्यभिज्ञायते? नन्वेवं ध्वस्तेऽपि शिरोरुहनिकरादौ समानम्। अथ ध्वस्ते तत्र पुनर्दर्शनात् 'ते एवामी केशाः' इत्येकताप्रतीत्यनुभवात् प्रत्यभिज्ञानम्; ननु ध्वस्तेष्वपि तेषु पुनर्दर्शनात् तुल्यप्रमाणादियोगेष्वेकताप्रतिपत्तिदर्शनात् कथं न प्रत्यभिज्ञानम्? तस्माद् ध्वस्तोदितेष्वपि शिरसिजादिषु प्रत्यभिज्ञानादेकत्वं कस्यचित् रूपस्याभ्युपगन्तव्यम्। अथ दलिताध्यवसायी
१०प्रत्यय(यः) स्थायिताध्यवसायिता(यिनीं) प्रत्यभिज्ञां बाधत इति न तेष्वेकता, न; भिन्नकालेन दलितकेशाध्यवसायिप्रत्ययेन प्रत्यभिज्ञाया बाधायोगात् अथवा लूनपुनर्जातकेश-नखादिभेदाभेदाध्यवसायादुभयतैवास्तु स्तम्भादिषु तु विशददर्शनावभासिषु क्षणक्षयविकला स्थायिता प्रतिभातीति तेषां स्थिररूपतैवास्तु।

अथ कथं प्रत्यभिज्ञा प्रामाण्यमनुभवति? कारणदोषाभावात् बाधारहितापूर्वार्थग्राहित्वाच्च।
१५तदुक्तम्—

"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्"॥ [ ] इति।

प्रथमदर्शनानधिगतां स्थायितां प्रत्यभिज्ञानमध्यवस्यति विश्वासादिव्यवहारप्रवर्त्तिका चेति कथं न प्रमाणम्? ननु चाद्यदर्शनमेव स्थायिताध्यवसायात् उत्तरकालभाविनो नित्यताग्राहितया
२०व्यवस्थाप्यैत इति आद्यदर्शनगृहीतां नित्यतामध्यवस्यत् प्रत्यभिज्ञाज्ञानमपूर्वार्थाधिगन्तृत्वाभावान्न प्रमाणम् यत एवमाद्यदर्शनावसेयमेव नित्यत्वमिति कथं क्षणक्षयिता भावानाम्? न चाध्यक्षानवतारे प्रतिक्षणध्वंसितायामनुमानमपि प्रवृत्तिमासादयतीत्युक्तम्। किञ्च, स्वभावलिङ्गप्रभवमनुमानं क्षणक्षयितां भावानामवगमयति इति पराभ्युपगमः। न चाध्यक्षगृहीतं प्रतिक्षणध्वंसित्वम् येन स्वभावहेतुस्तत्र व्यवहृतिमुपरचयति यथा शिंशपा विशददर्शनावभासिनि तरौ वृक्षत्व-
२५व्यवहृतिम् प्रत्यक्षप्रतीत एवार्थे स्वभावहेतोर्व्यवहृतिप्रदर्शनफलत्वात्। न च विद्युदादौ सत्ता-क्षणिकत्वयोरध्यक्षत एव प्रतिबन्धग्रहणादन्यत्रापि शब्दादौ सत्त्वोपलभ्यमाना क्षणिकत्वमवगमयति, जातरूपे सत्तातः शुक्लतानुमितिप्रसक्तेः। अथ हेमाकारनिर्भासिदर्शनं शुक्लताप्रसाधकमनुमानमुपहन्तीति न तत्र शुक्लतासिद्धिः; नन्वेवं स्तम्भादौ क्षणिकतामुल्लिखन्तीमनुमितिं 'स एवायम्' इत्यभेदप्रतिभासोऽपहन्तीति कुतः क्षणिकतासिद्धिः? अथ प्रत्यभिज्ञा भिन्नेष्वप्यभेद-
३०मुल्लिखन्ती दलितपुनरुदितकररुहादिषूपलभ्यत इति नासावेकत्वे प्रमाणम् तर्हि कामलोपहतदृशां धवलिमानमाबिभ्राणेषु पदार्थेषु कनकाकारनिर्भासिदर्शनमुदेतीति तत् पीतेऽपि न प्रमाणतामासादयेत् तथा च शुक्लतानुमानस्यापि कुतो बाधाप्रसक्तिः?

अथ शुक्लताप्रसाधकस्यानुमानस्यान्यथासिद्धत्वात् युक्तं प्रत्यक्षबाध्यत्वम् तस्यानन्यथासिद्धत्वात्। न ह्यनुपहतेन्द्रियस्य पीतावभासि दर्शनं पीतार्थव्यतिरेकेण सम्भवति कनकादौ तु शुक्लता-
३५प्रसाधकमनुमानमन्यथासिद्धत्वात् अध्यक्षविरोधे न तद्विपरीतार्थसाधकं युक्तम्। स्तम्भादौ तु नित्यतावेदकस्याध्यक्षस्य कुतश्चिद् भ्रान्तिकारणादन्यथासिद्धत्वेनानन्यथासिद्धानुमानबाधकत्वमयु-

---

१-मथार्थ-मां०। २-ज्ञानोद-आ०। ३-का, त; ह-भां० मां०। ४-त्यभिज्ञानं बा-आ० हा० वि०। ५ कता, म, भि-आ० वि०। ६-त्यभिज्ञया मां०। ७-रा।दिभेदाध्य-आ० हा० वि० विना। ८ "क्षणक्षयवादी स्थिरतावेदकप्रत्यभिज्ञावादिनं प्रत्याह"-बृ० भां० टि०। ९ "आचार्य."-बृ० टि०। १०-श्च उक्त-बा० .बा०। ११-श्वादिव्य-बा० बा०। १२ न बादिद-बा० बा०। १३-प्य इ-बा० बा०। १४-त्तम् स्व-बा० बा०। १५ "स्वभावहेतू रचयतीति योग."-बृ० मां० टि०। १६ प्रतिबिम्बग्र-बा० बा०। १७-पहरन्तीति बा० बा०। १८-त्यभेदः प्र-बा० बा०। १९-बाधत्वम् बा० बा०। २०-क्षविरोधे न बृ० बा० बा० विना।

कम्। तथाहि-सति प्रतिबन्धग्रहणेऽनुमितिप्रवृत्तिः प्रतिबन्धग्रहणं च साध्यव्यतिरेकेण साधनस्याभवनज्ञानम् तदेव चाऽनन्यथासिद्धत्वं तस्योच्यते अत एवानुमानस्य प्रामाण्यमपाकुर्वता तत्प्रतिबन्धप्रसाधकप्रमाणस्याप्रामाण्यमुपदर्शनीयम् यतः प्रतिबन्धासिद्धितोऽनुमानं प्रामाण्यादपाक्रियेत। तथा चोक्तं न्यायविदा-"लक्षणयुक्ते बाधासम्भवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यात्" [　　　　] इति। नित्यताप्रसाधकस्य त्वध्यक्षस्य आस्तामनुमानेन तुल्यकक्षत्वम् तत्प्रतिबन्धप्रसाधकेनाप्य-५ तुल्यकक्षतैव। तथाहि-क्षणक्षयविपरीतनित्यत्वलक्षणार्थमन्तरेणानुपजायमानमध्यक्षं तथाभूतमर्थं व्यवस्थापयत् क्षणिकत्वानुमानबाधकमुच्यते। न चाध्यक्षावसेयं नित्यत्वं वस्तुनो व्यवस्थापयितुं शक्यम् यतः पूर्वापरकालताविष्टमध्यक्षावसेयं तच्च न वस्तुधर्मः वर्त्तमानकालं हि वस्तु पूर्वापरकालभावित्वं च वर्त्तमानवस्तुविरुद्धत्वात् न तद्धर्मत्वेनावस्थापयितुं युक्तमिति प्रत्यभिज्ञाप्रमेयस्य यथाप्रतीत्यसम्भवात् बाधकप्रमाणेनाप्यतुल्यकक्षत्वात् तद्ग्राहिणोऽध्यक्षस्य कुतः क्षणक्षयानुमानबाधकता? १० विपर्ययस्य प्रमाणेनात्र विषये निश्चितत्वात्। [?? न च मूलबाधकत्वेन अनुमानस्यानुभव आशङ्कनीयः प्रत्यक्षाभासस्य कस्यचिद् बाधनात् उत्पलपत्रशतव्यतिभेदाद्यध्यक्षबाधकत्वेनानुमानस्य प्रवृत्तावपि यतो नोच्छेदः एवमत्रापि इति न कश्चिद्दोषः अत एव सर्वत्र प्रत्यक्षं विरोधि बाधकमनुमानं तु तद्विरोधाद् बाध्यमेवेति नियमाभावात् निराकृतम् ??] इतरेतराश्रयत्वमपि नात्राशङ्कनीयम् प्रत्यक्षाभासत्वे अनुमानं बाधकम् अनुमानप्रामाण्यात् प्रत्यक्षस्याभासतेति यस्मान्नानुमानप्रामाण्य-१५ मध्यक्षाभासनिबन्धनम् किन्तु प्रतिबन्धप्रसाधकप्रमाणनिमित्तं तत्प्रामाण्यमिति कुत इतरेतराश्रयत्वम्? असदेतत्, यतो यद्यपि परिच्छिद्यमानस्य वस्तुनः पूर्वकालतापि निश्चीयते तथापि नावस्तुधर्मग्राहकमध्यक्षमिति कथं तद्विषयस्य यथाप्रतीत्यसम्भवः? तथाहि-तस्य पूर्वकालसम्बन्धिता स्वरूपेण गृह्यते नेदानीन्तनसम्बन्धितानुप्रवेशेन तेनेदानीं यद्यपि कुतश्चिन्निमित्तात् तस्य पूर्वकालादित्वमवसीयते तथापि तद्ग्राहकमध्यक्षं कथं न वस्तुग्राहकमिति कुतः तस्याप्रामाण्यम्? २० यदि ह्यविद्यमानं पूर्वकालादित्वम् विद्यमानं वा वर्त्तमानारोपेणाध्यक्षमध्यवस्येत् तदा भवेदस्यायथार्थग्राहित्वाद् अप्रामाण्यम् एतच्च नास्तीति कुतोऽस्याप्रामाण्यप्रसक्तिः?

न च सन्निहितविषयबलोत्पत्त्याऽविचारकत्वादध्यक्षेण पूर्वकालसम्बन्धित्वं परामर्ष्टुमशक्यम् यतो यद्यप्यतीतकालत्वमसन्निहितं तथापि सन्निहितविषयबलादुपजायमानमध्यक्षं वर्त्तमानवस्तुनस्तन्निश्चिनोत्येव यथा अन्त्यसङ्ख्येयग्रहणकाले 'शतम्' इति प्रतीतिः क्रमगृहीतानपि सङ्ख्येयान्। २५ न चैषा अनिन्द्रियजा इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानात्। नाप्यनर्थजा सन्निहितान्त्यसङ्ख्येयजन्यत्वात्। न चैकावभासिनी एकप्रतिपत्तिसमये 'शतम्' इत्यप्रतिपत्तेः अन्यथा प्रथमव्यक्तिप्रतिभासमये एवैषा भवेत्। न चाप्रमाणमेषा बाधकाभावात्। घटाद्यध्यक्षेण तुल्यत्वात् नास्या विकल्पमात्रता। तस्मात् यथा अन्त्यसङ्ख्येयप्रतिपत्तिसमये प्रागवगतं (?) तदोऽपरिच्छिद्यमानार्थोपयोगः तद्विशिष्टप्रतिपत्तौ तथा प्रत्यभिज्ञावसेयवस्तुपरिच्छेदसमये पूर्वकालभावितायाः अपि। न च ३० विशिष्टप्रतिपत्तिकाले सङ्ख्येयानां विद्यमानता पूर्वकालतायास्तु तद्विपरीत्यमिति न तत्रोपयोगः यतोऽगृह्यमाणानां तत्कालविद्यमानता नोपयोगिनी यत्र चान्त्यसङ्ख्येयग्रहणसमये पूर्वावगतसङ्ख्येयानामभावस्तत्र यथा तेषामुपयोगः तथा पूर्वकालादितायाः अपि तदविशिष्टाया उपयोगो भविष्यतीत्यनवद्यम्।

१-हणं सा-वा० बा०। २-नप्रा-आ०। ३-न्धसा-वा० बा०। ४-कप्रामाण्यस्याप्रा-वा० बा०। ५-क्रियेत। भां०।-क्रियते। वा०बा० मां०। ६ "लक्षणयुक्ते बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यात् इति न्यायात्"-प्रमेयक० पृ० १७५ प्र० पं० ४। ७ नित्यं वस्तु-ल०। ८ "तत्र हि युगपद्भेदग्राहि प्रत्यक्षं विपरीतग्राहिणाऽनुमानेन बाध्यते"-वृ० भां०मां० टि०। ९-मन्यत्रापि वृ० ल० वा० बा० भां० मां० विना। १० "परगदितम्"-मां० टि०। "परविदितम्"-वृ० टि०। ११-धादया-आ०। १२-नारोपणा-आ० हा० वि०। १३-लम-ल०। १४-मानं ध-आ०। १५ "अतीतकालत्वम्"-वृ० टि०। १६-यमप्र-हा० वि०। १७-तमपि प्र-ल०। १८ "निश्चिनोतीति योगः"-वृ० भा० मां० टि०। १९-भासम-आ०। २० "'शतम्' इति प्रतिपत्ति."-मां० टि०। "यथा एषा एकमेव गृह्णीयात्"-वृ० टि०। २१-गतं त-आ० हा० वि०। २२-दा अप-वा० बा०।-दाप-आ० हा० वि०। २३ "'शतम्' इत्येवंरूपायाम्"-वृ० भां० मां० टि०। २४ यतो गृ-वृ० ल० विना। २५-पि विशि-आ० हा० वि०।

अथापि स्यात् वर्त्तमानतापरिच्छेदसमये तदभावनियतभावत्वात् न पूर्वताऽवगतिर्भावानाम् नीलपरिच्छेदे पीतादीनामिव । तथाहि–नीलप्रच्युत्यविनाभूतत्वात् पीतादीनां नीलपरिच्छेदकं प्रमाणं तत्प्रच्युतेरिव तदविनाभूतपीतादिव्यवच्छेदं कुर्वदेव तत् परिच्छिनत्ति तद्वद् इदानीन्तनपदार्थपरिच्छेदाय प्रमाणं प्रवृत्तं तत्प्रच्युत्यविनाभूतानां व्यवच्छेदकम् वर्त्तमानश्च समयस्तत्प्रच्यु-
५त्या विरुद्ध इति तस्यासावप्यतीतानागतौ तेन विरुद्धाविति तदवच्छिन्नस्यापि भावस्य वर्त्तमानावच्छिन्नेन सह न समावेशः तयोः परस्परपरिहारत्वेन विरोधात् तेन वर्त्तमानसम्बन्धिताग्राहिणा प्रमाणेन तत्प्रच्युत्यविनाभूतव्यवच्छेदस्य व्यवच्छेदमकुर्वाणेन वर्त्तमानसम्बन्धित्वमेव न परिच्छिन्नं भवेत् ततः पूर्वापरसमयसम्बन्धिनोर्नानात्वे यन्नानाभूतानामेकत्वग्राहि प्रमाणं तस्य अतस्मिंस्तद्ग्रहणरूपत्वात् अप्रामाण्यम् अत एवैकत्वाध्यवसायस्य सदृशापरापरेत्यादिभ्रमनिमित्तादुत्पादः परि-
१०गीयते, असदेतत्; यतो नैकत्वेन निश्चीयमानस्य परस्परविरुद्धकालादिव्यवच्छेदात् नानात्वम् छत्र-कुण्डलाद्यवच्छिन्नस्य देवदत्तादेरिव । न च देवदत्तादेः सद्भाव्यनेकविशेषणावच्छिन्नत्वादेकत्वम् तदभावनियतभावलक्षणस्य विरोधस्य सह सम्भविनामपि भावात् ततो विरुद्धावच्छिन्नस्य नानात्वे देवदत्तस्यापि नानात्वप्रसक्तिः । न च देवदत्तादेरेकस्य कस्यचिदभावात् तन्नानात्वप्रसक्तिः न सौगतपक्षे दोषायेति वाच्यम् एकप्रतिभासबलात् देवदत्तादेरेकत्वसिद्धेः अन्यथा नीलसंवेदन-
१५स्यापि स्थूलाकारावभासिनो विरुद्धदिक्सम्बन्धात् प्रतिपरमाणुभेदप्रसक्तेः तदवयवानामपि षड्योगात् भेदापत्तितोऽनवस्थाप्रसक्तेः प्रतिभासविरतिलक्षणाऽप्रामाणिका शून्यता भवेत् इति सर्वव्यवहारविलोपः । न च छत्र-कुण्डलादेरिन्द्रियावसेयवस्तुव्यवच्छेदकत्वेन इन्द्रियजप्रतिपत्तिविषयता सन्निहितत्वेन युक्ता पूर्वापरादित्वस्य तु वर्त्तमानकालावच्छिन्ने वस्तुन्यसन्निधानात् कथं तद्ग्राहिज्ञानग्राह्यता युक्तेति वक्तव्यम् यतो यथाऽन्त्यसङ्ख्येयकाले पूर्वसङ्ख्येयानामसन्निधानेऽपि इन्द्रि-
२०यजप्रतिपत्तिविषयता तथा पूर्वापरकालभाविताया अपीत्युक्तं प्राक् । अथवा 'तदेवेदम्' इति ज्ञानस्याऽनिन्द्रियजत्वेऽप्यलिङ्गजस्य प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यं बाधारहितत्वेन अनेन प्रतीयमानस्य वस्तुनः पूर्वापरकालभाविता पूर्वापरदर्शनकर्मतौ चावसीयत इति चाभ्युपगन्तव्यम् अन्यथाऽनक्षालिङ्गप्रत्ययस्य निश्चयात्मनो बाधारहितस्यैवंजातीयस्य कस्यचित् प्रामाण्यानभ्युपगमे अक्षजस्य सन्निहितार्थमात्रग्राहित्वेन लिङ्गजस्य चानवस्थाप्रसक्तितः सकलपदार्थाक्षेपेण प्रतिबन्धग्राहकत्वायोगात् अनुमान-
२५प्रवृत्तेरभाव इति कुतः क्षणिकत्वादिधर्म्मसिद्धिः ? यथोक्तविकल्पस्य च प्रामाण्ये कथं न क्षणक्षयानुमानबाधा ?

भवतु वा प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्य तदाभासससमानत्वात् क्षणक्षयानुमानाबाधकत्वं तथापि स्मृत्याद्यव्यवहिताक्षप्रभववर्त्तमानतासम्बद्धस्वविषयपरिच्छेदकावभासबाधितत्वात् न क्षणक्षयानुमानस्य स्वविषयव्यवस्थापकत्वम् यतो न भवन्मतेन नीलादिदर्शनसमानकालभावी जनकत्वेन व्यवस्थितः
३०वर्त्तमानज्ञानसत्तासमयात् जनकत्वेन तस्य प्राक्कालभावित्वाभ्युपगमात् जनकश्च ज्ञानविषयः परमतेन तस्य वर्त्तमानसम्बन्धित्वावगमे क्षणद्वयावस्थितत्वेन ग्रहणात् कथं नाक्षणिकत्वग्रहणम् ? तथाहि एतद्ग्राहिज्ञानमुपजायमानमेवं स्वविषयमवभासयति 'नायं सम्प्रत्येव नीलाद्यर्थः अपि तु प्रागासीत्' इति। यतश्चक्षुरादिव्यापारोद्भूतप्रतिपत्तिभेदः प्रादुर्भूतप्रादुर्भवत् (?) घटविषयत्वेन सुप्रसिद्ध एव उत्पद्य-

१ "वर्तमानता"–बृ० मां० टि० । २ पूर्वभाव–आ० । ३ "यथा नीलप्रच्युतेर्व्यवच्छेदं कुर्वत् नील परिच्छिनत्ति तथा नीलप्रच्युत्यविनाभूतपीतादीनाम(मपि) व्यवच्छेद कुर्वदेव तत् परिच्छिनत्तीति"–बृ० टि० । ४–'भूतपीतादेर्व्यवच्छेदम्' इति सुचारु । ५–व तस्य तत् मां० । ६ "नीलम्"–बृ० मां० टि० । ७ "वर्तमानत्वप्रच्युत्या"–बृ० टि० । ८ "वर्तमानप्रच्युतिभ्यासौ"–बृ० टि० । ९ तदविच्छि–बृ० ल० वा० बा० विना । १०–स्य त–ल० । ११–वापरेत्या–बृ० । १२–त्तादि स–आ० हा० वि० । १३–यतं भा–वा० बा० । १४–द्ग्रणतापरादव–वा० बा० । १५–णाऽप्रमा–भां० मां० विना । १६ "विशेषत्वेन"–मा० टि० । "विशेषकत्वेन"–बृ० टि० । १७–रादेवास्य तु बृ० ।–रादि—–तु च–वा० बा० । १८–स्तुस–आ० हा० वि० । १९–थान्तस–भां० मां० । २०–ज्ञस्य वा० बा० । २१–रकर्मदर्शनकर्मता वा० बा० । २२–ता वा–वा० बा० । २३–स्य बा–बृ० । २४–भासमा–बृ० ल० मां० विना । २५–त्वात् तच आ० । २६–लादिज्ञा–वा० बा० । २७–या जन–वा० बा० । २८–हि अत–हा० वि० । २९–पारोद्भूतप्र–वा० बा० ।

मानविषयावगमस्वभावप्रतिपत्तेः तद्विपरीतार्थालम्बनाप्रतीतिः अपरैव लोकेनानुभूयते । न चैकसन्तानपूर्वसन्तानव्यावृत्तिनिबन्धनाऽपरसन्तानोत्पत्तिनिबन्धनोऽयं प्रतिपत्तिभेदः क्षणिकत्वसिद्धावेतद्वचनस्य घटमानत्वात् तत्र चाद्यापि विवादात् । न च जनकोऽर्थो वर्त्तमानकालतया नाक्षसंविदि प्रतिभाति किन्तु तस्यां तत्समानकालभाव्याकारस्तेनाधीयते तस्य तथावभासात् वर्त्तमानार्थावगम इत्युच्यते ज्ञानकाले बहिरवभासमानस्य नीलादेर्ज्ञानाकारतयाऽसिद्धेरन्यथाऽन्तरवभासमानस्य सुखादेरप्यर्थाकारताप्रसक्तिः इति ज्ञानसत्तैवोत्सीदेत् । निराकरिष्यते च साकारता ज्ञानस्य । न चार्थस्य ज्ञानजनकत्वे अवगते क्षणद्वयस्थायित्वमर्थस्य सिध्यति तदेव तु तस्यावगन्तुमशक्यम् । तथाहि-न तावत् तदवभासिना ज्ञानेन तस्य जनकताऽवगन्तुं शक्या तेन तत्स्वरूपस्यैव ग्रहणात्, जनकता तु तज्ज्ञानहेतुत्वम् न तत् तेन परिच्छेत्तुं शक्यम्, नापि तदवभासिना ज्ञानान्तरेण तस्यापि तत्तुल्यत्वात् अतत्प्रतिभासिनाप्यतद्ग्रहणस्वभावत्वात् न तज्जनकतापरिच्छेदः तत्स्वरूपप्रतिभासे हि 'इदमस्मादुत्पन्नम्' इत्यवगन्तुं शक्यं नान्यथेति वक्तव्यम् यतो देवदत्तावभासिनो ज्ञानस्य तद्देशदेवदत्तसन्निधेः प्रागभावमवगत्य तद्देशसन्निहितदेवदत्तावभासोदये तस्य तदन्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वमवगतं तज्जन्यतां तस्य व्यवस्थापयति अन्वय-व्यतिरेकावगमनिबन्धनत्वात् तज्जन्यतावगतेः अथवा कार्यव्यतिरेकाच्चक्षुरादेरिव विषयस्यापि तज्जनकत्वमवसीयते केवलं चक्षुरादेर्विशिष्टज्ञानव्यतिरेकेण जनकत्वावधारणेऽपि स्वरूपाप्रतिभासादतीन्द्रियत्वम् विषयस्य पुनः कार्यव्यतिरेकादवगतस्य जनकत्वेन तत्स्वरूपावभासात् तदध्यक्षता । नहीन्द्रियज्ञानविषयत्वव्यतिरेकेणान्यत् प्रत्यक्षलक्षणमिति विषयस्य तज्जनकत्वे स्थिते वर्त्तमानताग्रहण एव तस्याक्षणिकत्वग्रह इति तेन तद्विरुद्धानुमानबाधा । अथ वर्त्तमानार्थावभासिनाऽध्यक्षेण न प्राक्तनक्षणभाविनोऽर्थस्य जनकत्वनिश्चयः तस्यानुमानगम्यत्वात् तेन ज्ञानोदयात् प्रागर्थप्रतिपत्तिरनुमानफलम् जनकत्वात् ज्ञानसत्तातः प्राग्भावो विषयस्यान्यकारणस्येव इति कथमनुमानबाधा वर्त्तमानावभासिनाऽध्यक्षेणेत्युच्यते, असदेतत्; यतो न जनकत्वमनुमानगम्यम् तस्याध्यक्षाविषयत्वे तत्प्रतिबद्धत्वेन लिङ्गस्यानिश्चयादनुमानगम्यताऽपि न भवेत् तत् कुतो ज्ञानार्थव्यतिरिक्तस्यापि वस्तुनो जनकत्वमनुमीयेत? तत् मानसाध्यक्षगम्यम् ऊहाख्यप्रमाणगम्यं वा अभ्युपगन्तव्यम् । यच्च 'जनकत्वात् कार्यसत्तातः पूर्वं कारणसत्तेत्यनुमानगम्यत्वं जनकस्य' इत्युक्तम्, तदपि परिहृतमेव; यतः एका भावावगमपूर्विका चक्रमूर्द्धव्यवस्थितघटप्रतिपत्तिः अपरा प्रदीपादिव्यापारप्रभवा तदनवगमपूर्विका यया स्वविषयपरिच्छेद एवं क्रियते-'न सम्प्रत्येवायं भावः अपि तु प्रागासीत्' इति अतीते च क्षणेऽक्षव्यापारः शतादिप्रतीत्या प्रदर्शितः । यदपि 'न गृह्यमाणस्य ज्ञानसमानसमयस्य जनकता जनकस्य च क्षणिकत्वेन वर्त्तमानतयाऽतीतस्य न प्रतिभासः इति समारोपिताकारग्राहि सर्वमेव ज्ञानम्' इत्युच्यते, तदप्यसारम्, नील-द्विचन्द्रज्ञानयोरविशेषप्रसक्तेः । न च बाह्यार्थवादिना तयोरविशेषोऽभ्युपगन्तव्यः प्रमाणाऽप्रमाणप्रविभागप्रलयप्रसक्तेः । न चानेन न्यायेन विज्ञाननय एवावतार्यत इति वक्तव्यम् तस्य निषेत्स्यमानत्वात् । न च ज्ञानाऽर्थयोरेकसामग्रीजन्ययोः सहभावित्वेन वर्त्तमानग्रहणं क्षणिकत्वेऽपि वैभाषिकमताश्रयणेनाभ्युपगन्तव्यम्, क्रियानियमस्य कर्मशक्तिनिमित्तत्वेन व्यवस्थापितस्याभावप्रसक्तेः ।

भवतु वाऽनुमानात् प्राक्तनक्षणे सत्ताप्रतीतिस्तथाप्यनन्यथासिद्धेनानेनान्यथासिद्धस्य क्षणक्षयानुमानस्य बाधनात् कुतस्तत्सिद्धिः? न च क्षणक्षयानुमानस्यान्यथासिद्धत्वासिद्धिर्बाधकप्रमाणबलात् सत्ता-क्षणिकत्वयोरविनाभावसिद्धेरिति वक्तव्यम्, यतस्तद्बाधकं प्रमाणं सत्तायाः क्षणिकावि-

---

१-न पूर्वं सन्तानव्या-वृ० ।-न ६ पूर्वसन्तान ६ व्या-बा० वा० । २-नाभिधीय-वृ० ल० बा० वा० विना । ३ इत्यच्युते वृ० । ४ "यदि हि ज्ञानेऽवभासमानत्वेन बहि सत्त्वेन ज्ञायते तदा सुखादेरप्यवभासमानत्वेन ज्ञाने बहिर्भावप्रसक्ति"-वृ० भा० मां० टि० । ५ "ज्ञानजनकत्वम्"-वृ० मां० टि० । ६ शक्य तेन तत् ल० । ७ "परेण"-वृ० मां० टि० । ८-सन्निधिः आ० । ९-दपीन्द्रिय-ल० । १०-ग्रह एव वृ० बा० वा० भा० मां० । ११ "क्षणक्षयग्राहि"-वृ० टि० । १२-म्यं ते त-आ० । १३-गम्यं वा-भा० मां० । १४ "चक्रमूर्धनि व्यवस्थितघट"-भा० मां० टि० । १५ "अध्यक्षेण"-मां० टि० ।

नाभावप्रतिपादकमध्यक्षम् अनुमानं वा भवेत्? न तावदध्यक्षरूपम् तत्र क्षणिकताप्रतिभासाभावात्। न चानवभासमानक्षणक्षयस्वरूपमध्यक्षं सत्तायास्तदविनाभावमावेदयितुमलम्, न च प्रत्यक्षवपुषि स्फुटमाभाति प्रतिक्षणविशरारुता भावानाम् किन्तु विपरीताध्यवसायोदयात् प्रतिहन्यत इति वक्तव्यम् विहितोत्तरत्वात् प्रागेव। किञ्च, यद्यध्यक्षं प्रतिक्षणमपायमवभासयति भावानां किमि-
५ति तदनुसारी निश्चयो नोदयमासादयति? सादृश्यदर्शनाद् भ्रान्तेर्निश्चयानुदय इति न च वक्तव्यम् सादृश्ये प्रमाणाभावात्। न चाप्रामाणिका सादृश्यपरिकल्पना ज्यायसी। किञ्च, यदि विपरीतनिश्चयोत्पादात् प्रतिक्षणापायप्रतिभासप्रतिहतिरभ्युपगम्यते; नन्वेवं पुरोवर्त्तिनि स्तम्भादौ विजातीयस्मरणसमये प्रतिभासमाने क्षणक्षयनिर्भासो भवेत् नित्योल्लेखाभावात्। किञ्च, यदि क्षणक्षयावभासि संवेदनं स्थायिताध्यवसायश्च परस्परासंसक्तरूपं प्रत्यक्षद्वयमुदयमासादयति तदा क्षणक्षयावभासस्य
१० न काचित् प्रतिहतिः। न च नित्याध्यवसायसन्निधानमेव तस्य प्रतिहतिः, क्षणक्षयावभासस्यापि नित्याध्यवसायप्रतिघातकत्वप्रसक्तेः सन्निधेरविशेषात् पूर्वोत्तरकालभावित्वस्याप्यकिञ्चित्करत्वात्। अपि च, विजातीयविकल्पोदयेऽपि विशददर्शनस्य प्रतिहतिप्रसक्तिरिति पीताद्यध्यवसायप्रसवे नीलादिकं न प्रतिपन्नं स्यात्। न च विजातीयत्वात् पीतविकल्पो नीलादिदर्शनस्य न प्रतिघातक इति वक्तव्यम् नित्यताध्यवसायस्यापि क्षणक्षयदर्शनं प्रति प्रतिघातकत्वाप्रसक्तेर्विजातीयत्वाविशेषात्
१५ आकारभेदादेव ह्यन्यत्रापि विजातीयत्वम् तच्च नित्यानित्ययोरपि तुल्यमेव। न च प्रथमोत्पन्नक्षणिकदर्शनसमानाधिकरणतया नित्योल्लेखस्योत्पत्तेः प्रतिघातकत्वं विरुद्धाकारावभासिनोः प्रत्यययोः सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः अन्यथाऽतिप्रसक्तेः। तन्न सामानाधिकरण्यात् तत्प्रतिहतिरित्यध्यक्षस्वरूपबाधकप्रमाणनिश्चयो न क्षणक्षय-सत्त्वयोरविनाभाव इति न सत्त्वातः क्षणक्षयसिद्धिः। न चानुमानरूपेण बाधकप्रमाणेन क्षणक्षयाविनाभूता सत्ताऽध्यवसीयते तदनुमानेऽप्यविनाभावस्यान्यानुमानबलात्
२० प्रसिद्ध्यभ्युपगमादनवस्थाप्रसक्तेः।

अपि च, किं तद्बाधकं प्रमाणमिति वक्तव्यम् अथार्थक्रियालक्षणं सत्त्वम् नित्ये क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् ततो व्यावर्त्तमानमनित्ये एवावतिष्ठते इति तेन व्याप्तं तत् सिध्यति इत्येतद् बाधकं प्रमाणम्, असदेतत्; सत्ता-नित्यत्वयोर्विरोधासिद्धेः विरोधो हि भवन् सहानवस्थानलक्षणः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणो वा तयोर्भवेत्? न तावत् स्थायिता-सत्त्वयोराद्यो विरोधः सम्भवी, स हि पदा-
२५ र्थस्य पूर्वमुपलम्भे पश्चात् पदार्थान्तरसद्भावादभावावगतौ निश्चीयते शीतोष्णवत्। न च नित्यतावभासि दर्शनमुदयमासादयति तदभ्युपगमे वा विशददर्शने नित्यतायाः प्रतिभासात् सा विद्यमानैवेति कथं क्षणक्षयिणः सर्वे भावाः स्युः? नापि द्वितीयो विरोधस्तयोः सम्भवति नित्यतापरिहारेण सत्तायाः सत्तापरिहारेण वा स्थायितायाः अनवस्थानात् क्षणिकतापरिहारेण ह्यक्षणिकता व्यवस्थिता अक्षणिकतापरिहारेण च क्षणिकतेत्यनयोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणताविरोधः। न चार्थक्रियालक्षणा
३० सत्ता क्षणक्षयितया व्याप्तेति नित्यताविरोधिनी सेति वक्तव्यम् इतरेतराश्रयप्रसक्तेः। तथाहि–अर्थक्रियालक्षणा सत्ता क्षणिकतया व्याप्ता नित्यताविरोधात् सिध्यति सोऽपि तस्याः क्षणिकतया व्याप्तेरिति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वम्। न चान्वयनिश्चयद्वारेण सत्त्व-क्षणक्षययोरविनाभावः सिध्यति प्रत्यक्षस्यान्वयग्राहित्वेनात्राप्रवृत्तेः। अनुमानादन्वयप्रतिपत्तावनवस्थाप्रसक्तेरिति प्रतिपादनात्।

---

१ "अध्यक्षेण"–वृ० टि०। "न चाप्रतिभासमानक्षणक्षयस्वरूपं प्रत्यक्षं विपक्षाद् व्यावर्त्य सत्त्वं क्षणिकत्वनियतमादर्शयितुं समर्थम्"–प्रमेयक० पृ० १४६ द्वि० पं० १४। २–भाति क्षण–वृ० बा० बा० भां० मां० विना। ३–परीत्याविचसा–बा० बा०। ४ न च–वृ०। ५–चाप्रमा–वृ० बा० बा०। ६–वात् यदि बा० बा०। ७–याभा–बा० बा०। ८ प्रति पत्तिघात–बा० बा०। प्रतिघात–मां० हा० वि०। ९–सक्तिर्वि–वृ० बा० बा० विना। १० तत्र सा–बा० बा० हा० वि०। ११–निश्चयो बा० बा० भां० मां० विना। १२–रस्थितल–क्षा० हा० वि० विना। "क्षणिकतापरिहारेण ह्यक्षणिकता व्यवस्थिता तत्परिहारेण च क्षणिकता इत्यनयोः परस्परपरिहा-... विरोध"–प्रमेयक० पृ० १४७ प्र० पं० ४। १३–क्षण सं–ल०। १४ प्र० पृ० पं० २०।

अथापि स्यात् अर्थक्रियास्वरूपं सत्त्वं नित्यतायामसम्भवि अन्यथाभूतं च तन्न सम्भवतीति
क्षणक्षयिणः सर्वेऽपि भावाः । तथाहि–सत्तासम्बन्धः तावत् सत्त्वं नोपपद्यते व्यक्तिव्यतिरेकेण
तस्या अनवभासनात् । न ह्यक्षान्वय–व्यतिरेकानुविधायिनि दर्शनोदये परिस्फुटप्रतिभासव्यक्तिस्व-
रूपव्यतिरेकेणाऽपरा वर्णसंस्थानविरहिणी बहिर्ग्राह्याकारतां बिभ्राणा सत्ता प्रतिभाति तदवभासिन्या
अक्षप्रभवसंविदोऽननुभवात् । न च सकलजनताविशदसंवेदनगोचरातिक्रान्ता सा समस्तीति ५
शक्यमभिधातुम् अभावव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेः । न च कल्पनाबुद्धिः 'सत् सत्' इति सत्तास्वरूपमु-
ल्लिखन्ती प्रतिभातीति तदवसेयत्वात् सत्ता सतीति वक्तव्यम् कल्पनाबुद्धावपि बहिः[1]परिस्फुटव्यक्ति[2]-
स्वरूपान्तर्नामोल्लेखाध्यवसायव्यतिरेकेण[3] सत्तास्वरूपस्याप्रकाशनात् । तन्न कल्पनाबुद्ध्यध्यवसेयापि[4]
सत्तेति कथं सा सतीति ? किञ्च, न तावत् सतः सत्तासम्बन्धात् सत्त्वम् सत्तासम्बन्धात् प्रागेव
पदार्थस्य[5] सत्त्वप्रसक्तेः प्राक् सत्ताभ्युपगमे च सत्तासम्बन्धवैयर्थ्यम् । नाप्यसतस्तत्सम्बन्धात् सत्त्वम् १०
शशशृङ्गादेरपि सत्त्वप्रसक्तेः । न च खरविषाणादेः स्वरूपविरहात् न सत्तासम्बन्धः इतरेतराश्रय-
प्रसक्तेः—शशशृङ्गादेः स्वरूपविरहात् सत्तासम्बन्धाभावसिद्धिः तत्सिद्धौ च स्वरूपविरहसिद्धि-
रितीतरेतराश्रयत्वम् । यदि[6] च शशशृङ्गादेः स्वरूपविरहान्न सत्तासम्बन्धस्तर्हि यत्र गोशृङ्गादौ स्वरू-
पसद्भावस्तत्र सत्तासम्बन्ध इति स्वरूपसत्त्वमायातम् तथा सत्ताऽपि यदि[7] न स्वरूपेण सती तदा
अपरसत्तासम्बन्धात् सा सती स्यात् साऽपि सत्ता अन्यसत्तासम्बन्धात् सत्यभ्युपेयेत्यनवस्थाप्र- १५
सक्तिः । अथ सा न सती न तर्हि तत्सम्बन्धो भावसत्त्वव्यवस्थापकः न हि गगनारविन्दसम्बन्धः
कस्यचित् सत्त्वव्यवस्थापकः । न च गगनारविन्दस्य सम्बन्धाभावात् न तद्योगः कस्यचित् सत्त्वं व्यव
स्थापयति सत्तायास्तु सम्बन्धसद्भावात् तद्योगात् पदार्थसत्त्वमिति वक्तव्यम् यतः सम्बन्धोऽपि
विद्यमानस्य भवेत् अविद्यमानस्य वा ? यदि विद्यमानस्य न किञ्चित् सम्बन्धकल्पनया तदन्त-
(तमन्त)रेणापि विद्यमानत्वात् । अथाविद्यमानस्य गगनारविन्दस्यापि स्यात् इति न सत्तासम्बन्धः २०
सत्त्वम् । नापि स्वरूपतः सत्त्वम् स्वप्नावस्थावर्गतेऽपि[8] पदार्थात्मनि स्वरूपसद्भावात् सत्त्वप्रसक्तेः ।
यदि हि परिस्फुटसंवेदनावभासनं स्वरूपमुच्यते तत् स्वप्नदशायामपि पदार्थात्मनो विद्यत इति
कथं न तत्सत्त्वप्रसक्तिः ? तत्पारिशेष्यात् अर्थक्रियायोगः सत्त्वम् स च क्रम–यौगपद्याभ्यां व्याप्तः
ते च न नित्ये सम्भवतः यतो न क्रमवती अर्थक्रिया नित्ये सम्भविनी तस्य स्वरूपमात्रेण कार्यकरण-
सामर्थ्ये तदैव सकलकार्योत्पत्तिप्रसक्तिः कालविलम्बायोगात् । नहि पदार्थस्वरूपनिबन्धनं कार्यं २५
तत्स्वरूपस्य प्रागपि सन्निधाने क्रमोत्पत्तिकं युक्तम् । न च नित्यस्याविचलितरूपस्य सहकारिसव्य-
पेक्षस्य स्वकार्यकरणात् सहकारिक्रमात् कार्यक्रमः, नित्यस्य सहकार्यपेक्षायोगात् । नहि स्थायिनो
निरतिशयं स्वरूपं बिभ्राणस्य सहकारिणा क्रमवता कश्चिद्व्यतिरिक्त उपकारः कर्तुं शक्यः । नापि
व्यतिरिक्तोपकारजननात् तस्य सहकारीणि किञ्चित्कराणि भवन्ति अतिप्रसङ्गात् । न चाकिञ्चि-
त्कराण्यपेक्ष्यन्त इति युगपत् सकलकार्योदयप्रसक्तिः । न च यौगपद्येनाप्यर्थक्रिया नित्यात् सम्भवति ३०
पूर्वोत्तरकालयोरपि तत्स्वभावाप्रच्युतेस्तावतः कार्यस्योदयप्रसक्तेरित्यादिक्षणिकतां[9] व्यवस्थापयद्भिः
सौगतैः प्रतिपादितम् न पुनरुच्यते ग्रन्थविस्तरभयात् । ततः क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रिया नित्याद्
व्यावर्तमाना क्षणिकतायामेवावतिष्ठत इति कथं न सत्ता क्षणिकताव्याप्ता ?

असदेतत्, यतो यद्यर्थक्रिया क्रमेणोत्पत्तिमती भिन्ना हेतोः किमायातम् येन तद्भेदाद्धेतोर्भेदो
भवेत् न ह्यन्यभेदादन्यद् भिन्नमतिप्रसङ्गात् । न च हेतोः प्रतिक्षणमभिन्नरूपत्वे एकस्वभावत्वादर्थ- ३५
क्रियापि युगपद् भवेत् यतो नायं नियमः एकस्वभावत्वे हेतोरर्थक्रियया युगपद् भवितव्यम् यदि
हि कारणसद्भावेऽर्थक्रिया युगपदुपलभ्येत तदा युगपदुदेतीति व्यवस्था भवेत् न च कारणाभेदे-
ऽपि युगपदुदयमासादयन्ती सा ततो लक्ष्यत इत्यनुभवबाधितमर्थक्रियायौगपद्यम् । न च प्रतिक्षण-
विशरारुताऽविनाभूतः क्रमवदर्थक्रियोत्पादः क्वचिदुपलब्धो येन तदुदयक्रमात् तद्धेतोः प्रतिक्षणभेदः

---

१ बहिरप–बृ० बा० बा० । २–व्यक्तिः स–बा० बा० । ३–न्तर्नामोल्लेख्यध्य–आ० । ४–बुद्ध्यध–आ० हा० वि० । ५–दार्थ स–आ० । ६ यदि श–आ० । ७ यदि स्व–बृ० । ८–गते प–बा० बा० । ९–कतां प्रस्था–आ० हा० वि० ।

सिद्धिमासादयेत्। न चार्थक्रियापि प्रतिक्षणं भेदवती सिद्धा तत् कथं स्वयमसिद्धा हेतोः प्रतिक्षण-
भेदमवगमयति। न च सौगतानां कालाभावादर्थक्रियाक्रमो युक्तिसङ्गतः। यदि ह्यतीतानाग-
तवर्त्तमानकालभेदसङ्गतिमासादयेयुः कार्याणि तदा क्रमवन्ति भवेयुः। न च कार्यपरम्पराव्य-
तिरिक्तः कालः सौगतैरभ्युपगत इति भिन्नफलमात्रमेव। न च फलभेदमात्राद्धेतुभेदव्यवस्था कर्त्तुं
५ शक्या एकस्यापि प्रदीपादेरेकदाऽनेककार्यकरणात्।

अथ वैशेषिकादिपरिकल्पितः पदार्थव्यतिरिक्तः कालोऽभ्युपगम्यते तथापि तस्यैकत्वात् न
तद्भेदनिमित्तः कार्यभेदो युक्तिसङ्गतः। न चैककालानुषङ्गात् कार्याणि क्रमवन्ति भवन्ति यौगप-
द्याभावप्रसक्तेः। न च कालस्यैकत्वेऽपि क्रमवद्वर्षातपादिसम्बन्धात् क्रमः इतरेतराश्रयप्रसक्तेः।
तथाहि–कालक्रमाद् वर्षादेः क्रमः तत्क्रमाच्च कालक्रम इति कथं नेतरेतराश्रयत्वम्? न च काल-
१० क्रमहेतुरपरः कालोऽभ्युपगमविषयः अनवस्थाप्रसक्तेः कालक्रमनिमित्तापरापरकालाभ्युपगमानि-
ष्ठितेः। न च कालः स्वरूपादेव क्रमवान् कार्याणामपि स्वरूपत एव क्रमवत्त्वप्रसक्तेः एवं च काल-
परिकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तिः। तन्न कालाभ्युपगमेऽपि कार्यक्रमो युक्त्या सङ्गच्छत इति कथं कार्यक्रमो
हेतुभेदमवगमयति? न च कार्यक्रमाभ्युपगमेऽपि हेतुरनित्यतामासादयतीत्युक्तम्। अथ क्रमेण
कार्योदये अनेककर्तृत्वसङ्गतेरनित्यता, ननु कार्यक्रमदर्शनात् यदि नाम कारणस्य क्रमः स्वभाव-
१५ भेदस्तु कथं सिध्यति? न च क्रमेण कार्यजनने जनकत्वाजनकत्वे भवत इति स्वभावभेदलक्षण-
मनित्यत्वं सिध्यति यतः क्रमोपेतकार्योपलम्भाद्धेतोर्जनकाजनकस्वभावं भेदं कल्पनाऽध्यवस्यति।
न च तत्प्रदर्शितस्वभावभेदाद् भावा भिद्यन्ते तथाऽभ्युपगमे वा कल्पना भावानामेकत्वमध्यवस्य-
न्त्युदयतीति नित्यता तेषां भवेत्। कल्पनाप्रदर्शितश्च भावानां जनकत्वाजनकत्वलक्षणः स्वभावभेदः।
तथाहि–उदितप्रयोजनापेक्षया कल्पना भावानां जनकत्वमध्यवस्यति अनुदितफलापेक्षया तु
२० तत्रैवाऽजनकत्वं सैवाध्यारोपयति, न च कल्पनाप्रदर्शितस्वभावभेदात् भावानां भेदो युक्तः अन्यथा
परोपजनितकार्यापेक्षयैकस्यैव क्षणस्याजनकत्वम् स्वोत्पाद्यकार्यापेक्षया तु जनकत्वं तदैव तस्यासौ
व्यवस्थापयति इति युगपदेकस्य क्षणस्य स्वरूपभेदप्रसक्तिः। अथात्राभेदप्रतिभासः, कल्पनाप्रदर्शितं
भेदं बाधते तर्हि क्रमेण कार्यजननेऽपि कल्पनाप्रदर्शितो जनकत्वाजनकत्वलक्षणः स्वभावभेदोऽभे-
दनिर्भासेन किं न बाध्यते? न च क्रमेण कार्योत्पत्तौ हेतुभेदः प्रतिक्षणमवभात्येव भ्रान्त्या तु
२५ न निश्चीयत इति वक्तव्यम् प्रतिक्षणं भेदसंवेदनस्याननुभवात् अननुभवे तु तत्कल्पने अतिप्रसक्ति-
रित्युक्तमिति नार्थक्रियाभेदात् कारणभेदः अन्यभेदस्यान्याभेदकत्वात्।

किञ्च, यदि नाम क्रम-यौगपद्याभ्यां नित्यात् अर्थक्रिया व्यावृत्ता तथापि न ततः क्षणक्षयसिद्धिः।
तथाहि–यथैषा अक्षणिकेभ्यो व्यावृत्तत्वात् क्षणिकत्वं साधयति तथा क्षणिकेभ्योऽपि व्यावृत्त-
त्वादक्षणिकतां साधयेत्। न च क्षणिकेभ्योऽस्या अव्यावृत्तिः। यतः क्षणिका अपि कार्यमुत्पादयन्तः
३० किं केवला एकमुत्पादयन्ति, उतानेकम्? तथा समुदिता अपि तदेकम्, अनेकं वा? न तावदेक
एकमुत्पादयत्यनभ्युपगमात् अदर्शनाच्च। तथाहि–एक एवाग्निः इन्धनविकार–धूम–भस्मादिकमनेकं
कार्यमुत्पादयन्नुपलभ्यत इति नैक एकमेव जनयतीति नियमः "न वै किञ्चिदेकं जनकम्"
[ ] इत्यभ्युपगमविरोधश्चैकस्यैकजनकत्वे। नाप्येकमनेकोत्पादकम् सामग्र्या एव
जनकत्वाभ्युपगमात् अनेकस्मात् कार्योत्पत्त्युपलब्धेश्च। नाप्यनेकमेकोत्पादकम् कार्यस्यानेक-
३५ स्मादुपजायमानस्य नानात्वापत्तेः। न हि विज्ञानवाद्यभ्युपगतकार्यव्यतिरेकेण बाह्यं वस्तु सामग्रीत
उपजायमानं विज्ञानं वा एकं भवति। सौत्रान्तिक–वैभाषिकमतेन सञ्चितेभ्यः परमाणुभ्यः सञ्चि-

---

१–त्वकमे–आ० हा० वि०विना। २–र्यकारणा–आ० हा० वि०। ३–भाव भेदं क–आ०। ४–क्षं-
ण स्व–आ०। ५ "कल्पना"–बृ० टि०। ६–दात् भेदानां भेदो हा० वि०। ७ "कल्पना"–बृ० टि०।
८–दर्शितजन–बृ०। ९–सक्तिरित्युक्तमिति अत्र बृ० प्रतौ 'रि' 'मि' इत्यनयोरुपरि यदेतद् अर्धचन्द्रसदृशं
चिह्नमस्ति तद् इकारदर्शकमस्ति। १० "न तु स्वोपादानमात्रभावि किञ्चित् कार्यं संभवति सामग्रीतः सर्वस्य सम्भवात्।
यथोक्तम्—"न किञ्चिदेकमेकस्मात् सामग्र्या सर्वसंभवः" "–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० १५५ पं० १२। ११ "विज्ञानवा-
दिमते विज्ञानमनेकस्मादुपजायमानं नैकम् सौत्रान्तिकमते बाह्यं वस्तु। एतदेव विवृण्वन्नाह"–बृ० मा० टि०।

तानां तेषामुत्पत्तेः सञ्चितपरमाणुव्यतिरेकेणापरस्य भिन्नस्याभिन्नस्य वा सञ्चयस्य वस्तुसतोऽभावात्, यस्य च संवृतिसत एकता घटादेः न तस्य जन्यता, विज्ञानमपि विषयाऽऽलोकमनस्कारादिसामग्रीप्रभवं नैकं युक्तम्। नापि तद् एकरूपमभ्युपगम्यते ग्राह्यग्राहकाकारद्वयरूपस्य तस्य संवेदनात्। न चैकस्य रूपद्वयं बोधाबोधरूपमुपपन्नम्। तथाहि-अहङ्कारास्पदः सुखादिरूपो ग्राहकाकारः अन्तस्तद्वैपरीत्येन च ग्राह्याकारोऽपर एव प्रतिभाति तथा च स्वसंवेदनसिद्धभेदत्वात् रूप-रसयो-५रिव तयोर्नैकत्वम्। अथायमनयोर्भेदावभासो भिन्नयोरिव न पुनर्भिन्नयोरेव। तदुक्तम्—"ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥" [ ] इति, नैतदेवम्; बाह्यार्थवादत्यागप्रसक्तेः सौत्रान्तिकैमतस्य वैभाषिकमतस्य चात्र विचारयितुं प्रक्रान्तत्वात् ज्ञानवादस्य च निषेत्स्यमानत्वात्। न च ग्राह्यग्राहकाकारयोः संवृतत्वं स्वकारणान्वयव्यतिरेकानुविधानात्। ग्राहकाकारो हि बोधरूपतया समनन्तरप्रत्ययान्वयव्यतिरेकानुविधायी विषयाकारोऽपि विषयस्यान्वय-व्यतिरेका-१०ननुविधत्ते एवं च रूप-रसादेरिव नानयोरेकता। न च निराकारमभिन्नस्वभावमेकसामग्रीजन्यं ज्ञानं सम्भवति पराभ्युपगमेन निराकारत्वेन तस्य विषयसंवेदनत्वानुपपत्तेः। तस्मान्नैकमनेकजन्यमिति स्थितम्।

नापि पूर्वसामग्रीत उत्तरा सामग्री प्रभवतीति बौद्धाभ्युपगमात् अनेकमनेकमुत्पादयतीति वक्तव्यम्, यतः कारणायत्तः कार्याणां स्वभावः अन्यथा निर्हेतुकत्वं तस्य स्यात् पूर्वसामग्री च१५ सर्वेषां सामग्र्यन्तर्भूतानां समग्राजनकत्वेन व्यवस्थितेति कथं कार्यविशेषस्य सामग्र्यन्तर्गतस्यैकस्वभावता? एवं च रूपस्य ज्ञानरूपतापत्तिर्ज्ञानजन्यत्वात् ज्ञानस्वरूपवत् ज्ञानस्यापि रूपस्वरूपतापत्तिः रूपजन्यत्वात् रूपस्वरूपवदित्यनेकत्वव्याघातः। न वा किञ्चिद् रूपम् प्रतिनियतस्वरूपाभावात्। अथावान्तरकारणसामग्रीविशेषसम्भवात् तज्जन्यस्य कारणभेदादेव स्वभावनानात्वमिति नायं दोषः। तथाहि-चक्षूरूपालोकमनस्कारादिषु विज्ञानादिकार्योत्पादकेषु मनस्कारो विज्ञानमुपादानत्वेन२० जनयति शेषकार्याणि सहकारित्वेन एवं रूपादिकमपि रूपादिकार्यमुपादानत्वेन शेषाणि सहकारित्वेनेत्येवान्तरसामग्रीभेदेन सिद्धः तज्जन्यानां स्वभावभेदः। नन्वत्रापि किं येन रूपेण मनस्कारो ज्ञानस्य जनकस्तेनैव चक्षुरादिकमपि जनयति, आहोस्वित् रूपान्तरेण? यदि तेनैवेति पक्षस्तदा चक्षुरादेर्ज्ञानत्वापत्तिः। तथाहि-सकलस्वगतविशेषाधायकत्वं कार्ये उपादानत्वम् तद्रूपेण चेत् प्रवृत्तो मनस्कारश्चक्षुरादिजनने कथं न चक्षुरादेर्ज्ञानरूपतापत्तिः? अथ स्वभावान्तरेण चक्षुरादि-२५जननेऽसौ प्रवर्त्तते; नन्वेवं स्वभावभेदात् मनस्कारस्य भेदापत्तिः स्वभावभेदलक्षणत्वात् वस्तुभेदस्य। अथ स्वसंविदि एकत्वेनावभासनात् मनस्कारस्यैकत्वमुपादानसहकारिशक्तिभेदेऽपि; नन्वेवमक्षणिकस्यापि तदतत्कालभाविकार्यजनकत्वाजनकत्वभावभेदेऽप्येकत्वेनाध्यक्षे प्रतिभासनात् कथं नैकत्वम्? अथ न स्वभावभेदाद् भावभेदः अपि तु विरुद्धस्वभावभेदात् तदतत्कार्यजनकत्वाजनकत्वे चाक्षणिकस्य विरुद्धौ स्वभावाविति तस्य भेदः; नन्वेवं मनस्कारक्षणस्यापि भेदप्रसक्तिः उपादान-३०त्व-सहकारित्वलक्षणयोः शक्त्योर्मनस्कारात् परस्परतश्च भेदात्। अथ न शक्तीनां शक्ति-शक्तिमतोर्वा भेदस्तथापि विरुद्धस्वभावद्वययोगात् भेद एव यतो मनस्कारस्योपादेयज्ञानं प्रति येव जनिका शक्तिः सैव चक्षुरादिकं प्रति ततश्चक्षुरादिकं प्रति जनकस्वभावः अजनकस्वभावश्च मनस्कारः

१-केण पर-आ० हा० वि०। २ "अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः" इति पूर्वार्धम्"—वृ० भां० मां० टि०। अष्टस० पृ० ९१ पं० १८। स्याद्वादर० पृ० ८९ द्वि० पं० ६। श्लो० वा० पार्थ० व्या० पृ० २७२ पं० १५। सर्वदर्शनस० द० २ पृ० ३२ पं० २०६। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० २१५ द्वि० पं० २। ३-क-चै-वृ० वा० बा० भां० मां०। ४-स्य चा-वृ० वा० बा० हा० वि० विना। ५ एवं रू-आ०। ६-जन्यता-वृ० भां० मां० विना। ७-त्वे तस्य नि-वृ० वा० बा०।-त्वेन तस्यानि-आ० हा० वि०। ८-ग्री भ-आ०। ९ एवं रू-ल० भां० मां० विना। १०-स्यापि रूपताप-भां० मां० आ० वि०। ११-पं प्रति प्रतिनि-वा० बा० भां० मां०।-प प्रतिनि-आ०। १२ अथवान्तर-वा० बा०। १३-वा तज्ज-ल० वा० बा०। १४-दादेयं स-वृ०। १५ चक्षुस्वरूपा-आ०। चक्षु रूपा-हा० वि०। १६ एव रू-ल०। १७-स्यथान्त-वा० बा०। १८ तज्जन्मनां भा०। १९-कत्वभाव-भा०। २०-त्वद-आ० हा० वि०। २१-श्च चक्षु-भां० मां०। २२-ननस-मां० मां०।

प्रसक्तः चक्षुरादिजननात् तत्स्वभावः सफलस्वगतविशेषानाधायकत्वादतत्स्वभावः नहि जनकत्वा-दन्यत् सफलस्वगतविशेषाधायकत्वम् ।

नापि मनस्कारोज्ज्ञनकत्वम् धर्मधर्मिणोरभेदाभ्युपगमात् अतः शक्ति-शक्तिमतोरभेदपक्षे तदतत्स्वभावत्वमेकदैकस्यैकस्मिन् जन्ये पूर्वोक्तनीत्या प्रसक्तम् तेन विधि-प्रतिषेधरूपविरुद्धधर्म-
५संसर्गाद् भेदः प्रसक्तः । भेदपक्षेऽप्युपादानत्व-सहकारित्वयो रूप-रसवत् तदभावनियतभावत्वेनै-कफालत्वेऽपि भेदात् मनस्कारलक्षणस्य भावस्य भेदः सिद्ध एव । न चैवमापादितभेदस्याप्यबाधि-तैकावभासिप्रत्ययविषयत्वात् न नानात्वम् अक्षणिकस्यापि पूर्वेक्षणग्रहणपरिणामाजहद्वृत्तोत्तरक्ष-णग्रहणपरिणामवदध्यक्षेणैकतया ग्रहणात् तदतज्जनैकाजनकस्वभावभेदेऽपि न नानात्वमित्युक्तत्वा-त् । न च शक्ति-शक्तिमतोः शक्त्योश्चाभेदे 'इदमुपादानम् इदं च सहकारिकारणम्' इति विभागः
१०क्षणिकपक्षे भवेत् । यदपि 'अन्त्यावस्थायां सर्वेषां प्रत्येकमभिमतकार्योत्पादकत्वम् अन्यसन्निधिस्तु स्वहेतुप्रत्ययसामर्थ्यात् नोपालम्भमर्हति न च भिन्नकार्योत्पत्तिः सर्वेषां तस्यैव जनने सामर्थ्यात् पर्यायानपेक्षणाच्च नोत्पन्नोत्पादोऽपि' इत्युक्तम् तदपि प्राक्तनन्यायेन निरस्तम् । किञ्च, अत्र पक्षे उष्णाद् गर्भगृहं प्रविष्टस्य मनस्कारादिः कारणकलापश्चक्षुर्दर्शने समर्थः परस्परनिरपेक्षतयेति यथा मनस्कारस्य चक्षुर्दर्शनं प्रत्युपादानता तस्यैवैकस्य तज्जनने सामर्थ्यात् तथा आलोकादेरपि इति
१५दर्शनेऽक्षितिः प्रतीतिविरुद्धं चैकैकस्यैवोत्पादकत्वम् न चैकैकस्मात् कार्योत्पादः कदाचिदप्युपलब्ध इति कथं न तदभ्युपगमः प्रतीतिविरुद्धः ? न च प्रकारान्तरेण क्षणिकानां कार्यकरणसम्भव इति क्षणिकेभ्योऽपि प्राक्तनन्यायेन कार्यकरणसामर्थ्यं निवृत्तमक्षणिकत्वं प्रसाधयेत् श्रावणत्ववद् वा उभयव्यावृत्तत्वात् संशयहेतुर्भवेत् । नाप्येतद् वक्तव्यम् उक्तप्रकारेणाक्षणिकेष्वप्यर्थक्रियानुपपत्ति-रिति निर्हेतुकं सकलं जगद् भवेत् अक्षणिकपक्षे बहुभ्यः समवायिकारणत्वादिरूपेभ्य एकमभिन्नं
२०च वस्तूत्पद्यत इत्यभ्युपगमात् तत्र च विरोधाभावादित्युक्तत्वात् ।

यदपि 'सत्त्वस्वरूपमुपवर्णयता प्रतिपादितमर्थक्रियालक्षणं भावानां सत्त्वम्' इति तत्र किमर्थ-क्रियातः सत्त्वम्, आहोस्वित् सत्त्वादर्थक्रिया? तत्र यद्यर्थक्रियातः सत्त्वं तदा प्राक् सत्त्वव्यतिरेके-णापि तस्या उत्पत्तेर्निर्हेतुका सा । अथ सत्त्वादर्थक्रिया तदा अर्थक्रियातः प्रागपि भावसत्त्वसिद्धेः

१-त्वादेत-मां० । २-राजन-भां० हा० वि० । ३ पूर्वेग्र-ल० । ४-त्तरग्रह-वा० बा० । ५-नकस्य-शा० हा० वि० । ६-मभिगत-ऋ० । ७ "क्रमः"-बृ० टि० । ८ परनिर-आ० । ९-नक्षि-तिः मां० मा० विना । १० "न हि आलोकं विनाऽपि अन्धकारे ज्ञानमुत्पद्यते ततो मनस्कारस्येव ज्ञानं प्रति आलोकादेरपि उपादानता किं न स्यात् (तदभावेऽपि तस्याभावात्) इति"-बृ० मां० टि० । ( ) एतत्कोष्टकान्तर्गतः भागः बृ० प्रतौ नास्ति । ११ "नित्यः शब्दः श्रावणत्वादिति । अत्र 'श्रावणत्वात्' इति हेतुर्नित्यानि-त्यपक्षाभ्यामाकाश-घटादिरूपाभ्यां व्यावृत्तः शब्दं विना अन्यत्र श्रावणत्वस्य अभावात् नित्यानित्यविनिमु(र्मु)क्तस्य च अन्यस्य असंभवात् संशयहेतुः किम्भूतस्य अस्य श्रावणत्वमिति यतः शब्दं विना श्रावणत्वयुक्तो नान्यः पदार्थोऽस्ति यत्र श्रावणत्वे सति नित्यत्वमनित्यत्वं वा निश्चीयते शब्दस्यैव श्रावणत्वादिति । एवमत्रापि"-मां० टि० । १२-कारेण क्ष-बृ० ल० भा० बा० विना । १३-मभिन्नं च-बृ० विना ।

१४ "यच्चार्थक्रियालक्षणं सत्त्वमित्युक्तं तत्र लक्षणशब्दः कारणार्थः स्वरूपार्थः ज्ञापकार्थो वा स्यात्? प्रथमपक्षे किमर्थक्रियालक्षणं कारणं सत्त्वस्य तद्वा अर्थक्रियायाः । तत्रार्थक्रियातः सत्त्वस्योत्पत्तौ प्राक् पदार्थानां सत्त्वमन्तरेणाप्यस्याः प्रादुर्भावात् निर्हेतुकत्वम् निराधारकत्वं वानुपज्येत । अथ सत्त्वादर्थक्रियोत्पद्यते तदार्थक्रियातः प्रागपि सत्त्वसिद्धेर्भावानां स्वरूपसत्त्वमायातम् । अथ स्वरूपार्थोऽसौ तत्रापि तद्धेतोरसत्त्वप्रसङ्गः । न हि अर्थक्रियाकाले तद्धेतुर्विद्यते । न चान्य-कालस्य अस्य अन्यकाला सा स्वरूपमतिप्रसङ्गात् । नापि ज्ञापकार्थोऽसौ अर्थक्रियाकालेऽर्थस्यासत्त्वादेव । असतश्चास्याऽतः कथं सत्ताज्ञप्तिरतिप्रसङ्गात् । न चार्थक्रियोदयात् प्राक् कारणमासीदिति व्यवस्थापयितुं शक्यम् । यतो यदि स्वरूपेण पूर्वं हेतुरवगतो भवेत् तदनन्तरं चार्थक्रिया तदार्थक्रिया प्रतिपन्नसम्बन्धोपलभ्यमाना प्राग्घेतुसत्तां व्यवस्थापयतीति स्यात् । न चार्थक्रियामन्तरेण हेतुः स्वरूपेण कदाचिदप्युपलब्धः परैः स्वरूपसत्त्वप्रसङ्गात् । अर्थक्रियायाश्चापरार्थक्रिया यदि सत्त्वव्यव-स्थापिका तदानवस्था । न चार्थक्रियाऽनधिगतसत्त्वस्वरूपापि हेतुसत्त्वव्यवस्थापिका अश्वविषाणादेरपि तत्सत्त्वव्यवस्थाप-कत्वानुषङ्गात् । न च हेतुजन्यत्वादर्थक्रिया सती नार्थक्रियान्तरोदयादित्यभिधातव्यम् इतरेतराश्रयानुषङ्गात्—हेतुसत्त्वा-च्चाऽर्थक्रिया सती तत्सत्त्वाच्च हेतोः सत्त्वमिति"-प्रमेयक० पृ० १४८ द्वि० पं० २ ।

१५ "अर्थक्रिया"-बृ० मां० टि० ।

स्वरूपसत्त्वमायातम्, अपि चार्थक्रियाकाले हेतोरदर्शनात् असतस्तस्य कथं सत्ताऽवगम्यते? न च 'अर्थक्रियोदयात् प्राक् कारणमासीत्' इति व्यवस्थापयितुं शक्यम्, यतो यदि स्वरूपेण पूर्वं हेतुरवगतो भवेत् तदनन्तरं चार्थक्रियोपलम्भानुभवः स्यात् ततोऽर्थक्रिया अवगतप्रतिबन्धोपलभ्यमाना प्राग् हेतुसत्ताव्यवस्थापनपटीयसी भवेत्। न चार्थक्रियामन्तरेण हेतुः स्वरूपेण कदाचिदप्युपलब्धिगोचरः स्वरूपसत्त्वप्रसक्तेः। किञ्च, यद्यर्थक्रिया हेतुसत्ताव्यवस्थापिका तस्या अप्यपरार्थ-५ क्रिया व्यवस्थापिकेत्यनिष्ठाप्रसक्तेर्न हेतुसत्ताव्यवस्थितिर्भवेत्। न चार्थक्रिया अनधिगतसत्त्वस्वरूपाऽपि हेतुसत्त्वव्यवस्थापिका शशविषाणादेरपि तत्सत्त्वव्यवस्थापकत्वप्रसक्तेः। न च हेतुजन्यत्वादर्थक्रिया सती नार्थक्रियान्तरोदयादिति वक्तव्यम् इतरेतराश्रयप्रसक्तेः। तथाहि-हेतुसद्भावादर्थक्रिया सती तत्सत्त्वाच्च हेतोः सत्त्वमिति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वमिति नार्थक्रियालक्षणं सत्त्वम्।

भवतु वार्थक्रियालक्षणं सत्त्वं तथापि नातः क्षणक्षयानुमानम् यतोऽसौ भावानां १० क्षणस्थायितां साधयति, उत क्षणादूर्ध्वमभावम्? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता नित्यस्यापि भावस्य क्षणावस्थानाभ्युपगमात् अन्यथा सदावस्थितिरेव न भवेत् क्षणावस्थितिनिबन्धनत्वात् क्षणान्तरादिस्थितेः। न चोत्तरकालमभावमवगमयति अभावेन सह तस्याः प्रतिबन्धाभावात् न चाप्रतिबन्धविषयः शशविषाणादिवदनुमेयः। किञ्च, समानकालं वा सा साध्यं साधयेत् भिन्नकालं वा? यदि समानकालं सद्रूपं साध्यं साधयति तदा तत्समानकालभाविनः सत्तामात्रस्य १५ सिद्धत्वात् सिद्धसाध्यता अभावेन च प्रतिबन्धाभावान्न ततस्तत्सिद्धिः। अथ भिन्नकालं साधयति तत्रापि प्रतिबन्धाभावात् न ततस्तत्सिद्धिः न हि भिन्नकालेन विद्यमानेनाविद्यमानेन वा सत्तायाः कश्चिदविनाभाव इति यत्राविनाभावस्तत्र विप्रतिपत्तिर्नास्ति यत्र च विप्रतिपत्तिस्तत्राविनाभावस्याभाव इति न सत्तातः क्षणक्षयानुमानम्। न च सत्त्वं वर्त्तमानकालभावित्वम् तच्च पूर्वापरकालसम्बन्धविकलतया क्षणिकत्वं तदात्मकतया भावानां प्रकटयति यतो वर्त्तमानं क्षणिक-२० मिति कुतोऽवगम्यते? पूर्वापरयोस्तेनादर्शनादिति चेत्, न; दृश्यादर्शनस्यैवाभावव्यवहारसाधकत्वात्। अदर्शनमात्रस्य तु सत्यपि वस्तुनि सम्भवात् न तत्र प्रमाणता। न च सर्वं वस्तु सर्वदा दर्शनयोग्यम् चक्षुर्व्यापाराभावे वस्तुनोऽप्रतिभासनात् तदैव च चक्षुर्व्यापारात् परेणोपलम्भात् तत्र पूर्वापरयोरनुपलम्भमानादभावनिश्चय इति न प्रत्यक्षानुमानाभ्यां क्षणिकतावगमः। न चैतद्व्यतिरिक्तं प्रमाणान्तरं परैरभ्युपगम्यते इति कुतः क्षणिकत्वसिद्धिः? २५

यदपि 'यद् यथावभासते तत् तथैवाभ्युपगन्तव्यम् यथा नीलं नीलरूपतया प्रतिभासमानं तेनैव रूपेणाभ्युपगमविषयः क्षणपरिगतेन च रूपेण पदार्थाः प्रतिभान्तीति प्रत्यक्षसिद्धे क्षणिकत्वे तद्व्यवहारसाधनाय हेतूपादानम्' इति परैः प्रतिपादितम् तदप्ययुक्तम्; 'क्षणपरिगतेन रूपेण प्रतिभासनात्' इति हेतोरसिद्धेः कालान्तरस्थायितयाऽध्यक्षे भावानां प्रतिभासनस्य प्रतिपादितत्वात्। यदप्यभिहितम् 'न प्रथमदर्शनेन कालान्तरस्थितिरवसातुं शक्या' तदप्यसङ्गतम्; स्थिर-३० रूपपदार्थदर्शनात् आ विनाशकारणसन्निधानात् स्थायितया आद्यदर्शनेनैव भावस्य ग्रहणात् अन्यथैकक्षणस्थायितया तस्य ग्रहणे व्यवहारार्थमुपादानं न भवेत्। न च तत् क्षणप्रभवं वस्तु व्यवहारं साधयिष्यतीति तदुपादानम् एवंभूतप्रतिपत्तेरभावात्। नहि व्यवहारिणः 'इदमर्थक्रियाकारि वस्त्वन्यदेव' इति प्रतिपद्यन्ते। न च सन्ताननिबन्धनोऽयं व्यवहारः क्षणिकत्वासिद्धौ सन्तानस्यासिद्धेः। न च भ्रान्तोऽयं व्यवहारः अतस्मिंस्तद्ग्रहणरूपस्य भ्रान्तत्वस्य क्षणक्षयासिद्धावसिद्धेः। न च क्षणिकत्वं ३५

---

१ तत्सत्त्वव्य–वा० बा० आ०। २–दत्रार्थ–आ०। ३ "अस्तु वा अर्थक्रियालक्षणं सत्त्वम् तथापि अतोऽर्थानां क्षणस्थायिता क्षणिकत्वं साध्येत क्षणाद् ऊर्ध्वमभावो वा"–प्रमेयक० पृ० १४८ द्वि० पं० १०। ४ "यदि हि एकस्मिन् क्षणे न स्थितिर्भावस्य तदा क्षणान्तरेऽपि कथं स्यात्"–मू० मां० टि०। ५ तस्याम–मू० मां० वा० हा० वि०। ६ वा साध्यं आ० हा० वि०। ७–कालसद्रू–मू०। ८ "सत्ता"–मां० टि०। "साधन"–मू० टि०। ९–वान्नतस्त–वा० बा०।–वात् ततस्त–लं०।–वा ततस्त–आ०। १० "अन्येन पुंसा"–मू० मां० टि०। ११–क्षसिद्धक्ष–भां० मां०।

तथाप्रतिभासात् सिद्धम् इतरेतराश्रयप्रसक्तेः। तथाहि–प्रतिभासात् क्षणिकत्वसिद्धौ एकत्वव्यवहारो भ्रान्तः सिध्यति तत्सिद्धेश्च तथाप्रतिभाससिद्धौ क्षणिकता सिध्यतीतीतरेतराश्रयत्वम्। न चान्य-दनुमानं क्षणिकताप्रतिपादकमस्ति यत एकत्वव्यवहारस्य भ्रान्तता भवेत्। न च भाविजन्मपरम्प-राग्रहणप्रसक्तिराद्यप्रत्यक्षेण कालान्तरस्थायिताप्रतिपत्तौ यतोऽबाधितप्रतिपत्तौ यत् प्रतिभाति तदेव
५ तद्ग्राह्यतया व्यवस्थाप्यते नत्वप्रतिभासमानस्यापि ग्राह्यताप्रसक्तिप्रेरणं युक्तिसङ्गतम्। नहि 'सुरभि चन्दनम्' इति विशेषणविशेष्यभावग्रहणे बाह्येऽपि विषये बाह्येन्द्रियनिरपेक्षं स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तं मानसमध्यक्षमेकीयमतेनेति सर्वत्रैव तत् प्रवर्तताम् इति प्रेरणायुक्तिसङ्गता सर्वस्य तत्राप्रतिभासनात्, यत्रैव विशेषणविशेष्यभावनियतं लिङ्गाद्यनपेक्षं मनः प्रवर्तते तत्रैव तद्ग्रहणव्यापारोऽभ्युपगन्तव्यः न सर्वत्र एवं भाविकालान्तरादिस्थितेरपि वक्तव्यम् यतः तत्रापि भाविकालादीनामसन्निहितत्वेऽपि
१० तद्व्यापिनो भावस्य सन्निहितत्वात् तत्र व्यापृतमक्षं तद्विशेषणत्वव्यवस्थितानां भाविकालादीनामपि ग्राहकम् न चैवं तदनिन्द्रियजमसन्निहितार्थजत्वेन भ्रान्ततरं[3] च इन्द्रियान्वय-व्यतिरेकानुविधानेन सन्निहिते [4]विशेष्ये भावात्, न चासन्निहितानां भाविकालादीनां तत्राप्रतिभासः विशेष्यप्रति-भासाऽऽक्रान्तानां शतादिग्रहणे पूर्वसङ्ख्येयानामिव तेषां तत्र प्रतिभाससंवेदनात् अन्यथा अस्ख-लद्रूप एकत्वनिबन्धन उपादेयव्यवहारस्तत्र कथं भवेत्? इत्युक्तमसन्निहितार्थस्यापि चेन्द्रियजत्वं
१५ तैमिरिकज्ञानस्येवोपपन्नम् केवलमसत्यत्वे विवादः तत्र च बाधकाभावात् कालान्तरस्थायिता-प्रतिपत्तेः सत्यता व्यवस्थाप्यते। न च विषयसन्निधानासन्निधाने इन्द्रियजत्वप्रयोजके अपि त्विन्द्रियव्यापारानुविधानम् तच्चात्रास्तीति कथं न कालान्तरस्थितिप्रतिपत्तिरक्षजा? न चाव-च्छेदकाऽग्रहणेऽवच्छेद्यस्याप्यग्रहणमिति वक्तव्यम् अवच्छेदकप्रतिभासस्य प्रसाधितत्वात्।

किञ्च, यदि पूर्वापरविविक्तम[12]ध्यक्षणप्रतिभास्येव अध्यक्षं भवेत् तदा बाधकसंवादप्रत्यया-
२० नुत्पत्तितः प्रमाणेतरव्यवहारो ज्ञानानां वि[13]शीर्येत। तथाहि–बाधकं पूर्वविषयापहारेणोत्पत्ति-मासादयति पूर्वप्रत्ययेन च यद्युत्तरप्रत्ययसमये स्वविपर्यसत्त्वं[15] नावभातं तदा स्वसमये बाधकेन पूर्वविज्ञानगोचरस्यासत्त्वावेदनेऽपि कथं बाधकता? नहि विनाशकारणव्यापारोत्तरकालभा-विभावासत्त्वावेदकज्ञानस्य पूर्वज्ञानबाधकता। न च बाधकेन पूर्वविज्ञानविषयस्य पूर्वमेवासत्त्व-परिच्छेदात् बाधकता तस्य पूर्वविज्ञानविषये प्रवृत्त्यभ्युपगमप्र[16]सक्तेरिति बाध्यबाधकभावाभ्युपगमे
२५ पूर्वोत्तरविज्ञानयोरेकविषयता अभ्युपगन्तव्या अन्यथा सन्तानकल्पनाया असम्भवतो बाध्यबाधक-भावविलोपप्रसक्तेरप्रामाण्यव्यवस्था न क्वचित् विज्ञाने भवेत् पूर्वविज्ञानविषये अविजातीयोत्तर-ज्ञानवृत्तिः संवादः सोऽपि पूर्वापरज्ञानविषयैकत्वे सम्भवति नान्यथेति तद्व्यवहारादपि स्थायिताग्राह्यध्यक्षसिद्धिः पूर्वज्ञानवदुत्तरज्ञानमपि 'तदेवेदम्' इत्युल्लेखवत् पूर्वक्षणेषु वर्तते इत्य-भ्युपगन्तव्यम् न्यायस्य समानत्वात्। न च पूर्वदेश–काल–दशा–दर्शनानामुत्तरज्ञानप्रतिभासे
३० तद्देशादिताप्रसक्तिरिति वर्त्तमानतामात्रग्रहणात् क्षणिकताग्र[17]ह एव अग्रहणे न तेन स्वविषयस्य पूर्वादिताग्रह इति वक्तव्यम् क्षणिकत्वग्रहेऽप्यस्य चोद्यस्य समानत्वात्। तथाहि–उत्तरज्ञानेन पूर्वदेशादीनां ग्रहणे न स्वविषयस्य ततो [18]भेदग्रहः अग्रहणेऽपि सुतरां तेषामग्रहे 'ततो भिन्नमिदम्' इति प्रतीतेरयोगात् प्रतियोगिग्रहणसव्यपेक्षत्वाद् भेदावगतेः। न च स्वविषयस्य तेन तदनुप्रवेशा-

---

१–वर्तनमि–भां॰ मां॰। २ व्यावृत्तम–आ॰। ३ भ्रान्तरं च भां॰ हा॰ वि॰। भ्रान्तं च वृ॰ ल॰ वा॰ बा॰। ४ विशेष्यभा–आ॰। ५ "तद्विशेषणत्वेन"–मां॰ टि॰। ६ "भाविकालादीनाम्"–वृ॰ मां॰ टि॰। ७ "तद्विशेषणत्वेन"–वृ॰ टि॰। ८ "ज्ञानस्य"–मां॰ टि॰। ९ न वि–आ॰। १०–धानेन्द्रिय-व्यापा–वृ॰। ११ "भाविकाल"–मां॰ टि॰। १२–ध्यक्षेण–आ॰ हा॰ वि॰। १३–शीर्यते त–वृ॰ ल॰ बा॰ वा॰ विना। १४–पर्यं स–मां॰। १५–स्वंनावभाव तदा वृ॰।–स्वंतावभावत्तदा वा॰ बा॰। १६ "ततो यथा पूर्वस्मिन् विज्ञानेऽसत्यपि प्रवृत्तिर्बाधकस्य तथा भाविकालेऽपि किं न स्यात्। तथा च नित्यता कथं सिध्येत् (न सिध्येत्)" वृ॰ टि॰। १७–ग्रहण एव अग्र–आ॰।–ग्रह एवं अग्र–मां॰ हा॰ वि॰। १८ भेदः अग्रह-णेऽ–वा॰ बा॰। भेदग्रहणेऽ–हा॰ वि॰।

ग्रहणमेव भेदग्रहणम् तद्भेदाग्रहणमेव तदनुप्रवेशस्वरूपनित्यत्वग्रहणमित्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्। न च स्वरूपमेव भेद इति तद्ग्रहणे भेदग्रहः अभेदेऽप्यस्य समानत्वात्। तथा च 'पूर्वमेवेदं मया दृष्टम्' 'पूर्वदृष्टं पश्यामि' इति च पूर्वोत्तरज्ञानयोर्माविभूतज्ञानैकार्थविषयताव्यवस्थापकं निश्चयद्वयं यथाक्रममुपजायमानं संलक्ष्यत इति यथा 'नीलमिदं पश्यामि' इति तद्व्यापारानुसारिविकल्पोदयात् तत्प्रतिभासोऽध्यक्षस्याविकल्पकस्य व्यवस्थाप्यते तथा प्रकृतेऽपि पूर्वोत्तरज्ञानद्वये अभेद-५ प्रतिभासो व्यवस्थापनीयः न्यायस्य समानत्वात्। इदमेवं वा निश्चयद्वयमक्षव्यापारानुसारित्वादध्यक्षतामनुभवति यतो नेदमानुमानिकम् लिङ्गाद्यनपेक्षतयोत्पत्तेः, नापि भ्रान्तम् बाधकाभावात्, न च स्मृतिरूपम् अपूर्वार्थप्रतिपत्तेः। न च प्रथमाक्षव्यापारानन्तरमनुत्पत्तेः स्मरणरूपताऽस्य, विशिष्टसामग्र्यन्तर्भूतेन्द्रियजन्यतया प्रागनुत्पादेऽपि स्मरणरूपतानुपपत्तेः। अत एवोत्पाद्यमाने घटादौ 'अनागताध्यवसायोऽध्यक्षम्' इति केचित् सम्प्रतिपन्नाः। न ह्यनध्यवसितमुत्पाद्यते तथा१० चोत्पन्ने तदुत्पादकानां प्रतिपत्तिः यदेवोत्पादयितुमध्यवसितं तदेवोत्पादितम् यदेव चोत्पादितं तदेवाध्यवसितमित्यभेदप्रतिपत्तिः सङ्गता भवति। न चास्या अनिमित्तता अनियतनिमित्तता वा कादाचित्कतयाऽनिमित्तत्वस्याभावात् लिङ्गादिनिमित्ताभावतः पारिशेष्यादिन्द्रियलक्षणनियतनिमित्तत्वाच्च। न चैवम्भूतप्रतिपत्तेर्मिथ्यात्वेनोपलब्धेरियमपि मिथ्या, प्रत्यक्षस्यापि कस्यचिन्मिथ्यात्वोपलब्धेः सर्वस्य मिथ्यात्वप्रसक्तेः। न च तत्र बाधकाभावात् सत्यार्थतेति वक्तव्यम् अत्रापि१५ समानत्वात् बाधारहिता हि सविकल्पा प्रतिपत्तिः प्रमा नान्येत्यभ्युपगमात्। न च मनसः सर्वत्रातीते अनागते चाऽव्याहतप्रसरत्वादुत्पाद्यमाने भावे तदध्यवसायस्य मनोजन्यत्वेनाध्यक्षता युक्ता चक्षुरादेस्त्वतीतानागतयोरविषयत्वेन तत्प्रतीतेः कथमध्यक्षतेति वक्तव्यम् उक्तोत्तरत्वात् अतीतानागतविषयस्य मानसाध्यक्षत्वेऽपि वा क्षणप्रतिभासलक्षणस्य हेतोरसिद्धता भवत्येव अबाधितमानसाध्यक्षेण भावानामेकत्वग्रहणात्। २०

यदपि 'किं क्षणिकेन ज्ञानेन स्थायिता युगपत् क्रमेण वा भावानां गृह्यते, आहोस्वित् अक्षणिकेन' इति विकल्प्य सर्वत्र दोषप्रतिपादनं कृतम् तत् क्षणिकत्वग्रहेऽपि समानम्। तथाहि–न क्षणिके ज्ञाने क्षणस्थिति-क्षणान्तरस्थित्योर्युगपत् क्रमेण वा प्रतिभासे तयोर्भेदप्रतिपत्तिः परस्पराभावस्य भावग्राहिणि तत्राप्रतिभासनाद् भावाभावयोर्विरोधात् तदप्रतिभासने च न तद्भेदप्रतिपत्तिः अभावप्रतिपत्तौ वा भावाभावयोर्विरोधाभावात् न क्षणस्थिति-क्षणान्तरस्थित्योर्भेदप्रतिपत्तिः। नापि२५ तयोरप्रतिभासने भेदावगतिः प्रतियोगिग्रहणसव्यपेक्षत्वाद् भेदप्रतिपत्तेरिति भवतैवाभिधानात्। अन्तर्बहिश्च स्थिरस्थूराध्यक्षप्रतिभासबाधितत्वाच्च प्रकृतविकल्पानामनुत्थानमिति न प्रतिपदमेषां निराकरणे प्रयत्नः सफलः पिष्टपेषणरूपत्वात् दिङ्मात्रप्रदर्शनं तु विहितमेवेत्यलमतिविसारिण्या कथया। तत् क्षणक्षयप्रसाधने प्रत्यक्षादेः प्रमाणस्यानवताराद् बाधकत्वेन च तस्यैकत्वाध्यवसायिनः प्रवृत्तिप्रतिपादनात् न पर्यायास्तिकाभिमतपूर्वापरक्षणविविक्तमध्यक्षणमात्रं वस्तु किन्तु३० अतीतानागतपर्यायाधारमेकं द्रव्यवस्त्विति द्रव्यार्थिकनिक्षेपः सिद्धः।

[द्रव्यनिक्षेपविषयस्य द्रव्यस्य आगमोक्तरीत्या स्वरूपवर्णनम्]

द्रव्यं च अनुभूतपर्यायम् अनुभविष्यत्पर्यायं चैकमेव तेन 'अनुभूतपर्याय'शब्देन तत् कदाचिदभिधीयते कदाचिच्च 'अनुभविष्यत्पर्याय'शब्देन यथा अतीतघृतसम्बन्धो घटो 'घृतघटः' इत्यभिधीयते भविष्यत्तत्सम्बन्धोऽपि तथैवाभिधानगोचरचारी। शुद्धतरपर्यायास्तिकेन च निरा-३५ कारस्य ज्ञानस्यार्थग्राहकत्वासम्भवात् साकारं ज्ञानमभ्युपगतम् तत्संवेदनमेव चार्थसंवेदनम् ज्ञानानुभवव्यतिरेकेणापरस्यार्थानुभवस्याभावात् घटोपयोग एव घटस्तन्मतेन। तत्पर्यायेण अतीतेन

१–ष्टं पूर्वदृष्टं पश्या–मां०।–ष्टं पश्या–आ० हा० वि०। २ इममे–बा० बा० ३–च चा नि–वृ०। ४–माध्यक्ष–मां०। ५ "यथाक्रमं हेतुद्वयं योज्यम्"–वृ० मां० टि०। ६–त्यार्थेति बा० बा०। ७–कत्पकां प्र–बा० बा०। ८–दुत्पद्य–प्र० मां० बहिः। ९ "अध्यवसायस्य"–वृ० मां० टि०। १०–दनं तत् बा० बा०। ११–चस्य भावस्य ग्राहि–बा० बा०।–चग्राहि–आ०। १२–पत्तेरपि भ–बा० बा०।–पत्तिरिति भ–आ०। १३–मात्र व–आ०। १४–र्यायं चैक–बा० बा०। १५–न च त–आ०।

परिणतम् परिणंस्यद् वा द्रव्यं तच्छब्दवाच्यं द्रव्यार्थिकमतेन व्यवस्थितं पूर्ववत् । अत एव घटा-पर्यायमितः तत्र च अनुपयुक्तो 'द्रव्यम्' इति प्रतिपादितः द्रव्यार्थिकनिक्षेपश्च । द्रव्यमार्गमे अनेकधा प्रतिपादितम् इह तु युक्तिसंस्पर्शमात्रमेव प्रदर्श्यते तदर्थत्वात् प्रयासस्य ।

[४ भावनिक्षेपः]

५ [भावं व्याख्याय तत्र पर्यायार्थिकत्वकथनम्]

भवति-विवक्षितवर्त्तमानसमयपर्यायरूपेण उत्पद्यते-इति भावः, "विभाषा ग्रहः" [३।१।१४३ सिद्धान्तकौ० अं० २९०५] इत्यत्र सूत्रे केश्चिद् "भवतेश्च" इति णोऽपीष्यते । अथवा भूतिर्भावः वज्र-किरीटादिधारणवर्त्तमानपर्यायेणेन्द्रादिरूपतया वस्तुनो भवनम्, तद्ग्रहणपर्यायेण वा ज्ञानस्य भवनम् । यथा चायं पर्यायार्थिकप्ररूपणा तथा प्रदर्शित एव प्राक् न पुनरुच्यते । एष एव नय-
१० निक्षेपानुयोगप्रतिपादितः उभयनयप्रविभागः परमार्थः परमं हृदयमागमस्यैतदव्यतिरिक्तविषयत्वात् सर्वनयवादानाम् न हि शास्त्रपरमहृदयनयद्वयव्यतिरिक्तः कश्चिन्नयो विद्यते सामान्यविशेष-स्वरूपविषयद्वयव्यतिरिक्तविषयान्तराभावाद् विषयिणोऽप्यपरस्य नयान्तरस्याभाव इति प्राक् प्रति-पादितमिति ॥ ६ ॥

---

१ "अणुवओगो दव्वं"–अनुयोग० पृ० १२ द्वि० सू० १३ । "अनुपयोगो द्रव्यम्"–विशेषा० बृ० वृ० पृ० २५ गा० २९ प्र० पं० १६ । २–मे वाच्यं । अ-भां० मां० । ३ "भवतेश्च इति वक्तव्यम्"–काशिका पृ० १७३–३।१।१४३ सूत्रवृत्तौ । "भवतेश्च इति वार्त्तिका"–सिद्धान्तकौ० पृ० ४६० सूत्र२९०५वृत्तौ । ४–रादिकरण-बृ० । "भावः"–वृ० ल० मां० टि० ।

[द्रव्य-पर्याययोरन्योन्यव्याप्तिसमये निरपेक्षनयाश्रितवचसामसत्यत्वकथनम्]

एतदपि नयद्वयं शास्त्रस्य परमहृदयम् 'द्रव्यं पर्यायाशून्यम् पर्यायाश्च द्रव्याविरहिणः' इत्येवं भूतार्थप्रतिपादनपरम् नान्यथेत्येतस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थमाह—

पज्जवणिस्सामण्णं वयणं दव्वट्ठियस्स 'अत्थि'त्ति।
अवसेसो वयणविही पज्जवभयणा सपडिवक्खो ॥ ७॥ ५

परस्परनिरपेक्षस्य नयद्वयस्य प्रत्येकमेवं वचनविधिः—द्रव्यास्तिकस्य अननुपक्तविशेषं वचनम् 'अस्ति'इत्येतावन्मात्रम्, पर्यायास्तिकस्य स्वपरामृष्टसत्तास्वभावं 'द्रव्यम्' 'पृथिवी' 'घटः' 'शुक्लः' इत्याद्याश्रितपर्यायम्। परस्परनिरपेक्षं चोभयनयवचोऽसदेव, वचनार्थासत्त्वात्। वचनमसदर्थमिति तदर्थस्याप्यसत्त्वमावेदितं भवतीति समुदायार्थः।

अवयवार्थस्तु—पर्यायनयेन सह निःसामान्यम् असाधारणं वचनं द्रव्यास्तिकस्य १० 'अस्ति' इति एतत्, भेदवाद्यभ्युपगतस्य विशेषस्य सत्तारूपतानुप्रवेशात्। एतच्च वचो निर्विषयम्, निर्विशेषत्वात्, वियत्कुसुमाभिधानवत्—

"निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्" [श्लो० वा० आकृति० श्लो० १०]

इति प्रसाधितत्वान्नाव्यासिद्धहेतोः। असिद्धिः पराभ्युपगमादेव परिहृता। तन्न एकान्तभावनाप्रवृत्तस्य द्रव्यास्तिकनयस्य परमार्थता। पर्यायास्तिकस्याप्येवंप्रवृत्तस्य न सेति पश्चार्द्धेन प्रतिपादयति—१५ अवशेष इति शेषः स चोपयुक्तादन्यः वचनविधिः वचनभेदः सत्ताविकलविशेषप्रतिपादकः पर्यायेषु सत्ताव्यतिरिक्तेष्वसत्सु भजनात्–सत्ताया आरोपणात् सप्रतिपक्षः इति सतः प्रतिपक्षः-विरोधी असन् भवति। तथाहि—पर्यायप्रतिपादको वचनविधिरवस्तुविषयः, निःसामान्यत्वात्, खपुष्पवत्। भावना तु द्रव्यार्थिकवचनविपर्ययेण प्रयोगस्य कार्या।

अथवा "अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेयाः" [ ] इति अर्थ-प्रत्यययोः स्वरूप-२० मभिधाय अभिधानस्य द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिकस्वरूपस्य तदभिधायकस्य वा प्रतिपादनार्थमाह—पज्जवणिस्सामण्णं इत्यादि। पर्यायान्निष्क्रान्तम्—तद्विकलम्—सामान्यं सङ्ग्रहस्वरूपं यस्मिन् वचने तत् पर्यायनिस्सामान्यं वचनम्। किं पुनस्तत्? इत्याह—'अस्ति' इति, तच्च द्रव्यार्थिकस्य स्वरूपम् प्रतिपादकं वा। यद्वा पर्यायः ऋजुसूत्रनयविषयाद् अन्यो द्रव्यत्वादिविशेषः, स एव च निश्चितं सामान्यं यस्मिंस्तत् पर्यायनिस्सामान्यं वचनम् द्रव्यत्वादिसामान्यविशे-२५ षाभिधायीति यावत्। तच्च अशुद्धद्रव्यार्थिकसम्बन्धि तत्प्रतिपादकत्वेन तत्स्वरूपत्वेन वा। अवशेषो वचनविधिः–वर्णपद्धतिः सप्रतिपक्षः अस्य वचनस्य पर्यायार्थिकनयरूपः तत्प्रतिपादको वा पर्यायसेवनात्; अन्यथा कथमवशेषवचनविधिः स्यात् यदि विशेषं नाश्रयेत्? ॥७॥

१-वक्खो वा० बा०। २-यार्थिक-वृ० बा० पा०। ३-दक प-आ० हा० वि०। ४-रिक्तेषु रूपभ-बा० बा०। ५-कस्वरू-भा० मां०। ६-त्वादि-बा० बा०। ७ यस्मिन् वचने तन्निःसा-हा० वि०। यस्मिन् वचने तस्मिन् वचने तन्निःसा-आ०। ८-व्यार्थिकं स-वृ०। ९-न च। बा० बा०।

[द्रव्य–पर्याययोरन्योन्यसम्मिश्रत्वसूचनाय ज्ञानानेकान्तवर्णनम्]

एवं न।ऽद् द्र ार्थिक-पर्यायार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्य अनेकान्त-भावभावनयैवैषां सत्यता नान्यथेत्येतत्प्रतिपादनार्थं ज्ञानानेकान्तमेव तावदाह—

पज्जवणयवोक्कंतं वत्थुं दव्वट्ठियस्स वयणिज्जं ।
५ जाव दविओवओगो अपच्छिमवियप्पनिव्वयणो ॥ ८ ॥

द्रव्यास्तिकस्य वक्तव्यम्-परिच्छेद्यो विषयः, निश्चयकर्तृ वचनं निर्वचनम्, विकल्पश्च निर्वचनं च विकल्प-निर्वचनम्, न विद्यते पश्चिमं यस्मिन् विकल्पनिर्वचने तत्-तथा-तथाविधं तद् यस्य द्रव्योपयोगस्यासौ अपश्चिमविकल्पनिर्वचनः सङ्ग्रहावसान इति यावत् ततः परं विकल्पवचनाऽप्रवृत्तेः। यावद् **अपश्चिमविकल्पनिर्वचनो द्रव्योपयोगः** प्रवर्त्तते तावद् **द्रव्यार्थिकस्य** १० विषयो **वस्तु**, तच्च **पर्यायाक्रान्तमेव**; अन्यथा ज्ञानाऽर्थयोरप्रतिपत्तेरसत्त्वप्रसक्तिः। न हि पर्यायाऽनाक्रान्तसत्तामात्रसद्भावग्राहकं प्रत्यक्षम् अनुमानं वा प्रमाणमस्ति, द्रव्यादिपर्यायाक्रान्तस्यैव सर्वदा सत्तारूपस्य ताभ्यामवगतेः।

यद्वा यद् वस्तु सूक्ष्मतरतमादिबुद्धिना **पर्यायनयेन** स्थूलरूपत्यागेनोत्तरतत्तत्सूक्ष्मरूपाश्रयणाद् **व्युत्क्रान्तम्** गृहीत्वा त्यक्तम्, यथा किमिदं मृत्सामान्यं घटादिभिर्विना प्रतिपत्ति-१५ विषयः यावत् शुक्लतमरूपस्वरूपोऽन्त्यो विशेषः एतद् **द्रव्यार्थिकस्य** वस्तु विषयः यतो **यावद् अपश्चिमविकल्पनिर्वचनो**ऽन्त्यो विशेषस्तावद् **द्रव्योपयोगः** द्रव्यज्ञानं प्रवर्तते; नहि द्रव्यादयो विशेषान्ताः सदादिप्रत्यया विशिष्टैकान्तव्यावृत्तबुद्धिग्राह्यतया प्रतीयन्ते, न च तथाऽप्रतीयमानास्तथाभ्युपगमार्हाः अतिप्रसङ्गात् ॥ ८ ॥

[वस्तुगत्या द्व्यात्मक एव तत्त्वे नयद्वयविषयविवेकस्य विवक्षाधीनत्वाभिधानम्]

२० तदेवं न सत्ता विशेषविरहिणी, नापि विशेषाः सत्ताविकला इति प्रदर्श्योपसंहरन्नाह—

दव्वट्ठिओ त्ति[3] तम्हा नत्थि णओ नियम सुद्धजाईओ ।
ण य पज्जवट्ठिओ णाम कोइ भयणाय उ विसेसो ॥ ९ ॥

तस्माद् **द्रव्यार्थिकः इति नयः शुद्धजातीयः** विशेषविनिर्मुक्तो **नास्ति-नियमेन** इत्यवधारणार्थः—विषयाभावेन विषयिणोऽप्यभावात्। **न च पर्यायार्थिकोऽपि** [क]श्चिन्नयः— २५ **'नाम'** इति प्रसिद्धार्थः—नियमेन शुद्धस्वरूपः सम्भवति, सामान्यविकलात्यन्तव्यावृत्तविशेषविषयाभावेन विषयिणोऽप्यभावात्। यदि विषयाभावाद् इमौ नयौ न स्तः यदुक्तम् 'तीर्थंकरवचन-सङ्ग्रह'-इत्यादि तद् विरुध्यत इत्याह—**भयणाय उ विसेसो** भजनायास्तु विवक्षाया एव **विशेषः**—'इदं द्रव्यम् अयं पर्यायः' इत्ययं भेदः तथा तद्भेदाद् विषयिणोऽपि तथैव भेद इत्यभिप्रायः । भजना च—सामान्यविशेषात्मके वस्तुतत्त्वे उपसर्जनीकृतविशेषं यद् अन्वयि-३० रूपं तद् 'द्रव्यम्' इति विवक्ष्यते यदा तदा द्रव्यार्थिकविषयः, यदा तूपसर्जनीकृतान्वयिरूपं तस्यैव वस्तुनो यद् असाधारणं रूपं तद् विवक्ष्यते तदा पर्यायनयविषयस्तद् भवतीति ॥ ९ ॥

---

१ परिच्छेद्यवि–भा० । २–रवा त्युत्क्राम् बृ० । ३–त्ति जम्हा वा०, धा० । ४–ओ णिय–बृ० ।
५ पृ० २७१ पं० ७ । ६ –व्यार्थवि–वा० धा० ।

[विवक्षाकृतस्य नयद्वयविषयविवेकस्य विशदीकरणम्]

एवंरूपभजनाकृतमेव भेदं दर्शयितुमाह—

दव्वट्ठियवत्तव्वं अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स ।
तह पज्जववत्थु अवत्थुमेव दव्वट्ठियनयस्स ॥ १० ॥

पर्यायास्तिकस्य[3] द्रव्यास्तिकाभिधेयमस्तित्वम् अवस्त्वेव भेदरूपापन्नत्वात् द्रव्या- ५
स्तिकस्यापि पर्यायास्तिकाभ्युपगता भेदा अवस्तुरूपा एव भवन्ति, सत्तारूपापन्नत्वात् ।
अतो भजनामन्तरेणैकत्र सत्तायाः अपरत्र च भेदानां नष्टत्वात् 'इदं द्रव्यम् एते च पर्यायाः' इति
नास्ति भेदः । न च प्रतिभासमानयोर्द्रव्य-पर्याययोः कथं पर्यायास्तिक-द्रव्यास्तिकाभ्यां प्रतिक्षेपः
इति वक्तव्यम् यतः प्रतिभासोऽप्रतिभासस्य बाधकः न तु मिथ्यात्वस्य; मिथ्यारूपस्यापि प्रतिभास-
नात् । तथाहि पर्यायास्तिकः प्राह—न मया द्रव्यप्रतिभासो निषिध्यते—तस्यानुभूयमानत्वात्—किन्तु १०
विशेषव्यतिरेकेण द्रव्यस्याप्रतिभासनात् अव्यतिरेके तु व्यक्तिस्वरूपवत् तस्यानन्वयात् उभयरूप-
तायाश्चैकत्र विरोधात् गत्यन्तराभावात् द्रव्यप्रतिभासस्तत्र मिथ्यैव । विशेषप्रतिर्भासस्त्वन्यथा,
बाधकाभावात् यतः प्रतिक्षणं वस्तुनो निवृत्तेर्नाशोत्पादौ पर्यायलक्षणं न स्थितिः । द्रव्यार्थिकस्तु
भजनोत्थापितस्वरूपः प्राह—अस्माकमप्ययमेवाभ्युपगमः—न विशेषप्रतिभासप्रतिक्षेपः किन्तु तस्य
भेदाभेदोभयविकल्पैर्बाध्यमानत्वाद् मिथ्यारूपतैव अभेदप्रतिभासस्तु अनुत्पादव्ययलक्षणस्य द्रव्यस्य १५
—तद्विषयस्य सर्वदाऽवस्थितेरबाध्यमानत्वात्—सत्य इति ॥ १० ॥

[निरपेक्षनयद्वयमेकमेव वस्तु यथा यथा मन्यते तथा विभज्य वर्णनम्]

कल्पनाव्यवस्थापितपर्यायास्तिक-द्रव्यास्तिकयोरेवंलक्षणप्रदर्शितस्वरूपयोर्मिथ्यारूपताप्रतिपत्तिः
सुकरा भविष्यतीत्याह—

उप(प्प)ज्जंति वियंति य भावा नियमेण पज्जवणयस्स । २०
दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पन्नमविणट्ठं ॥ ११ ॥

उत्पद्यन्ते प्रागभूत्वा भवन्ति विशेषेण निरन्वयरूपतया गच्छन्ति नाशमनुभवन्ति
भावाः पदार्थाः—नियमेन इत्यवधारणे पर्यायनयस्य मतेन—प्रतिक्षणमुत्पाद-विनाशस्वभावा
एव भावाः पर्यायनयस्याभिमताः । द्रव्यार्थिकस्य सर्वं वस्तु सदा अनुत्पन्नमविनष्टम्
आकालं स्थितिस्वभावमेवेति मतम् । एतच्च नयद्वयस्याभिमतं वस्तु प्राक् प्रतिपादितमिति न पुनरु-२५
च्यते ॥ ११ ॥

१-रूपं भ-आ० । २-ण होइ पज्जाए । चू० । ३-स्तिकंद्र-आ० । ४-द्रस्यापन्न-बृ० वा० पा० ।
५-धादिग-आ० हा० वि० । ६-भावस्त्व-आ० हा० वि० । ७-द्यास्तिक-बृ० वा० वा० । ८-कयोरेवल-
बृ० वा० बा० आ० । ९-स्यापि भ-पा० पा० ।

द्वादशगाथाव्याख्या।

[अन्योन्यसंयुक्तयोर्द्रव्य-पर्याययोर्नास्तित्वोक्तिपूर्वकमुत्पाद-व्यय-ध्रौव्याणां द्रव्यलक्षणत्वेन वर्णनम्]

परस्परनिरपेक्षं चोभयनयप्रदर्शितं वस्तु प्रमाणाभावतो न सम्भवतीत्याह—

दव्वं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।
५ उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा हंदि दवियलक्खणं एयं॥ १२॥

द्रव्यं पर्यायवियुक्तं नास्ति मृत्पिण्ड स्थास कोश कुशूलाद्यनुगतमृत्सामान्यप्रतीतेः। **द्रव्यविरहिताश्च पर्याया न सन्ति** अनुगतैकाकारमृत्सामान्यानुविद्धतया मृत्पिण्ड स्थास-कोश-कुशूलादीनां विशेषाणां प्रतिपत्तेः। अतो द्रव्यार्थिकाभिमतं वस्तु पर्यायाक्रान्तमेव न तद्विविक्तम् पर्यायाभिमतमपि द्रव्यार्थानुषक्तं न तद्विकलम् परस्परविविक्तयोः कदाचिदप्यप्रतिभासनात्।
१० किंभूतं पुनर्द्रव्यमस्तीत्याह-**उत्पाद-स्थिति-भङ्गा** यथाव्यावर्णितस्वरूपाः परस्पराविनिर्भागवर्तिनः, '**हन्दि**' इत्युपप्रदर्शने; **द्रव्यलक्षणं** द्रव्यास्तित्वव्यवस्थापको धर्मः **एतद्** दृश्यताम्, यतः पूर्वोत्तरपर्यायपरित्यागोपादानात्मकैकान्वयप्रतिपत्तिस्तथाभूतद्रव्यसत्त्वं प्रतिपादयतीत्युत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-लक्षणं वस्त्वभ्युपगन्तव्यम्। एतच्च त्रितयं परस्परानुविद्धम्, अन्यतमाभावे तदितरयोरप्यभावात्।

[उत्पाद-व्यय-ध्रौव्याणां परस्परव्याप्यत्वसमर्थनम्]

१५ तथाहि—न ध्रौव्यव्यतिरेकेण उत्पाद-व्ययौ सङ्गतौ, सर्वदा सर्वस्याऽनुस्यूताकारव्यतिरेकेण विज्ञान-पृथिव्यादिकस्याप्रतिभासनात्। न चानुस्यूताकारावभासो बाध्यत्वादसत्यः तद्बाधकत्वानुपपत्तेः यतोऽनुस्यूताकारस्य विशेषप्रतिभासो बाधकः परिकल्प्येत, स एव चानुपपन्नः। तथाहि—अनुगतरूपे प्रतिपन्ने अप्रतिपन्ने वा विशेषावभासोऽभ्युपगम्येत? यदि प्रतिपन्ने तदा किमनुस्यूतप्रतिभासात्मको विशेषप्रतिभासः, उत तद्व्यतिरिक्त इति कल्पनाद्वयम्। यद्यव्यति-
२० रिक्तस्तदा ध्रौव्यावभासस्य[1] मिथ्यात्वे विशेषावभासस्यापि तदात्मकत्वाद् मिथ्यात्वापत्तेः कथमसौ तस्य बाधकः? अथ द्वितीयो विकल्पस्तत्रापि ध्रौव्यप्रतिभासमन्तरेण स्थास-कोशादिप्रतिभासस्य तद्व्यतिरिक्तस्यासंवेदनात् कथं तद्बाधकतोपपत्तिः? न चाक्षव्यापारानन्तरमन्वयप्रतिभासमन्तरेण विशेषप्रतिभास एवोपजायत इति वक्तव्यम्, प्रथमाक्षव्यापारे प्रतिनियतदेशवस्तुमात्रस्यैव प्रतीतेः; अन्यथा तत्र विशेषावभासे संशयाद्यनुत्पत्तिप्रसक्तिः, विशेषावगतेस्तद्विरोधित्वात्। न च तदुत्तर-
२५ कालभाविसादृश्यनिमित्तैकत्वाध्यवसायनिबन्धनेयं संशयाद्यनुभूतिः प्राग् विशेषावगमे एकत्वाध्यवसायस्यैवासम्भवात् अनुभूयते च दूरदेशादौ वस्तुनि सर्वजनसाक्षिकी प्राक् सामान्यप्रतिपत्तिः तदुत्तरकालभाविनी च विशेषावगतिः। अत एव अवग्रहादिज्ञानानां कालभेदानुपलक्षणेऽपि क्रमोऽभ्युपगन्तव्यः उत्पलपत्रशतव्यतिभेद[10] इव। द्वितीयविकल्पोऽप्यत[11] एवानभ्युपगमार्हः, अनुगताकाराप्रतिपत्तौ तद्विशेषावभासस्यासम्भवादिति। नहि मूल-मध्याऽग्रानुस्यूतस्थूलैकाकारप्रति-
३० भासनिह्नवे विविक्ततत्परमाणुप्रतिभासानपह्नव इति कुतस्तस्य स्वविषयव्यवस्थापनद्वारेणान्यबाधकत्वम्? न चैकत्वप्रतिभासस्य मिथ्यात्वम् तद्विषयस्य विकल्प्यमानस्याघटमानत्वादिति वक्तव्यम्, विकल्पमात्रात् प्रमाणस्यान्यथात्वायोगात्। न चानुगतावभासस्याप्रामाण्यम्, तन्निबन्धनाभावात्। न च क्षणिकानेकनिरंशपरमाण्ववभासस्तन्निबन्धनम्, तस्याभावात्। न ह्यसंवेद्यमानस्तथाभूतावभासः प्रमाणम् इतरद् वा, प्रतीतिधर्मत्वात् प्रमाणेतरयोः। न च सञ्चितपरमाणु-

---

१-ज्ञाति पृ–वा० बा०। २-गम्यते भू० ल०। ३-स्य त मि-वा० बा०। ४-ध्यात्वधि–आ० हा० वि०। ५-ध्याप–वा० बा०। ६-धकोपप–आ० हा० वि०। ७-पारप्र–वा० बा०। ८ "सशय" विरोधित्वात्–भू० ल० मां० टि०। ९-क्षणोऽपि भा० मा०। १०-तिभेदा इ–भा० मां०। ११ "'अप्रतिपन्नम्' इत्ययम्"–भू० ल० मां० टि०। १२-व्यं किं वि–आ० हा० वि०। १३-गात् तान् न वा० बा०

निबन्धन एवायमनुस्यूतस्थूलावभासः, सञ्चितेष्वपि तेषु प्रत्येकं समुदितेषु वा स्थूलरूपतायाः परेणानभ्युपगमात्; सञ्चयस्य च वस्तुरूपस्यैकस्य द्रव्यपक्षोक्तदोषप्रसक्तितोऽनिष्टेः । न चान्यथावभासोऽन्यथाभूतार्थव्यवस्थापकः अतिप्रसक्तेः । तत्र आलम्बनप्रत्ययतया परमाणवः स्थूलावभासजनकाः तत्र स्वरूपानर्पकत्वेनाप्रतिभासनात्; स्थूलाकारस्य वा तेष्वनुस्यूतज्ञानावभासिनो भावेऽनुगतव्यावृत्तहेतुफलरूपभावाभ्युपगमात् परवादाभ्युपगमप्रसक्तिः । यदि च स्तम्भादिप्रतिभासो ५ मिथ्या तर्ह्यतथाभूते तथाभूतारोपणं मिथ्येत्यन्यथाभूतवस्तुसद्भावावेदकं प्रमाणं वक्तव्यम् । तत्र न प्रत्यक्षम् उक्तोत्तरत्वात् । नाप्यनुमानम् क्षणिकपरस्परविविक्तपरमाणुस्वभावभावकार्यादर्शनात् स्थूलैकस्वभावस्य चोपलभ्यमानस्य न तत्कार्यत्वम्, तस्यावस्तुसत्त्वेन परैरभ्युपगमात् । न चावस्तुसत् कस्यचिद् व्यवस्थापकम् अतिप्रसङ्गात् । वस्तुसत्त्वेऽपि न तस्य क्षणिकविविक्तपरमाणुव्यवस्थापकत्वम्, तस्य तद्विरुद्धत्वात् । न हि पावकप्रतिभासो जलव्यवस्थापकत्वेन प्रसिद्धः । न च वनादिप्रत्ययतः १० शिंशपादिविशेषावगतिरिवात्रापि भविष्यतीति वक्तव्यम्, शिंशपादेः प्राक् प्रतिपत्तेर्वनादेश्च तद्धर्मतया वस्तुत्वात् परमाणूनां न कदाचनापि प्रतिपत्तिः । नापि तद्धर्मतया वस्तुत्वाभ्युपगमः स्थूलस्य पराभ्युपगमविषयः, वस्तुत्वाभ्युपगमे तु तस्य स्यात् सूक्ष्मव्यवस्थापकता, सूक्ष्मापेक्षित्वात् स्थूलस्य अन्यथा तदयोगात् । सूक्ष्मपर्यन्तरूपश्च परमाणुः तस्याभेद्यत्वात् । भेद्यत्वे वा वस्तुत्वापत्तेः तदवयवानां परमाणुत्वापत्तिः, भेदपर्यन्तलक्षणत्वात् परमाणुस्वरूपस्य ।   १५

न च ध्रौव्योत्पत्तिव्यतिरेकेण प्रतिक्षणविशरारुता अणूनामपि सम्भवति, तयोरभावे एकक्षणस्थितीनामपि तेषामभावात् कुतो विनश्वरत्वम् ? अथ देशकालनियतस्य स्थैर्याभावेऽपि क्वचित् कदाचित् पदार्थस्य वृत्तेरन्यदा अन्यत्र च निवृत्तिः, नैतदेवम्; अन्यदा अन्यत्र चावृत्तेरेवानिश्चयात् । तथाहि–कार्य कारणयोः परस्परतो व्यावृत्तिः कथञ्चिदनुस्यूतमेकमाकारं बिभ्रतोर्विज्ञानग्राह्यग्राहकाकारयोरिवापरित्यक्ततादात्म्यस्वरूपयोः, आहोस्वित् घट पटयोरिवात्यन्तभिन्नस्वरूपयोः इत्यत्र २० न निश्चयः । किञ्च, प्रत्यक्षेणैव हेतु–फलयोः कथञ्चित्तादात्म्यस्य निश्चयाच्च घट पटयोरिवात्यन्तव्यावृत्तिस्तयोः परस्परतोऽभ्युपगन्तव्या, न ह्यध्यक्षतः प्रसिद्धस्वरूपं वस्तु तद्भावे प्रमाणान्तरमपेक्षते, अग्निरिवोष्णत्वनिश्चये । न च कालभेदान्यथानुपपत्त्या प्रतिक्षणं भेदेऽपि पूर्वोत्तरक्षणयोःकथञ्चित्तादात्म्यं वस्तुनो विरुध्यते येनाध्यक्षविरुद्धो निरन्वयविनाशः कल्पनामनुभवति अध्यक्षविरोधेन प्रमाणान्तरस्याप्रवृत्तेः । न चानुवृत्ति–व्यावृत्त्योः परस्परं विरोधैकान्ताभ्युपगमे विज्ञान- २५ मात्रमपि सिध्येदिति कुतः क्षणस्थितिर्भावानां निरन्वया व्यावृत्तिर्वा सिद्धिमासादयेत् ? अन्तर्बहिश्च भावानामनुगतव्यावृत्तात्मकत्वात् प्रमाणतस्तथैवानुभवात् तत्स्वरूपाभावे निःस्वभावतया भावाभावप्रसक्तेः । यदि च परस्परव्यावृत्तस्वभावानां परमाणूनां कथञ्चिदनुवृत्तस्थूलैकाकारः पारमार्थिको न भवेत् न किञ्चिद् बहिरध्यक्षेऽवभासेत, परमाणु–पारिमाण्डल्य–नानात्व–परोक्षस्वभावत्वस्वभावानां सञ्चितेष्वप्यणुषु स्थूलैकाकाराध्यक्षस्वभावेन विरोधात् अविरोधे वाऽनेकान्तत्वप्र- ३० सक्तेः तथाभूतस्वभावसद्भावेऽपि तेषु पारिमाण्डल्य–नानात्व–परोक्षत्वस्वभावानपायात् । अपाये वा परमाणुरूपतात्यागात् स्थूलैकाकारस्य तेषु सांवृतत्वे साकाराध्यक्षाऽजनकत्वेन न किञ्चिदपि तत्र प्रतिभासेत, तदनध्यक्षत्वे तत्प्रत्यनीकस्य स्वभावस्य पारिमाण्डल्यादेश्चक्षुरादिबुद्धौ रसादेरिवाप्रतिभासनाद् बहिरर्थप्रतिभासशून्यं जगद् भवेत् । स्थूलैकाकारग्राह्यवभासस्य च भ्रान्तत्वे न किञ्चित् कल्पनापोढं प्रत्यक्षमभ्रान्तं भवेत्, तदभावे च प्रमाणान्तरस्याप्यप्रवृत्तेरन्तर्बाह्यरूपस्य ३५ प्रमेयस्याव्यवस्थितेर्न कस्यचिदभ्युपगमः प्रतिक्षेपो वेति निर्व्यापारं जगद् भवेत् । तस्मात् क्षणस्थितिधर्मणोऽपि बाह्यान्तर्लक्षणस्य वस्तुनः परस्परव्यावृत्तपरमाणुरूपस्य कथञ्चिदनुवृत्तिरभ्युप-

---

१ तत्र आ–वृ० वा० बा० हा० वि० । २–स्य ते–ल० । ३–गमाप्र–आ० । ४–स्य त–भा० । ५–स्तुत्वे–वृ० वा० बा० भां० मां० विना । ६–मात् तथा घ–आ० । ७–भासोऽपि प्रतिपत्तिः नापि तद्धर्मजलव्य–वा० बा० । ८–ल प–वा०बा० । ९ सूक्ष्माव्य–आ० । १०–द्यत्वे चा व–ल० । ११ –भावोऽपि भा० मां० । १२ किं न प्र–आ० । १३–न्त स्याप्र–वृ० वा० बा० । १४–मननुग–भा० मां० । १५–कारोऽध्य–आ० हा० वि० । १६–भावेषु वि–वा० बा० । १७–धात् वि–भां० मां० । १८–भासते त–भां० मा० आ० हा० वि० ।

गन्तव्या, अन्यथा प्रतिभासविरतिप्रसक्तेः। तदभ्युपगमे च परस्परव्यावृत्तयोर्हेतु-फलयोरपि प्रत्यक्ष-
गता अनुगतिरभ्युपगमनीयैव, कल्पनाज्ञाने[1] भ्रान्तसंविदि वा स्वसंवेदनापेक्षया विकल्पेतरयोर्भ्रा-
न्तेतरयोश्च परस्परव्यावृत्तयोराकारयोः कथञ्चिद् अनुवृत्तिमभ्युपगच्छन् कथमध्यक्षां हेतु-फलयो-
रनुवृत्तिं प्रतिक्षिपेत्? संशयज्ञानं वा परस्परव्यावृत्तोल्लेखद्वयं बिभ्रद् यद्येकमभ्युपगम्यते कथं न पूर्वा-
५ परक्षणप्रवृत्तमेकं हेतुफलरूपं वस्तु? शब्द-विद्युत्-प्रदीपादीनामप्युत्तरपरिणामाप्रत्यक्षत्वेऽपि तस्य
सद्भावोऽभ्युपगन्तव्यः, पारिमाण्डल्यादिवत् संविद्ग्राह्याकारविवेकवद् वा अध्यक्षस्यापि केनचिद्
रूपेण परोक्षता, अविरोधात्। न च पारिमाण्डल्यादेः प्रत्यक्षतेति वाच्यम्, शब्दाद्युत्तरपरिणामेऽप्यस्य
वक्तुं शक्यत्वात् विशेषाभावात्। अत एव अन्ते क्षयदर्शनात् प्रागपि तत्प्रसक्तिरिति न वक्तव्यम्,
मध्ये स्थितिदर्शनस्य पूर्वापरकोटिस्थितिसाधकत्वेन प्रसिद्धेः। न हि शब्दादेरनुपादाना उत्पत्तिर्यु-
१० क्तिमती, नापि निरन्वया सन्ततिविच्छित्तिः, चरमक्षणस्याकिञ्चित्करत्वेऽवस्तुत्वापत्तितः पूर्वपूर्व-
क्षणानामपि तदापत्तितः सकलसन्तत्यभावप्रसक्तेः। न च शब्दादेर्निरुपादानोत्पत्त्यभ्युपगमेऽन्ये-
षामपि सा सोपादानाऽभ्युपगन्तुं युक्ता; तथा च सुप्तप्रबुद्धबुद्धेरपि निरुपादानोत्पत्तिप्रसक्तिः
तत्रापि शब्दादेरिव प्रागुपादानादर्शनात्। न चानुमीयमानमत्रोपादानम्, शब्दादावपि तथाप्रस-
ङ्गात्। न च 'दृष्टस्यार्थस्याखिलो गुणो दृष्ट एव' इति परिणामसाधनं निरवकाशम्, दृष्टेऽप्यर्थे
१५ पारिमाण्डल्यादेर्ग्राह्याकारविवेकादेर्वा अंशस्यादृष्टत्वेनानुमीयमानत्वात्, एवं च परिणामसाधनं
निरवद्यमेव। यदि हि दृष्टस्याऽदृष्टोऽशः सम्भवति कथमुत्पन्नस्वभावस्यानुत्पन्नः कश्चनाऽऽत्मा न
सम्भवी? स्वभावभेदस्य भावभेदसाधनं प्रत्यनैकान्तिकत्वेन प्रदर्शितत्वात्। तस्माद् वस्तु यत्
नष्टं तदेव नश्यति नङ्क्ष्यति च, यदुत्पन्नं तदेवोत्पद्यते उत्पत्स्यते च कथञ्चित्, यदेव स्थितं तदेव
तिष्ठति स्थास्यति च कथञ्चिदित्यादि सर्वमुपपन्नमिति भावस्योत्पादः स्थितिविनाशरूपः विनाशोऽपि
२० स्थित्युत्पत्तिरूपः स्थितिरपि विगमोत्पादात्मिका कथञ्चिदभ्युपगन्तव्या।

सर्वात्मना चोत्पादादेः परस्परं तद्वतश्च यद्यभेदैकान्तो भवेत् नोत्पादादित्रयं स्यादिति न
कस्यचित् कुतश्चित् तद्वत्ता नाम। न च वस्तुशून्यविकल्पोपरचितत्रयसद्भावात् तद्वत्ता युक्ता
अतिप्रसङ्गात्; खपुष्पादेरपि ततस्तद्वत्ताप्रसक्तेः। न चोत्पादादेः परस्परतः तद्वतश्च भेदैकान्तः,
सम्बन्धासिद्धितो निस्स्वभावताप्रसक्तेः। एतेन 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययोगाद् यदि असतां सत्त्वम्
२५ शशशृङ्गादेरपि स्यात् सतश्चेत् स्वरूपसत्त्वमायातम्, तथोत्पाद व्यय ध्रौव्याणामपि यद्यन्यतः सत्त्वम्
अनवस्थाप्रसक्तिः स्वतश्चेत् भावस्यापि स्वत एव तद् भविष्यतीति व्यर्थमुत्पादादिकल्पनम् एवं
तद्योगेऽपि वाच्यम्' इत्यादि यदुक्तम् तन्निरस्तं द्रष्टव्यम् एकान्तभेदाभेदपक्षोदितदोषस्य कथञ्चि-
द्भेदाभेदात्मके वस्तुन्यसम्भवात्। नहि भिन्नोत्पाद व्यय ध्रौव्ययोगाद् भावस्य सत्त्वमस्माभिरभ्यु-
पगम्यते किन्तु 'उत्पाद-व्यय ध्रौव्ययोगात्मकमेव सत्' इत्यभ्युपगमः। विरोधादिकं चात्र दूषणं
३० निरवकाशम्, अन्तर्बहिश्च सर्ववस्तुनस्त्रयात्मकस्याबाधिताध्यक्षप्रतिपत्तिविषयत्वात् स्वरूपे विरोधा-
सिद्धेः; अन्यथातिप्रसक्तेः। एकान्तनित्यानित्यस्य प्रमाणबाधितत्वात् अनुभयरूपस्य चासम्भवात्
शून्यताया निषेत्स्यमानत्वात् पारिशेष्यात् कथञ्चित् नित्यानित्यं वस्तु अबाधितप्रमाणगोचरमभ्यु-
पगन्तव्यम्।

अत एव "उत्पाद-व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्" [तत्त्वार्थ० अ० ५ सू० २९] इति सल्लक्षणम्,
३५ अन्यस्य तल्लक्षणत्वानुपपत्तेः। न तावत् सत्तायोगः सत्त्वम्, सामान्यादिना अव्यापकत्वात् निषि-
द्धत्वाच्च सत्तायास्तद्योगस्य वेति। नाप्यर्थक्रियालक्षणं सत्त्वम्, नश्वरैकान्ते तस्यासम्भवात् तस्य
क्वचिदप्यभावात्। उत्पाद स्थितिस्वभावरहितस्य नश्वरत्वे खपुष्पादेरेव तत् स्यात् न घट-सुखादेः,
क्षणस्थितिरेव जन्म विनाशश्च यद्यभ्युपगम्येत कथमनेकान्तसिद्धिर्न स्यात्? न च क्षणात् पूर्वम-
स्थितौ भावानां किञ्चित् प्रमाणमस्तीति प्रतिपादितम्। न चावस्थितावपि न प्रमाणमिति वक्तव्यम्।
४० प्रत्यक्षस्य तत्र प्रमाणत्वात्। न च सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भाद् अनवधारितक्षणक्षयस्यैकत्व-
प्रतिपत्तिर्भ्रान्तेति वक्तव्यम्, निरन्वयविनाशप्रसाधकप्रमाणाभावात्। न चाक्षणिके क्रम-यौगपद्या

१-चाऽस्व-वृ०। २ वाच्यम्-भा० मां०। ३ तदुत्पत्तितः भां० मां०। ४ स्यात् स्वत-वृ० स०। ५ पृ० ११० पं० ९। ६ "अर्थक्रियात्मकसत्त्वस्य"-वृ० ल० मां० टि०।

भ्यामर्थक्रियाविरोधात् ततो निवर्त्तमानं सत्त्वं निरन्वयविनश्वरस्वभावमिति सत् क्षणिकमेवेति प्रमाणम्, क्षणिकेऽपि तथैवार्थक्रियाविरोधात्। तथाहि–क्षणिकत्वे कार्य-कारणयोर्यौगपद्येन कुतः कार्यकारणभावव्यवस्था? क्रमोत्पादे हेतोरसतः कुतः फलजनकत्वम्? निरन्वयविनाशाभ्युपगमे चानन्तरं विनष्टस्य चिरतरविनष्टस्य च विनष्टत्वाविशेषाच्चिरतरविनष्टादपि कार्योत्पत्तिप्रसक्तिः। भावस्य हि विद्यमानत्वाद् अनन्तरकार्योत्पादनसामर्थ्यम् न व्यवहिततदुत्पादनसामर्थ्यमिति[1] विशेषो युक्तः न पुनरभावस्य, निःस्वभावत्वाविशेषात्। अनेकान्तवादिना हि कथञ्चिद्भेदाभेदौ हेतु-फलयोर्व्यवस्थापयितुं शक्यौ संवेदनस्य ग्राह्यग्राहकाकारयोरिव। भेदाऽभेदैकान्तौ तु परस्परतो न विशेषमासादयत इति न निरन्वयविनाशव्यवस्था नित्यताव्यवस्था वा कर्तुं शक्या, यतो न क्षणिकपक्षेऽपि सत्ताव्यतिरेकेण अपरार्थक्रिया सम्भवति सा चाक्षणिकेऽपि समाना। यथा हि क्षणिकस्य स्वसत्ताकाले कुर्वतोऽपि कार्यं स्वत एव न भवति, भावे वा कार्य-कारणयोर्यौगपद्येन न १० कार्यकारणव्यवस्था नापि सन्तानव्यवस्था भवेत् किन्तु कार्यस्य स्वकालनियमात् तत्तदभावाविशेषेऽपि द्वितीय एव क्षणे भावः तथा अक्षणिकस्यापि प्रागपि विवक्षितकार्योत्पादनसामर्थ्ये ततो भवत् कार्यं स्वकालनियतमेव भविष्यतीति समानं पश्यामः। न चासति कारणविनाशे कार्योत्पत्तिर्न भवतीत्यत्र निबन्धनं किञ्चिदस्ति येनाक्षणिकात् कार्योत्पत्तिर्न भवेत्। यदि चाक्षणिकस्य कार्योत्पत्तिक्षणे स्थितिः कार्योत्पत्तिप्रतिबन्धहेतुः एवं क्षणिकस्यापि तदा तदभावः किं न प्रतिबन्धहेतु- १५ र्भवेत्? यदि च कारणविनाशे कार्योत्पत्तिः, स प्रागिव चिरतरविनष्टे कारणेऽस्तीति तदापि कार्योत्पत्तिः स्यात्। अथ कार्योत्पत्तिकाले नैव कारणसन्निधेरुपयोगः; ननु कारणव्यावृत्तेरपि तदुत्पत्तिकाले नैव कश्चिदुपयोगः, यतः कारणव्यावृत्तौ कार्यं भवेत्। कारणव्यावृत्तिश्च तदभावः, स च प्राक् पश्चादपि कालान्तरेऽस्त्येवेति सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसक्तिरित्युक्तम्। न च कारणस्य प्राग्भावित्वमात्रं कार्योत्पत्तावुपयोगः तस्याकारणाभिमतेष्वपि जगत्क्षणेषु भावात्; तद्विशेषकल्पनायास्त्व- २० क्षणिकेष्वप्यविरोधात्। तथाहि–यद् यदा यत्र कार्यमुदियत्तु तत् तदा तत्रोत्पादनसमर्थमक्षणिकं वस्त्विति कल्पनायां न काचित् क्षतिः। न च स्वयमेव प्रतिनियतसमयस्य कार्यस्योत्पत्त्यभ्युपगमे न किञ्चित् कारणाभिमतभावेन तस्य कृतमिति न तत् कार्यतया तद्व्यपदेशमासादयेदिति वक्तव्यम्, क्षणिकपक्षेऽप्यस्य समानत्वात्। तस्मात् कथञ्चिद् व्यवस्थितस्यैव भावस्य जन्म-विनाशयोर्दर्शनाद् यथादर्शनं हेतुफलभावव्यवस्थितेः परिणामसिद्धिः समायाता। २५

न चाभेदबुद्धिर्भ्रान्ता, भेदबुद्धावपि तत्प्रसक्तेः, स्वप्नावस्थाहस्त्यादिभेदबुद्धिवत्। न च मिथ्याबुद्धीनामपि विसंवादो भावमात्रे, भेदेष्वेव तद्दर्शितेषु विप्रतिपत्त्युपलब्धेः। तस्माद् अक्षणिकत्वे क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् क्षणिकत्वमभ्युपगच्छन् क्षणिकानामर्थक्रियादर्शनमभ्युपगच्छेत्; अन्यथा सत्त्वादेर्हेतोर्विपक्षव्यावृत्तिप्रसाधिकाया अनुपलब्धेर्व्यतिरेकासिद्धेरक्षणिकत्वेऽर्थक्रियाविरोधः क्षणिकत्वेऽर्थक्रियोपलम्भमन्तरेण कथं सिद्धिमासादयेत्? न चाक्षणिकेऽर्थक्रिया- ३० विरोधादेव क्षणिकेऽर्थक्रियोपलब्धिः, इतरेतराश्रयप्रसक्तेः। [?? तथाहि–विपक्षे प्रत्यक्षवृत्तेरनुपलब्धेर्व्यतिरेकसिद्धिः, तत्र प्रत्यक्षवृत्तिरक्षणिकत्वेऽर्थक्रियाविरोधात् तद्विरोधसिद्धिरनुपलब्धेर्व्यतिरेकनिश्चयात् तद्विपक्षे प्रत्यक्षवृत्तेरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् ??]। क्षणिकत्वेऽपि च भावानां यथातत्त्वमुपलम्भनियमाभावाद् ग्राह्यग्राहकाकारसंवेदनवद् अयथातत्त्वोपलम्भसम्भवाच्च क्षणिकत्वमध्यक्षगोचर इत्यतोऽप्यनेकान्तः सिद्धिमासादयति। न च सदृशापरापरोत्पत्तिरनिश्चयहेतुः, भेदैकान्ते ३५ तस्या अप्ययोगात्। न हि तत्र सादृश्यं भावानां व्यतिरिक्तमव्यतिरिक्तं वा सम्भवति। न चाविद्यमानमनुपलभ्यमानं वा तद् विभ्रमहेतुः, अतिप्रसङ्गात्। न च विशेषाणां स्थितिभ्रान्तिजननशक्तिरेव सादृश्यम्, क्षणिकावेदकप्रमाणान्तराभावतः स्थितिप्रतिपत्तेर्भ्रान्त्यसिद्धेः। न चान्यादृग्भूतं

---

१ कर्तुं युक्ता य-मां०। २-कस्य स-वृ०। ३-पद्येन कार्य-वा० बा०। ४ भवेत् ल० मां० मा०। ५-ति सामान्यं प-वा० बा०। ६ "प्राग्भावित्वम्"-वृ० ल० मां० टि०। ७ पृ० २५७ पं० २४-२७ तथा टि० २७। ८-मर्थ क्ष-वृ० बा० या०। ९-बुद्धिभ्रा-वृ०। १० "ग्रत्यक्षाद्ध"-प्रसज्यते:-मां०टि०। ११-भावात् स्थि-आ०।-भावातः स्थि-हा० वि०।-भावतः सिद्धिस्थि-वा० बा०।

वस्तु अबाधितप्रतिपत्तिजन्मनो हेतुरभ्युपगन्तव्यम्, अभ्रान्तप्रतिपत्तेर्वस्त्वव्यवस्थापकत्वेन प्रतिनियतव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेः। अत एव उपलब्धमपि क्षणिकत्वं विषमद्य इव न निश्चिनोतीत्युदाहरणमप्यसिद्धम्, यथावस्तूपलम्भनियमाभावात्।

यदपि 'ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षास्ते तद्भावनियताः, यथा अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने, ५ विनाशं प्रत्यनपेक्षश्च भावः' इत्यभिधानम्, तदपि परिणामप्रसाधकम्; भावस्योत्तरपरिणामं प्रत्यनपेक्षतया तद्भावनियतत्वोपपत्तेः। पूर्वक्षणस्य स्वयमेवोत्तरीभवतोऽपरापेक्षाऽभावतः क्षेपायोगात्, उत्पन्नस्य चोत्पत्ति-स्थिति-विनाशेषु कारणान्तरानपेक्षस्य पुनः पुनरुत्पत्ति-स्थिति-विनाशत्रयमवश्यं भावि तदेवं कस्यचिदंशस्य पदार्थाध्यक्षतायामप्यनिर्णये तस्य सांशतामभ्युपगच्छन् कथमंशेनोत्पन्नस्यांशान्तरेण पुनः पुनरुत्पत्तिं नाभ्युपगच्छेत् येनैकं वस्त्वनन्तपर्यायं नाङ्गीकुर्वीत? न चैका-१० न्तसाधने उदाहरणमपि किञ्चिदस्ति, अध्यक्षाधिगतमनेकान्तमन्तरेणान्तर्बहिश्च वस्तुसत्त्वानुपपत्तेः। न च निरन्वयविनाशमन्तरेण किञ्चिद् वस्तु अनुपपद्यमानं संवेद्यते, यतो बहीरूप-संस्थानाद्यात्मना अध्यक्षप्रतीतमनेकान्तमन्तर्विकल्पाविकल्पस्वरूपं संशय-विपर्याससंवेदनात्मकं वा स्वसंवेदनसिद्धमपहाय निरन्वयक्षणक्षयलक्षणं वस्तु प्रकल्पेत। न चानुस्यूतिव्यतिरेकेण ज्ञानानां कार्यकारणभावोऽपि युक्तिसङ्गतः आस्तां स्मृति-प्रत्यभिज्ञा-वासना-सन्तानादिव्यवहारः। नहि भेदाविशे-१५ षेऽपि कथञ्चित् तादात्म्यमन्तरेण भेदानामयं नियमः सिद्धिमासादयति केषाञ्चिदेव, अन्यथा ग्राह्यग्राहकाकारयोरपि तादात्म्याभावप्रसक्तिर्भवेत् यतः शक्यमत्राप्येवं वक्तुम्-ग्राह्यग्राहकानुभवयोः स्वकारणवशाद् भिन्नस्वभावयोरेव प्रतिक्षणं विशिष्टयोरुत्पत्तिस्तेन रूपेणेति। एवं च–

"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः[6]।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥" [ ]

२० इत्ययुक्तमेवाभिधानं स्यात्। परेणापि चैवं वक्तुं शक्यत एव–

"परमात्माऽविभागोऽप्यविद्याविप्लुतमानसैः।
सुख-दुःखादिभिर्भोगैर्भेदवानिव लक्ष्यते॥" इति।

न हि भेदाऽभेदैकान्तयोरागमोपलम्भं परमार्थादर्शनं च प्रति कश्चिद् विशेषः संलक्ष्यते कथञ्चित् परमार्थदर्शनाभ्युपगमे च 'उत्पन्नं कथञ्चित् पुनरुत्पादयेत्' इत्यनेकान्तसिद्धिः स्यादित्युक्तम्। २५ स्वलक्षणस्य परमात्मनो वा परमार्थसतः सर्वथाऽनुपलम्भैकान्ताभ्युपगमे परीक्षाक्षमस्य संवृतिरूपस्याविद्यास्वभावस्य वा दर्शनासम्भवाद् अनेकान्तात्मकस्य सतः सर्वथैकान्तव्युदासेन प्रमाणतो दर्शनमायातमिति कथं तत्प्रतिक्षेपः? न च संवृतेरेवोत्पाद-विनाशाभ्युपगमः, क्षणस्थितिव्यतिरेकेणापरस्य परमार्थसल्लक्षणलक्ष्यस्याभावात् क्षणस्थायिन एव स्वलक्षणताभ्युपगमात् क्षणव्यवस्थितयश्च ग्राह्यग्राहकसंवित्त्यादयोऽध्यक्षत्वेनेष्यन्ते तदस्वलक्षणत्वे कोऽपरः स्वलक्षणार्थो ३० भवेत्? तदाकारविविक्तस्यापरस्यात्यन्तानुपलम्भतः प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः। न चानंशमसाधारणं स्वलक्षणं सांशमिव विपर्यासात् प्रतिभातीति वक्तव्यम् अकार्यकारणरूपं कार्यकारणरूपमिव सर्वं विकल्पातीतं सविकल्पमिव पुरुषतत्त्वं प्रतिभातीत्येवं पराभिधानस्यापि सम्भवादित्युक्तत्वात्। ततश्च न कस्यचिद् उत्पादः क्षयो वा भवेत्। न चोत्पाद-विनाशयोः भ्रान्तिकल्पनायां किञ्चिदप्यभ्रान्तं सिध्येत्, निरंशक्षणक्षयाद्यवभासाभावात् स्वसंवित्तिसद्भावमात्रसिद्धेरप्यभावप्रसङ्गात्। ३५ क्षणक्षयाद्यवभासस्यासत्यत्वे सैवानेकान्तसिद्धिः समापतति। अथ नेयमसती संवित्तिः कुतश्चिन्निमित्तात् सतीव प्रतिभाति किन्तु सत्येव प्रतिभातीत्यस्याः स्वभावसिद्धिः; नन्वेवं न सर्वथापि भ्रमः सिध्येत् किन्तु भ्रान्ताभ्रान्तैकविज्ञानाभ्युपगमादनेकान्तवाद एव पुनरपि सिद्धिमायातः।

---

१ यद्भावं ल० मां० मां० आ० हा० वि०। पृ० ३२३ प० २५ तथा टि० १२। २ "विलम्बा"योगात्–भृ० ल० टि०। ३–स्तु न स–ल०। ४–पस्या–वा० बा०। ५–स्यूतव्य–ल०। ६ अष्टस० पृ० ९३ प० १८। स्याद्वादर० पृ० ८९ द्वि० प० ६। श्लो० वा० पार्थ० व्या० पृ० २७२ प० १५। सर्वदर्शनसं० द० २ पृ० ३२ प० २०६। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० २१५ द्वि० प० २। ७ न हि नहि भे–भृ० वा० बा०। ८ "स्थूल"कारविविक्तस–मा० टि०। ९–स्यात्य–आ० हा० वि०। १०–कार्यकर–भां० मां०। ११ सविकल्पातीतं सविकल्पमिव वा० बा०। १२ "क्षणज्ञानं सत्यमसत्यं चेति विकल्पौ"–मां० टि०।

यदपि 'कार्य-कारणयोरभेदाभावः सिध्यति भेदात् अकार्यकारणवत्' इति, तदपि ग्राह्यग्राहक-संवित्त्यादिभिरनैकान्तिकमित्युपेक्षामर्हति। नहि स्वभावभेदात् अभेदे ग्राह्यग्राहकसंवित्त्यादेः काल-भेदाद्धेतु-फलयोरभेदाभावो युक्तः कालभेदादपि स्वरूपभेद एव भावानामवसेयः स्वभावतोऽभि-न्नस्य कालभेदादपि भेदायोगात्–स्वभावभेदश्चेन्न भेदकः कालभेदः कोपयोगी? इति न तद्भेदात् कार्यकारणयोरात्यन्तिकभेदसिद्धिः एवं चांशेन वृत्तिः कार्ये कारणस्योपपन्ना। न च प्रतिक्षणमंशवृत्तौ ५ दृष्टान्ताभावः संवित्तेर्ग्राह्यग्राहकाकारादेर्दृष्टान्तत्वेन सिद्धत्वात् अनंशवृत्तिस्तु न क्वचिदर्थस्य प्रमाणसिद्धा या दृष्टान्तत्वेन प्रदर्श्येत सर्वस्य सांशवृत्तितयोपलब्धेः। ततो नाध्यक्षसिद्धमनुगमस्व-रूपं भावानां लक्षणं प्रतिक्षेप्तुं युक्तम् तत्प्रतिक्षेपे प्रमाणान्तराभावात्। नहि सुखादि-नीलादीनां निरन्वयानां क्वचित् संवेदनमध्यक्षम् अनुमानं वाऽनुभूयते। नापि तेषां भेदविकलानां कदाचि-दप्यनुभूतिरिति यथा संविदाकारमन्तरेण ग्राह्यग्राहकाकारयोरसंवित्तेरनुपपत्तिस्तथा तावन्तरेण १० तस्या अप्यसंवित्तेरनुपपत्तिरिति भेदाभेदरूपं सर्वं प्रमाणप्रमेयलक्षणमभ्युपगन्तव्यम्।

न च पूर्वापराऽधोमध्योर्ध्वादिभेदाभावेऽनुगताकारलक्षणं सामान्यं तेष्वेकाकारप्रतिभासग्राह्यं सम्भवति, अनुगतिविषयाभावे तदनुगतैकाकारस्याप्यभावात्; तदभावे च तद्वृत्तेः सामान्यस्या-भाव एव। न च तेष्ववर्त्तमानमपि तत् सामान्यं व्यक्त्यन्तरस्वरूपवत्। किञ्च, तदनुगतं रूपं व्यावृ-त्तरूपाभावे किं कार्यरूपम्, उत कारणरूपम्, आहोस्विदुभयात्मकम्, उतानुभयस्वभावम्, इति १५ विकल्पाः। आद्यविकल्पे तस्यानित्यत्वप्रसक्तिः। द्वितीयेऽपि सैवेति न तत् सामान्यस्वभावम्। तृतीयपक्षे उभयदोषप्रसक्तिः। तुर्यविकल्पेऽप्यभावप्रसङ्ग इति विशेषाभावे नानुगतिरूपसामान्यस-म्भवः सम्भवेऽपि तत्प्रतिपादकं प्रमाणमभिधानीयम्, तच्चाक्षणिकत्वविरोधि कथञ्चित् क्षणिक-त्वावभासितयाऽनुभूयत इति विपर्ययसाधकं भवेत् कथञ्चित् क्षणिकत्वावभासस्य भ्रान्तत्वे विप-रीतावभासस्यापि भ्रान्तत्वप्रसक्तिः। तदवभासस्याभ्रान्तत्वे वा भ्रान्ताभ्रान्तरूपमेकं विज्ञानमेकान्त-२० पक्षप्रतिक्षेप्यनेकान्तं साधयतीत्यलमतिप्रसङ्गेनेति स्थितमेतत्—ध्रौव्यमुत्पाद-व्ययव्यतिरेकेण न सम्भवति तौ च तदन्तरेणेत्युत्पाद-स्थिति-भङ्गा अपरित्यक्तात्मस्वरूपास्तदितरस्वरूपत्वेन त्रैलक्षण्यं प्रत्येकमनुभवन्तो द्रव्यलक्षणतामुपयान्ति अन्यथा पृथक्पक्षोक्तदोषप्रसक्तिर्दुर्निवारेति व्यवस्थितम् उत्पाद-स्थिति-भङ्गा द्रव्यलक्षणम् इति ॥ १२ ॥

[स्वतन्त्राणामुत्पाद-व्यय-ध्रौव्याणां द्रव्यलक्षणत्वाभावात् प्रत्येकं नयद्वयस्य मिथ्यात्वकथनम्] २५

एते च परस्परसव्यपेक्षा द्रव्यलक्षणम् न स्वतन्त्रा इति प्रदर्शनायाह—

एए पुण सङ्गहओ पाडिक्कमलक्खणं दुवेण्हं पि।
तम्हा मिच्छद्दिट्ठी पत्तेयं दो वि मूलणया ॥ १३ ॥

एते उत्पादादयः सङ्गृहीताः शिबिकोद्वाहिपुरुषा इव परस्परस्वरूपोपादानेनैव लक्षणम्। प्रत्येकं एकका उत्पादादयो द्वयोरपि द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिकयोः अलक्षणम् उक्तवत् तथा-३० भूतविषयाभावे तद्ग्राहकयोरपि तथाभूतयोरभावात् उत्पादादीनां च परस्परनिविक्तरूपाणामस-म्भवात्। तस्मात् मिथ्यादृष्टी एव प्रत्येकं परस्परविविक्तौ द्वावपि एतौ द्रव्यार्थिक-पर्याया-र्थिकस्वरूपौ मूलनयौ समस्तनयराशिकारणभूतौ ॥ १३ ॥

[उभयारब्धतृतीयनयाभावेऽपि द्वयोरेव नययोरन्योन्यसव्यपेक्षयोस्सम्यक्त्वप्रतिपादनम्]

स्यादेतत् भवतु परस्परनिरपेक्षयोर्मिथ्यात्वम्, उभयनयारब्धस्त्वेकः सम्यग्दृष्टिर्भविष्यती २५ त्याह—

---

१ कार्यका-ल०। २-मनस-वा० बा०। ३ "संविद"-बृ० ल० मा० टि०। ४ तदनुगतैकाकारस्य "ज्ञानस्य"-मो० टि०। ५ "विशेषा" इति-मो० टि०। ६-भासतया-बृ० बा० बा०। ७-न चैल-बृ० ल० बा० बा० विना। ८ पाडेक्क-ल०।

ण य तइओ अत्थि णओ ण य सम्मत्तं ण तेसु पडिपुण्णं ।
जेण दुवे एगन्ता विभज्जमाणा अणेगन्तो ॥ १४ ॥

न च तृतीयः परस्परसापेक्षोभयग्राही अस्ति नयः कश्चित् तथाभूतार्थस्यानेकान्तात्मकत्वात् तद्ग्राहिणः प्रत्ययस्य नयात्मकत्वानुपपत्तेः । न च सम्यक्त्वं न तयोः प्रतिपूर्णं
५ प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थावगतेः । अदोषं हि प्रामाण्यं सापेक्षं गृह्यमाणयोरनयोरेवंविषययोर्व्यवस्थितं येन द्वावपि एकान्तरूपतया व्यवस्थितौ मिथ्यात्वनिबन्धनम् तत्परित्यागेनाऽन्वय-व्यतिरेकौ विशेषेण परस्परात्यागरूपेण भज्यमानौ गृह्यमाणावनेकान्तो भवतीति सम्यक्त्वहेतुत्वमेतयोरिति ॥ १४ ॥

[निरपेक्षग्राहित्वे मूलनयवदुत्तरनयानामपि मिथ्यात्ववर्णनम्]

१० एवं सापेक्षद्वयग्राहिणो नयत्वानुपपत्तेस्तृतीयनयाभावः प्रदर्शितः, निरपेक्षग्राहिणां तु मिथ्यात्वं दर्शयितुमाह—

जह एए तह अण्णे पत्तेयं दुण्णया णया सव्वे ।
हंदि हु मूलणयाणं पण्णवणे वावडा ते वि ॥ १५ ॥

यथा एतौ निरपेक्षद्वयग्राहिणो मूलनयौ मिथ्यादृष्टी तथा उभयवादरूपेण व्यवस्थितानामपि
१५ परस्परनिरपेक्षत्वस्य मिथ्यात्वनिबन्धनस्य तुल्यत्वात् प्रत्येकम् इतरानपेक्षा अन्येऽपि दुर्नयाः न च प्रकृतनयद्वयव्यतिरिक्तनयान्तरारब्धत्वादुभयवादस्य नयानामपि वैचित्र्यादन्यनारोपयितुमशक्यत्वात् तद्रूपस्यान्ये सम्यक्प्रत्यया भविष्यन्तीति वक्तव्यम्, यतः हंदि इत्येवं गृह्यतां हुः इति हेतौ मूलनयद्वयपरिच्छिन्नवस्तुन्येव व्यापृतास्तेऽपि तद्विषयव्यतिरिक्तविषयान्तराभावात् सर्वनयवादानां च सामान्यविशेषोभयैकान्तविषयत्वात् । तन्न नयान्तरसद्भावः यतः तदा-
२० रब्धोभयवादे नयान्तरं भवेत् ॥ १५ ॥

[सङ्ग्रहादीनां मूलनयग्राह्यग्राहित्वान्नोभयवादप्रज्ञापकत्वमिति प्रदर्शनम्]

ननु सङ्ग्रहादिनयसद्भावात् कथं तद्व्यतिरिक्तनयान्तराभावः ? सत्यम्, सन्ति सङ्ग्रहादयः किन्तु तद्विषयव्यतिरिक्तविषयान्तराभावतस्तद्द्वितयविषयास्तेऽपि तद्दूषणेनैव दूषिताः यतो न मूलच्छेदे तच्छाखास्तदवस्थाः संभवन्तीत्याह—

२५ सव्वणयसमूहम्मि वि णत्थि णओ उभयवायपण्णवओ ।
मूलणयाण उ आणं पत्तेय विसेसियं विंति ॥ १६ ॥

संग्रहादिसकलनयसमूहेऽपि नास्ति कश्चिद् नय उभयवादप्ररूपकः यतः मूलनयाभ्यामेव यत् प्रतिज्ञातं वस्तु तदेव आश्रित्य प्रत्येकरूपाः संग्रहादयः पूर्वपूर्वनयाधिगतांशविशिष्टमंशान्तरमधिगच्छन्तीति न विषयान्तरगोचराः । अतो व्यवस्थितम् परस्परात्यागप्रवृत्तसा-
३० मान्यविशेषविषयसङ्ग्रहाद्यात्मकैनयद्वयाधिगम्यात्मकत्वात् वस्त्वप्युभयात्मकम् ॥ १६ ॥

---

१ 'द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत' इति परिभाषावचन प्रसिद्धम् । २ अन्वयरूपो द्रव्यार्थिक व्यतिरेकरूप पर्यायार्थिक । ३–तुल्यभूत–वा० वा० । ४–ग्राहिणोर्नय–भृ० वा०वा० आ० हा० वि० । ५–वणावा–ल० गां० मां० । ६–दृश्या न–ल० विना । ७ व्यावृतास्ते–भृ० ल० । व्यावृत्तास्ते–वा० वा० । ८–स्तद्विषयविषया–वा० वा० । ९–वउ । भृ० । १० उ याणं था हा० वि० । ११–यं वेंति भृ० । १२–द्याद्यात्मक–हा० वि० ।–द्याभ्यात्मक–आ० । १३–कभय–वा० वा० । १४–गमात्म–भृ० ल० वा० वा० गां० मां० विना । १५–त्मत्वात् वा० वा० ।

[नित्यानित्यैकान्तपक्षद्वयेऽप्यात्मनि संसारसुख-दुःखादेरनुपपत्तिप्रदर्शनम्]

न केवलं बाह्यघटादिवस्तु उभयात्मकं तथाविधप्रमाणग्राह्यत्वात् किन्त्वान्तरमपि हर्ष-शोक-भय-करुणौदासीन्याद्यनेकाकारविवर्त्तात्मकैकचेतनास्वरूपम् तदात्मकहर्षाद्यनेकविकारानेकात्मकं च स्वसंवेदनाध्यक्षप्रतीतम्, तस्य भेदाभेदैकान्तैकरूपताऽभ्युपगमे दृष्टाऽदृष्टविषयसुखदुःखसाधनस्वीकार-त्यागार्थप्रवृत्ति-निवृत्तिस्वरूपसकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिरिति प्रतिपादयितुमाह— ५

ण य दव्वट्ठियपक्खे संसारो णेव पज्जवणयस्स।
सासय-वियत्तिवायी जम्हा उच्छेअवाईआ ॥ १७ ॥

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयद्वयाभिमते वस्तुनि **न संसारः** सम्भवति, **शाश्वत-व्यक्ति**प्रतिक्षणान्यत्वैकान्तात्मकचैतन्यग्राहकविषयीकृतत्वात् पावकज्ञानविषयीकृते उदकवत्। तथाहि—संसारः संसृतिः सा चैकान्तनित्यस्य पूर्वावस्थाऽपरित्यागे सति न सम्भवति तत्परित्यागे १० चैव गतेः भावान्तरापत्तेर्वा—संसृतेः सम्भवात्। नाप्युच्छेदे उत्पत्त्यनन्तरनिरन्वयध्वंसलक्षणे संसृतिः सम्भवति गतेः भावान्तरापत्तेर्वा कथञ्चिद् अन्वयिरूपमन्तरेण अयोगात्। अथैकस्य पूर्वाऽपर-शरीराभ्यां वियोग-योगौ संसारः असावपि सदा अविकारिणि न सम्भवति, नित्यस्य पूर्वाऽपर शरीराभ्यां वियोग-योगानुपपत्तेः। निरन्वयक्षणध्वंसिनोऽप्येकाधिकरणत्वासम्भवात् न तल्लक्षणः संसारः। न च अमूर्त्तस्यात्मनः असर्वगतैकमनोऽभिव्यक्तशरीरेण विशिष्टवियोग-योगौ संसारः मन- १५ सोऽकर्तृत्वेन शरीरसम्बन्धस्यानुपपत्तेः। यो ह्यदृष्टस्य विधाता स तन्निर्वर्तितशरीरेण सह सम्बध्यते, न चैव मनः; न च मनसः शरीरसम्बन्धेऽपि तत्कृतसुख-दुःखोपभोक्तृत्वम् आत्मनि तस्याभ्युपगमात् तदर्थं च शरीरसम्बन्धोऽभ्युपगम्यत इति तत्सम्बन्धपरिकल्पनं मनसो व्यर्थम् मनसि सुख-दुःखोपभोक्तृत्वाभ्युपगमे वा आत्मकल्पनावैयर्थ्यम् मनस आत्मत्वसिद्धेः ॥ १७ ॥

तथा— २०

सुह-दुक्खसम्पओगो ण जुज्जए णिच्चवायपक्खम्मि।
एगंतुच्छेयम्मि य सुह-दुक्खवियप्पणमजुत्तं ॥ १८ ॥

सुखेन अबाधास्वरूपेण, **दुःखेन** बाधनालक्षणेन, **सम्प्रयोगः** सम्बन्धः **न युज्यते** न घटते आत्मनो **नित्यवादपक्षे** द्रव्यास्तिकाभ्युपगमे सुखस्वभावस्य अविचलितरूपत्वात् सदा सुखरूपतैव आत्मनः न दुःखसम्प्रयोगः दुःखस्वभावत्वे तद्रूपतैव तत्त्वादेव। **एकान्तोच्छेदे च** २५ पर्यायास्तिकपक्षे सुख-दुःखसम्प्रयोगो न युज्यत इति सम्बन्धः। तथा पक्षद्वयेऽपि **सुखार्थम् दुःखवियोगार्थं च विविधं कल्पनं** यतनम्—'कल्पते' अत्र यतनार्थत्वात्—**अयुक्तम्** अघटमानकम् सुख-दुःखोपादानत्यागार्थप्रयत्नस्याप्ययुक्तत्वमुक्तन्यायात्।

"संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्।" [साङ्ख्यका० ४०]
इति साङ्ख्यमतमपि निरस्तम् न्यायस्य सर्वैकान्तसाधारणत्वात् ॥ १८ ॥ ३०

१-भयात्मकस्तथा-वृ० बा० बा०। २ णेय प-वृ० ल० बा० बा०।

"नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते। प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम्" ॥ ३७ ॥
"प्रमाण-कारकैर्व्यक्तं व्यक्तं चेदिन्द्रियार्थवत्। ते च नित्ये विकार्यं किं साधोस्ते शासनाद् बहिः" ॥ ३८ ॥
"यदि सत् सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति। परिणामप्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्तबाधिनी" ॥ ३९ ॥
"पुण्य-पापक्रिया न स्यात् प्रेत्यभावः फलं कुतः। बन्ध-मोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः" ॥ ४० ॥
"क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसम्भवः। प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम्।" ॥ ४१ ॥
—आप्तमीमां० पृ० २२-२३ परि० ३। अष्टस० पृ० १७८-१८१।

३-तिः स चै-आ०। ४-न्निवर्तित-ल०। ५ सम्बन्ध्य-आ०। ६-सिद्धेः सुह-आ० हा० वि०। ७-विशिष्ट कं-आ०। ८ "अहङ्कारादिभि "-मां० टि०।

[एकान्तपक्षे ह्यात्मनि कर्मणो बन्ध-स्थितिकारणानुपपत्तिप्रकटनम्]

एकान्तपक्षे आत्मसुख-दुःखोपभोग-निर्वर्त्तकशरीरसम्बन्धहेत्वदृष्टोत्पादकनिमित्तानामप्यसम्भवं दर्शयन्नाह—

> कम्मं जोगनिमित्तं बज्झइ बन्ध-ट्ठिई कसायवसा ।
> अपरिणउच्छिण्णेसु य बंधट्ठिइकारणं णत्थि ॥ १९ ॥

कर्म अदृष्टम्, **योगनिमित्तं** मनो-वाक्-कायव्यापारनिमित्तम्, **बध्यते** आदीयते, बध्यत इति **बन्धः** अदृष्टमेव तस्य **स्थितिः** कालान्तरफलदातृत्वेन आत्मन्यवस्थानम् सा **कषायवशात्** क्रोधादिसामर्थ्यात् एतदुभयमपि एकान्तवाद्यभ्युपगते आत्मचैतन्यलक्षणे भावे **अपरिणते उत्सन्ने च बन्धस्थितिकारणं नास्ति** । न ह्यपरिणामिनि अत्यन्ताऽनाधेयातिशये आत्मनि क्रोधादयः सम्भवन्ति, नाप्येकान्तोत्सन्ने अनुसन्धानविकले 'अहमनेनाऽऽक्रुष्टः' इति द्वेषसम्भवः तथा च 'अन्य आक्रुष्टः अन्यो रुष्टः' 'अन्यो[1] व्यापृतः अपरो बद्धः अपरश्च मुक्तः' इति कुशलाकुशलकर्मगोचरप्रवृत्त्याद्यारम्भवैफल्यप्रसक्तिः । न चैकसन्ततिनिमित्तोऽयं व्यवहारः, क्षणिकैकान्तपक्षे सन्ततिकल्पनाबीजभूतोपादानोपादेयभावस्यैव अघटमानत्वात् । न चेयमनुसन्धानप्रतिपत्तिर्मिथ्या, द्वेष गर्व-शाठ्याऽसन्तोषादीनामन्योन्यविरुद्धस्वभावानां क्रमविवर्त्तिनां चिद्विवर्तानां स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धानाम् तथा तथाऽनुभवितुश्च[2] संशय-विपर्यासाऽदृढज्ञानागोचरीकृतस्यैकस्य चैतन्यस्यानुभवात् । न च बाधारहितानुभवविषयस्यापह्नवः सुखादेरप्यनुभवविषयस्यापह्नुतिप्रसङ्गात् तथा च प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः । यदपि—

"मिथ्याऽध्यारोपहानार्थं यत्नोऽसत्यपि मोक्तरि" [ ]

इत्युक्तम्, तदप्यनेनैव प्रतिविहितम्; यथोक्तप्रतिपत्तेर्मिथ्यात्वासिद्धेः । न चानुमाननिश्चिते[3]ऽर्थे आरोपबुद्धेरुत्पत्तिर्धूमनिश्चयावगतधूमध्वज इव, न च मिथ्याज्ञानस्य सहजत्वात् विपरीतार्थोपस्था[4]पकानुमानप्रवृत्तावपि न निवृत्तिः तथाभ्युपगमे बोधसन्तानवत् तस्य सर्वदा[5]ऽनिवृत्तिरित्यमुक्तिप्रसक्तिः असहजं तु तत्त्वज्ञानप्रादुर्भावे[6]ऽवश्यं निवर्त्तते शुक्तिकावगमे रजतभ्रम इव अनिवृत्तौ वा न प्रमाणमप्रमाणबाधकं भवेत् । न च क्षणक्षयनिश्चये 'स एवाहम्' इति प्रत्ययो युक्तः अपि तु 'स[7] इव' इति स्यात्, नहि गवयनिश्चये 'गौरेव' इति प्रत्ययो दृष्टः अपि तु 'गौरिव' इति । न च क्रमवर्त्तिष्वभिष्वङ्ग-द्वेषादिपर्यायेषु[8] चैतन्यानुस्यूतिप्रत्ययस्य मानसत्वमात्मनि क्षणक्षयमनुमानाद् निश्चिन्वतोऽपि तदेव स्पष्टमनुभूयमानत्वाद् विकल्पद्वयस्य[9] युगपदुत्पत्तिः परैर्नेष्टेति विकल्परूपत्वे एकत्व[10]प्रत्ययस्य क्षणिकत्वनिश्चयसमये सद्भावो न भवेत् इत्येकान्तनित्याऽनित्यव्युदासेनोभयपक्ष एव बन्धस्थितिकारणं युक्तिसङ्गतम् ॥ १९ ॥

[एकान्तवादे बन्धाऽभावेन तन्मूलकसंसारनिवृत्त्यादेरनुपपत्तिप्रकाशनम्]

किञ्च, एकान्तवादिनां संसारनिर्वृत्ति-तत्सुखमुक्तिप्राप्त्यर्थां[11] प्रवृत्तिश्चासङ्गतेत्याह—

---

१ अन्यो व्यावृत्तः वा० बा० आ० । अन्यो वावृतः वृ० । २ तथाऽनु—आ० हा० । ३-निश्चितार्थ आ—आ० ।-निश्चितर्थे आ—हा० । ४-तार्थो स्था-ल० । ५-दा नि—वा० बा० । ६-दुर्भावो—मां० ।-दुर्भावे प्र० मां० वहिः । ७ स एव भां० मां० विना । ८-वर्तेष्व—मां० ।-वर्तिष्व-प्र० मां० वहिः । ९-स्य च यु—वृ० बा० बा० । १०-कत्वं प्र—वृ० वा० बा० । ११-निवृत्तिवत्सुख-वा० बा० । -निर्व्यत्तवत्सुख—वृ० । -निवृत्तिवत्सुख—प्र० मां० वहिः० ।

बंधम्मि अपूरन्ते संसारभओघदन्सणं मोज्झं।
बन्धं च विणा मोक्खसुहपत्थणा णत्थि मोक्खो य ॥ २० ॥

बन्धे वाऽसति संसारो जन्म-मरणादिप्रबन्धस्तत्र तत्कारणे वा मिथ्यात्वादावुपचारात् तच्छब्दवाच्ये भयौघो भीतिप्राचुर्यम् तस्य दर्शनम् 'सर्वं चतुर्गतिपर्यटनं दुःखात्मकम्' इति पर्यालोचनं मौढ्यं मूढता अनुपपद्यमानसंसारदुःखौघविषयत्वात् मिथ्याज्ञानं वन्ध्यासुतजनितबाधा- ५ गोचरभीतिविषयपर्यालोचनवत् मिथ्याज्ञानपूर्विका च प्रवृत्तिर्विसंवादिन्येव, बन्धेन विना संसारनिवृत्ति-तत्सुखप्रार्थना च न भवत्येव तथा मोक्षश्चानुपपन्नः निरपराधपुरुषवत् अबद्धस्य मोक्षासम्भवात्, बन्धाभावश्च योग-कषाययोः प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेशात्मकबन्धहेत्वोरेकान्तपक्षे विरुद्धत्वात्। न चैकरूपत्वात् ब्रह्मणो बन्धाद्यभावप्रेरणा न दोषाय, चेतनाऽचेतनादिभेदरूपतया जगतः प्रतिपत्तेः। न च भेदप्रतिपत्तिर्मिथ्या अविद्यानिर्मितत्वादिति वक्तव्यम् १० अविद्यायाः प्रतिपत्तिजननविरोधात्, अविरोधे विद्यारूपताप्राप्तेर्द्वैतप्राप्तिरिति। प्रतिविहितैश्चाद्वैतवाद इति न पुनः प्रतन्यते ॥ २० ॥

[सर्वेषामपि नयानामन्योऽन्याऽनिश्रितत्वे मिथ्यात्वम् अन्योन्यनिश्रितत्वे पुनः सम्यक्त्वमिति प्रतिपादनम्]

तदेवमेकान्ताभ्युपगमे बन्धहेत्वाद्यनुपपत्तेरैहिकाऽऽमुष्मिकसर्वव्यवहारविलोपः इत्येकान्तव्य- १५ वस्थापकाः सर्वेऽपि मिथ्यादृष्टयो नयाः अन्योन्यविषयाऽपरित्यागवृत्तयस्तु त एव सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्त इत्युपसंहरन्नाह—

तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥ २१ ॥

यस्माद् एकान्तनित्याऽनित्यवस्त्वभ्युपगमो बन्धादिकारणयोग-कषायाभ्युपगमबाधितः तद- २० भ्युपगमोऽपि नित्याद्येकान्ताभ्युपगमप्रतिहतः इत्येवंभूतपूर्वोत्तराभ्युपगमस्वरूपाः तस्माद् मिथ्यादृष्टयः सर्वेऽपि नयाः स्वपक्षप्रतिबद्धाः स्व आत्मीयः पक्षः अभ्युपगमस्तेन प्रतिबद्धाः प्रतिहता यतस्तत इति। नयज्ञानानां च मिथ्यात्वे तद्विषयस्य तदभिधानस्य च मिथ्यात्वमेव। तेनैवं प्रयोगः—मिथ्या सर्वनयवादाः, स्वपक्षेणैव प्रतिहतत्वात् चौरवाक्यवत्। अथ तेषां प्रत्येकं मिथ्यात्वे बन्धाद्यनुपपत्तौ सम्यक्त्वानुपपत्तिः सर्वत्रेत्याह—अन्योन्यनिश्रिताः परस्परापरित्यागेन २५ व्यवस्थिताः पुनः इति त एव सम्यक्त्वस्य यथावस्थितवस्तुप्रत्ययस्य सद्भावाः भवन्तीति न बन्धाद्यनुपपत्तिः।

ननु यदि नयाः प्रत्येकं सन्ति कथं प्रत्येकावस्थायां तेषां सम्यक्त्वाभावः स्वरूपव्यतिरेकेण अपरसम्यक्त्वाभावात् तस्य च तेष्वभ्युपगमात्? अथ न सन्ति, कथं तेषां समुदायः सम्यक्त्वनिबन्धनो भवेत् असतां समुदायानुपपत्तेः? न च असतोऽऽपि सम्यक्त्वम् नयवादेष्वपि सम्यक्त्वप्रसक्तेः। ३० न च प्रत्येकं तेषां सतामसम्यक्त्वेऽपि तत्समुदाये सम्यक्त्वं भविष्यति 'दव्वट्ठिओ त्ति तम्हा नत्थि णओ' इत्याद्युपसंहारसूत्रविरोधात्। न च प्रत्येकमेकैकांशग्राहिणः सम्पूर्णवस्तुग्राहकाः समुदिता इति सम्यग्व्यपदेशमासादयन्ति, तत्तत्स्वगोचरापरित्यागेन तत्रापि विषयान्तरे तेषा-

---

१-धम्मि अ-बृ० ल०।-धम्मि अपूरेंते बृ०-धम्मि यपूरेंते वा० बा०। २ वासति बृ० ल० वा० बा०। ३-ज्ञान च-बृ० ल०। ४ पृ० २८५ पं० ६। ५ मिच्छादिट्ठी वा० बा०। मिच्छदिट्ठि आ०। ६-निःसृताः बृ० विना। ७-द्भावो भ-आ० हा० विना। ८ "स्वपक्ष"-बृ० ल० मां० डि०। ९ सतो सम्य-वा० बा०। १० णउ बृ० हा०। ११ पृ० ४०८ गा० ९। १२ "समुदाये"-मां० डि०।

मप्रवृत्तेः। न च प्रत्येकमसम्यक्त्वे समुदायेऽपि सम्यक्त्वं युक्तम् सिकतासु तैलवत्, असत सदुत्पत्तेः सतो वा असदुत्पत्तेर्विरोधाच्च।

अत्राभिधीयते–प्रत्येकमप्यपेक्षितेतरांशस्वविषयग्राहकतयैव सन्तो नयाः तद्व्यतिरिक्तरूपतया व्यसन्त इति सतां तत्समुदाये सम्यक्त्वे न कश्चिद् दोषः, नन्वितरेतरविषयाऽपरित्यागवृत्तीनां ५ज्ञानानां कथं समुदायः सम्भवी येन तत्र सम्यक्त्वमभ्युपगम्येत? अनुक्तोपालम्भ एषः; न ह्येकदाऽनेकज्ञानोत्पादस्तेषां समुदायो विवक्षितः अपि त्वपरित्यक्तेतररूपविविषयाध्यवसाय एव समुदायः। अन्योन्यनिश्रिताः इत्यनेनाप्ययमेवार्थः प्रतिपादितः। नहि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकाभ्यामत्यन्तपृथग्भूताभ्यामङ्गुलिद्वयसंयोगवदुभयवादोऽपरः प्रारब्धः, ननु यदि प्रमाणं नयाः "प्रमाण-नयैरधिगमः" [तत्त्वार्थ० अ० १ सू० ६] इति प्रमाण–नयभेदकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तिः अथ अप्रमाणम् १०तथाप्यधिगमानुपपत्तिः तत्पृथग्भूतस्यापरस्यासंवेदनात् प्रमाणाभावप्रसक्तिश्च, असदेतत्; यतः अप्रमाणं नयाः नयन्ति इतररूपसापेक्षं स्वविषयं परिच्छिन्दन्तीति नया इति व्युत्पत्तेः। न चापरिच्छेदकाः नयतेर्गत्यर्थत्वेन ज्ञानार्थत्वात् ज्ञानस्य च परिच्छेदात्मकत्वात्। न च परिच्छेदकत्वेऽपि प्रमाणता, समस्तनयविषयीकृतानेकान्तवस्तुग्राहकत्वेन 'प्रकृष्टं मानं प्रमाणम्' 'इतरांशसव्यपेक्षस्वांशग्राही नयः' इति तैस्स्वतत्त्वव्यवस्थितेः। न चानेकान्तात्मकवस्तुग्राहिणो नया न भवन्ति, १५प्रत्येकं स्वविषयनियतत्वात् तेषाम् तद्व्यतिरिक्तस्य चान्यस्य तद्विषयस्याननुभवात्। प्रमाणाभावोऽपि न, आत्मनः कथञ्चित् तद्व्यतिरिक्तस्य प्रमाणत्वेनानुभवसिद्धत्वात् तत्तन्नयविषयीकृताशेषवस्त्वंशात्मकैकद्रव्यग्राहकत्वस्य तत्र प्रतीतेः। न च संशयादिज्ञानैरात्मनः प्रमाणत्वेऽतिप्रसङ्गः, प्रमीयतेऽनेन प्रमिणोतीति वा प्रमाणमिति 'प्र'शब्देन तस्य निरस्तत्वात्। न चात्मनः कर्तृत्वात् करणरूपप्रमाणतानुपपत्तिः, उत्पाद–व्यय ध्रौव्यात्मकस्य तस्यानेकरूपत्वेन कर्तृ-करणभावाविरोधात्। २०एतेन 'प्रत्येकं मिथ्यादृष्टयो नयाः समुदिताः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्त इत्यत्र न नयसमुदायोऽर्थद्रष्टा प्रत्येकमद्रष्टृत्वात् जात्यन्धसमूहवत्' इत्येतन्निरस्तम् अद्रष्टृतत्समूहस्य सम्यक्त्वानभ्युपगमात् स्वविषयपरिच्छेदकत्वाच्च नयानाम् 'अद्रष्टृत्वात्' इति हेतुरसिद्धः। 'परिपूर्णवस्त्वनधिगन्तृत्वात्' इति हेतौ प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धिः सिद्धसाध्यता च समुदायिनो द्रष्टृत्वनिषेधे साध्ये। अथ तत्समुदायस्य द्रष्टृत्वनिषेधः साध्यस्तदा अध्यक्षविरोधः समुदायिव्यतिरिक्तस्यैकान्तेन समुदायस्याभावात् २५धर्मिणोऽप्रसिद्धिः सिद्धसाध्यता च॥ २१॥

[प्रत्येकं नयेषु मिथ्यात्वेऽपि समुदितेषु सम्यक्त्वस्य रत्नावलीदृष्टान्तेन समर्थनम्]

न च समुदायाभावे नया एव परस्परव्यावृत्तस्वरूपा इति न क्वचित् सम्यक्त्वम्, नय प्रमाणात्मकैकचैतन्यप्रतिपत्तेः रत्नावलीवत् इत्येतदाह–

'यद्वा यत् प्रत्येकं नयेषु न सम्यक्त्वम् तत् तेषां समुदायेऽपि न भवति, यथा सिकतासु ३०प्रत्येकमभवत् तैलं तासां समुदायेऽपि न भवति' इत्यत्र हेतोरनैकान्तिकताप्रतिपादनार्थमाह–

१–धात्व। अ–भा० आ०। २ "उत्तरम्"–वृ० मा० टि०। ३–दतस्ते–आ० हा०। ४ पृ० ४१९ प्र० गा०। ५–नापायनेकार्थः प्र–भा० मां०।–नापायमेवार्थः प्र–आ०।–नापायमेकार्थाः प्र–हा०।–"नाप्यमेवार्थः इत्यर्थं –प्रत्यन्तरे।–नाप्य उ तस्यार्थः द्वितीयप्रत्य०। (अय च द्वितीयप्रत्यन्तरसत्कः पाठः वा० बा० पुस्तके विद्यते)–नाप्ययमेवार्थः प्रतिपादितः इति तु सम्भावना"–मा० वह्निः०। ६ तत् "प्रमाण"–मा० टि०। ७ अपरस्य "अधिगमस्य"–मां० टि०। ८ प्रमाणभावप्र–वा० बा० आ० हा० वि०।–प्रमाणाभावाप्र–भा०।–प्रमाणाभावप्र–मां० सं०। ९ नया नयन्तीतररू–हा०। नया न नयन्तीतररू–वृ०। नया य नयन्तीतरू–वा० बा०। १०–परिच्छेदकेत्वे–वृ०।–परिच्छेदात्मकत्वे–भां०। ११–कृष्टमा–वृ०। १२ "तयोः प्रमाण–नययो"–वृ० ल० मां० टि०। १३ "आत्मनि"–वृ० ल० मा० टि०। १४–त्वादि हेतौ भां० मां० हा० वि०।–त्वादिहितौ आ०। १५ " 'अनित्यः शब्दः अनित्यत्वात्' इतिवत् अत्र च अर्थाद्रष्टृत्वं साध्यम् तदेव च अक्षरान्तरितेनुतयोपन्यस्ता (न्तरैर्हेतुतयोपन्यस्तम्)"–मां० टि०।–ज्ञासिद्धः वृ० बा० वा०। १६–णात्मिकै– वृ० वा० बा०।

जहऽणेयलक्खण-इत्यादि—

जहऽणेयलक्खणगुणा वेरुलियाई मणी विसंजुत्ता ।
रयणावलिववएसं न लहंति महग्घमुल्ला वि ॥ २२ ॥

तह णिययवायसुविणिच्छिया वि अण्णोण्णपक्खणिरवेक्खा ।
सम्मद्दंसणसद्दं सव्वे वि णया ण पावेंति ॥ २३ ॥ ५

जह पुण ते चेव मणी जहा गुणविसेसभागपडिवद्धा ।
'रयणावलि'त्ति भण्णइ जहंति पाडिक्कसण्णाउ ॥ २४ ॥

तह सव्वे णयवाया जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा ।
सम्मद्दंसणसद्दं लहन्ति ण विसेससण्णाओ ॥ २५ ॥

यथा अनेकप्रकारा विषविघातहेतुत्वादीनि लक्षणानि नीलत्वादयश्च गुणा येषां ते १० वैडूर्यादयो मणयः पृथग्भूता रत्नावलीव्यपदेशं न लभन्ते महार्घमूल्या अपि ॥२२॥

तथा प्रमाणावस्थायाम् इतरसव्यपेक्षस्वविषयपरिच्छेदकाले वा स्वविषयपरिच्छेदकत्वेन सुनिश्चिता अपि अन्योन्यपक्षनिरपेक्षाः 'प्रमाणम्' इत्याख्यां सर्वेऽपि नया न प्राप्नुवन्ति निजे च इतरनिरपेक्षसामान्यादिवादे सुविनिश्चिता हेतुप्रदर्शनकुशला अन्योन्यपक्षनिरपेक्षत्वात् सम्यग्दर्शनशब्दं 'सुनयाः' इत्येवंरूपं सर्वेऽपि संग्रहादयो नया न प्राप्नुवन्ति ॥ २३ ॥ १५

यदा पुनस्त एव मणयो यथा गुणविशेषपरिपाट्या प्रतिबद्धाः 'रत्नावलि' इति आख्यामासादयन्ति प्रत्येकाभिधानानि च त्यजन्ति रत्नानुविद्धतया रत्नावल्यास्तदनुविद्धतया च रत्नानां प्रतीतेः 'रत्नावली' इति तत्र व्यपदेशः न पुनः प्रत्येकाभिधानम् ॥ २४ ॥

तथा सर्वे नयवादा यथानुरूपविनिर्युक्तवक्तव्या इति यथा इति वीप्सार्थे अनु इति सादृश्ये रूपम् इति स्वभावे तेनानुरूपमित्यव्ययीभावः पुनर्यथाशब्देन स एव "यथाऽसा-२० दृश्ये" [पाणि० अ० २ पा०१ सू० ७ सिद्धान्तको० अं० ६६१ पृ० १६३] इत्यनेन । यद् यदनुरूपं तत्र विनिर्युक्तं वक्तव्यं उपचारात् तद्वाचकः शब्दो येषां ते तथा—यथानुरूपद्रव्यध्रौव्यादिषु प्रमाणात्मकत्वेन व्यवस्थिताः सम्यग्दर्शनशब्दं 'प्रमाणम्' इत्याख्यां लभन्ते न विशेषसंज्ञाः पृथग्भूताभिधानानि एकानेकात्मकत्वेन चैतन्यप्रतिपत्तेरन्यथा चाप्रतिपत्तेरिति । ननु नय प्रमाणात्मकचैतन्यस्याध्यक्षसिद्धत्वेन 'रत्नावलि' इति दृष्टान्तोपादानं व्यर्थम्, न, अध्यक्षसिद्धमप्यनेका-२५ न्तमनभ्युपगच्छन्तं प्रति व्यवहारसाधनाय दृष्टान्तोपादानस्य साफल्यात् । प्रवर्तितश्च तेनापि तत्रानेकान्तव्यवहारः ॥ २५ ॥

१-सद्दा स-ल० । २-रूपं वि-वृ० । ३ अत्र मूलगाथागत 'विणिउत्त' इति प्राकृतपदानुसारेण 'विनियुक्त' इत्येव सम्यग् भाति, 'विनिर्युक्त'इत्यस्य तु प्राकृतपदम् 'विणिज्जुत्त' इति भवेत् । ४ "अव्ययीभावः"-वृ० ल० मां० टि० । ५ "यथाऽथा" । ३।१।४१। हैम० । ६ "सूत्रेण"-वृ० ल० मा० टि० । ७ "वक्तव्ये" उपचारात् वृ० ल० मा० टि० । ८-द्धत्वे र-वृ० वा० था० ।

[दृष्टान्तोपन्यासप्रयोजकानां तद्गुणानां परिगणनम्]

दृष्टान्तगुणप्रतिपादनायाह—

लोइयपरिच्छयसुहो निच्छयवयणपडिवत्तिमग्गो य।
अह पण्णवणाविसउ त्ति तेण वीसत्थमुवणीओ ॥ २६ ॥

५ व्युत्पत्तिविकल तद्युक्तप्राणिसमूहसुखग्राह्यत्वम् एकानेकात्मकभावविषयवचोऽवगमजनकत्वं च अथ इत्यवधारणार्थः अनन्तधर्मात्मकवस्तुप्ररूपकवाक्यविषयत्वं दृष्टान्तस्यैव। एतैः कारणैः शङ्काव्यवच्छेदेन अयमुपदर्शित इति गाथातात्पर्यार्थः।

न चावल्यवस्थायाः प्राग् उत्तरकालं च रत्नानां पृथगुपलम्भात् इह च सर्वदा तयोपलम्भाभावाद् विषममुदाहरणमिति वक्तव्यम्, आवल्यवस्थाया उदाहरणत्वेनोपन्यासात्। न च दृष्टान्त-दार्ष्टा-
१० न्तिकयोः सर्वथा साम्यम् तत्र तद्भावानुपपत्तेः ॥ २६ ॥

[दृष्टान्तस्य साध्यसमतां वदतामेकान्तवादिनां निरासाय पञ्चानां तदभिप्रायाणां निर्देशः]

(१) "रत्नादिकारणेष्वावल्यादिकार्यं सदेव" [ ] इति साङ्ख्याः।

(२) "तेषामेवानेन रूपेण व्यवस्थितत्वात् तद्व्यतिरिक्तं विकारमात्रं कार्यं त एव" [ ] इति साङ्ख्यविशेष एव।

१५ (३-४) "न कार्यं कारणे विद्यते इति तेभ्यस्तत् पृथग्भूतम् नहि कारणमेव कार्यरूपेण व्यवतिष्ठते परिणमते वा" [ ] इति वैशेषिकादयः।

(५) "न च कार्यम् कारणं वास्ति द्रव्यमात्रमेव तत्त्वम्" [ ] इत्यपरः।

एवंभूताभिप्रायवन्त एकान्तवादिनो दृष्टान्तस्य साध्यसमतां मन्यन्ते तान् प्रत्याह—

इहरा समूहसिद्धो परिणामकओ व्व जो जहिं अत्थो।
२० **ते तं च ण तं तं चेव व त्ति नियमेण मिच्छत्तं ॥ २७ ॥**

इतरथा उक्तप्रकारादन्यथा **समूहे** रत्नानां **सिद्धो** निष्पन्नः **परिणामकृतो वा** मण्या-

---

१ "परीक्षक"–बृ० ल० मा० टि०।

"अथ दृष्टान्त. ××× यत्र लौकिक-परीक्षकाणां दर्शनं न व्याहन्यते"–अ० १। आ० १। सू० १ न्यायद० वात्स्या० पृ० ४ पं० १९।

"लौकिक-परीक्षकाणां दर्शनाविघातहेतुरिति"–न्यायवा० पृ० १५ पं० १२। न्यायवार्तिकता० पृ० ५२ पं० ११।

"लौकिक-परीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्त."–अ० १। आ० १। सू० । २५।

××× यथा यमर्थं लौकिका बुध्यन्ते तथा परीक्षका अपि सोऽर्थो दृष्टान्त."–न्यायद० वात्स्या० पृ० ४८ पं० १७। न्यायवा० पृ० १०२ पं० १६। न्यायवार्तिकता० पृ० २६१ पं० १६।

निर्युक्तिकारो भद्रबाहुस्वामी दृष्टान्तपर्यायानेवं निर्दिशति–

"नायमुदाहरणं ति अ दिट्ठंतोवम निदरिसणं तह य। एगट्ठं तं दुविहं चउव्विहं चेव नायव्वं" ॥ ५२ ॥

—दशवै० निर्यु० पृ० ३४ प्र०।

स्वयं ग्रन्थकारस्तु स्वीये न्यायावतारसूत्रे दृष्टान्तस्वरूपमेवं विवृणोतिः—

"साध्य साधनयोर्व्याप्तिर्यत्र निश्चीयतेतराम्। साधर्म्येण स दृष्टान्तः सम्बन्धस्मरणान्मतः" ॥

"साध्ये निवर्तमाने तु साधनस्याप्यसंभवः। ख्याप्यते यत्र दृष्टान्ते वैधर्म्येणेति स स्मृतः" ॥

"अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धेर्बहिरुदाहृतिः। व्यर्था स्यात् तदसद्भावेप्येवं न्यायविदो विदु." ॥

—न्यायावता० श्लो० १८-१९-२०।

२-वणावि-मां०। ३ "रत्नावलीति दृष्टान्त."–बृ० ल० भां० मां० टि०। ४ तं घ बृ० ल० वा० बा० हा०। तं घं-भां०।

दिष्याद्यल्यादिः क्षीरादिषु दध्यादिर्वा यो यत्र अर्थः ते मण्यादय आवल्यादि कार्यम् क्षीरं वा दध्यादिकम् तत्र तत्सद्भावात् तस्य तत्परिणामरूपत्वात्। 'समूहसिद्धः' 'परिणामकृतो वा' इति द्वयोरुपादानं लौकिकव्यवहारापेक्षया। परमार्थतस्तु परमाणुसमूहपरिणामात्मकत्वात् सर्व एव समूहकृतः परिणामकृतो चेति न भेदः।

[(१) सांख्याभिमतत्वेनोपन्यस्तस्य सत्कार्यवादस्य निरसनम्] ५

अयं चाभ्युपगमो मिथ्या। तथाहि—यद्येकान्तेन कारणे कार्यमस्ति तदा कारणस्वरूपवत् कार्यस्वरूपानुत्पत्तिप्रसक्तिः। न हि सदेवोत्पद्यते उत्पत्तेरविरामप्रसङ्गात्। न च कारणव्यापारसाफल्यम् तद्व्यापारनिर्वर्त्यस्य विद्यमानत्वात्। तथाहि—कारणव्यापारः किं कार्योत्पादने, आहोस्वित् कार्याभिव्यक्तौ, उत तदावरणविनाशे इति पक्षाः। तत्र न तावत् कार्योत्पादने, तस्य सत्त्वे कारकव्यापारवैफल्यात् असत्त्वे स्वाभ्युपगमविरोधात्। अभिव्यक्तावपि पक्षद्वयेऽप्येतदेव दूषणम्। आवरणवि- १० नाशेऽपि न कारकव्यापारः, सतो विनाशाभावात् असतो भावस्योत्पादवत्। तन्न सत्कार्यवादे कारकव्यापारसाफल्यम्। न चान्धकारपिहितघटाद्यनुपलम्भे अन्धकारोपलम्भवत् कार्यावारकोपलम्भः येन प्रतिनियतं किञ्चित् तदावारकं व्यवस्थाप्येत। न च कारणमेव कार्यावारकम् तस्य तदुपकारकत्वेन प्रसिद्धेः न ह्यालोकादि रूपज्ञानोपकारकं तदावारकत्वेन वक्तुं शक्यम्। किञ्च, आवारकस्य मूर्त्तत्वे कारणरूपस्य न कार्यस्य तदभ्यन्तरप्रवेशः मूर्त्तस्य मूर्त्तेन प्रतिघातात् अप्रतिघाते च यथा १५ कार्यं कारणाभ्यन्तरप्रविष्टत्वात् तेन आवृतमिति नोपलभ्यते तथा कारणस्याप्यनुपलब्धिप्रसङ्गः अप्रतिघातेन तदनुप्रविष्टत्वाविशेषात्। अथ अन्धकारवत् तद्दर्शनप्रतिबन्धकत्वेन तद् आवारकम्; नन्वेवमदर्शनेऽपि तस्य स्पर्शोपलम्भप्रसङ्गः तस्याप्यभावे तस्याऽसत्त्वमिति तद् आवारकं तत्स्वरूपविनाशकं प्रसक्तम्। न च पटादेरिव घटादिकं प्रति कारणस्य कार्याऽऽवारकत्वमिति न स्पर्शोपलब्धिः, पटध्वंसे इव मृत्पिण्डध्वंसे तदावृतकार्योपलब्धिप्रसङ्गात् एकाभिव्यञ्जकव्यापारादेव २० सर्वव्यङ्ग्योपलब्धिश्च भवेत् एकप्रदीपव्यापारात् तत्सन्निधानव्यवस्थितानेकघटादिवत्। किञ्च, कारणकाले कार्यस्य सत्त्वे स्वकाल इव कथमसौ तेनाव्रियते? नापि मृत्पिण्डकार्यतया पटादिवत् घटो व्यपदिश्येत, असत्त्वे च नावृतिः अविद्यमानत्वादेव। एकान्ततसतः करणविरोधात् असदकरणादिभ्यो न सत्कार्यसिद्धिः। प्रतिक्षिप्तश्च प्रागेव सत्कार्यवाद इति न पुनरुच्यते।

[(२) सांख्यविशेषमतत्वेनोपन्यस्तस्य कारणात्मकपरिणामवादस्य निरसनम्] २५

अनर्थान्तरभूतपरिणामवादोऽपि प्रतिक्षिप्त एव। न हि अर्थान्तरपरिणामाभावे परिणाम्येव कारणलक्षणोऽर्थः, पूर्वापरयोरेकत्वविरोधात्। न च परिणामाभावे परिणामिनोऽपि भावो युक्तः परिणामनिबन्धनत्वात् परिणामित्वस्य। अभिन्नस्य हि पूर्वापरावस्थाहानोपादानात्मतया एकस्य धृतिलक्षणः परिणामो न युक्तियुक्तः। तन्नैकान्ताभेदे कारणमेवानर्थान्तरकार्यरूपतया परिणमत इति स्थितम्। ३०

---

१ "मणाकार्य योग"–वृ० ल० मा० टि०। २ "समूह"–मां० टि०। ३ परिणाम"–मां० टि०। ४ तस्य परि–प्र० मां० वहि। ५ "कारणव्यापार"–वृ० ल० मा० टि०। ६–व्यक्तावुत वृ०। यथा 'तेऽत्र' 'कोऽत्र' इत्यादौ अकारलोपे तत्सूचकम् अवग्रहाभिधेय चिह्नं विधीयते तथा पुरातनप्रतिषु 'व्यक्तौ उत' इत्यस्य सन्धौ 'व्यक्तावुत' इति निष्पन्ने 'वु' इत्यस्य शिरसि ७ इति चिह्नम् उकारसूचकं विहितं लिपिकारैः इति प्रदर्शनार्थमयं पाठो न्यस्तः नैतत् पाठान्तरम्। ७ "सदसत्व"(त्व) रूपपक्षद्वये–मां० टि०। ८ कारणव्या–वृ० ल० मां० हा० विना। ९ "ज्ञानावारकत्वेन"–मां० टि०। १० "कार्यदर्शन"–वृ० ल० मां० टि०। ११ "कारण"–मा० टि०। १२ "कार्यस्य"–मा० टि०। १३ तस्य "स्पर्शस्य"–मां० टि०। १४ तस्य "कार्यस्य"–मा० टि०। १५–शकत्वं प्र–वृ० ल० मा० धा० विना। १६ "कार्यरूपो भाव."–वृ० ल० टि०। "कार्यरूपोऽभाव"–मा० टि०। १७ तेन "कारणेन"–वृ० ल० मा० टि०। १८–सत्कर–आ० हा०।

१९ "असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्॥ साङ्ख्यसप्ततौ" (साङ्ख्यका० ९)–मां० मां० टि०। पृ० २८२ पं० १८।

२० पृ० २९६ पं० ८। २१–क्षण प–मां० आ० हा० वि०।

[(३) वैशेषिकाभिमतत्वेनोपन्यस्तस्यासत्कार्योत्पत्तिवादस्य निरसनम्]

मृत्पिण्डावस्थायां घटार्थक्रिया-गुणव्यपदेशाभावात् 'असदुत्पद्यते कार्यम्' इत्ययमप्येकान्तो मिथ्यावाद एव। कार्योत्पत्तिकाले कारणस्याविचलितरूपस्य कार्याद्व्यतिरिक्तस्य सत्त्वे पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात्। तद्व्यतिरिक्तस्य तस्य सद्भावे कारणस्य प्राक्तनस्वरूपेणैवावस्थितत्वात् अकारणा ५कार्योत्पत्तिर्भवेत् कारणस्य प्राक्तनोऽकरणस्वरूपापरित्यागात् परित्यागे वा कार्यकरणस्वरूपस्वीकारेण तस्यैवावस्थितत्वादनेकान्तसिद्धिः। व्यतिरेके च कारणात् कार्यस्य पृथगुपलम्भप्रसङ्गः। न च तदाश्रितत्वेन तस्योत्पत्तेर्न तत्प्रसङ्ग इति वक्तव्यम्, अवयविनः समवायस्य च निषेत्स्यमानत्वात् निषिद्धत्वाच्च।

[(४) बौद्धाभिमतत्वेनोपन्यस्तस्य 'कारणाद् भिन्नं कार्यं तत्रासदेव' इति वादस्य निरसनम्]

१० कारणाद् व्यतिरिक्तं तत्र असदेव कार्यमित्ययमपि पक्षो मिथ्यात्वमेव। तथाहि-एकान्ततो निवृत्ते कारणे कार्यमुत्पद्यत इत्यत्र कारणनिवृत्तिः सद्रूपा, असद्रूपा वेति वक्तव्यम्। सद्रूपत्वेऽपि न तावत् कारणस्वरूपा, कारणस्य नित्यत्वप्रसक्तेः निवृत्तिकालेऽपि कारणसद्भावात्। न चाविचलितस्वरूपमृत्पिण्डसद्भावे घटोत्पत्तिर्दृष्टेति कार्यानुत्पत्तिप्रसक्तिश्च। नापि कार्यरूपा तन्निवृत्तिः कारणानिवृत्तौ कार्यस्यैवानुत्पत्तेः। एवं च कार्यानुत्पादकत्वेन कारणस्याप्यसत्त्वमेव। न च कार्योत्पत्तिरेव कारण-१५निवृत्तिरिति कारणानिवृत्तेर्न कार्योत्पत्तिरिति नायं दोषः, कार्यगतोत्पादस्य कारणगतविनाशरूपत्वायोगात् भिन्नाधिकरणत्वात् कारणनिवृत्तेश्च कार्यरूपत्वे कारणं कार्यरूपेण परिणतमिति घटस्य मृत्स्वरूपवत् कपालेष्वप्युपलब्धिप्रसङ्गः। नाप्युभयरूपा तन्निवृत्तिः, कारणनिवृत्तिकाले कार्य-कारणयोर्युगपदुपलब्धिप्रसक्तेः। नाप्यनुभयस्वरूपा तन्निवृत्तिः, मृत्पिण्डविनाशकाले विवक्षितमृत्पिण्डघटव्यतिरिक्ताऽशेषजगदुत्पत्तिप्रसक्तेः। अथ असद्रूपा तन्निवृत्तिः तत्रापि यदि कारणाभावरूपा २०तदा कारणाभावात् कार्योत्पादप्रसक्तेर्निर्हेतुको कार्योत्पाद इति देश-कालाऽऽकारनियमः कार्यस्य न स्यात् अभावाच्च कार्योत्पत्तौ विश्वमदरिद्रं भवेत्। नापि कार्याभावरूपा तन्निवृत्तिः कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नाप्युभयाभावस्वभावा द्वयोरप्यनुपलब्धिप्रसक्तेः। नाप्यनुभयाभावरूपा विवक्षितकारण-कार्यव्यतिरेकेण सर्वस्यानुपलब्धिप्रसक्तेः कारणस्योपलब्धिप्रसक्तेश्च। कारणभावाभावरूपापि न तन्निवृत्तिः, कारणस्यानुगतव्यावृत्तताप्रसक्तेः। अत एव च सदसद्रूपं स्व-पररूपापेक्षया अनेकान्त-२५वादिभिर्वस्त्वभ्युपगम्यते। पररूपेणेव स्वरूपेणाप्यसत्त्वे वस्तुनो निःस्वभावताप्रसक्तेः। स्वरूपवत् पररूपेणापि सत्त्वे पररूपताप्रसक्तेः। एकरूपापेक्षयैव सदसत्त्वविरोधात् अन्यथा वस्त्वेव न भवेत्। नापि कार्यभावाभावरूपा, कार्यस्योत्पत्त्यनुत्पत्त्युभयरूपताप्रसक्तेः तथा च सिद्धसाध्यता केवलोभयपक्षोक्तदोषप्रसक्तिश्च। नापि कार्यकारणोभयभावाभावरूपा, प्रत्येकपक्षोदितसकलदोषप्रसक्तेः[10]। परस्परसव्यपेक्षकार्यकारणभावाभावरूपकारणनिवृत्त्यभ्युपगमेऽनेकान्तवादप्रसक्तिश्च। नाप्यनुभय-३०भावाभावरूपा अनुभयरूपस्य वस्तुनोऽभावात्। न च तन्निवृत्तेः सत्त्वम् एकान्तभावाभावयोर्विरोधात्। अनुभयभावाभावरूपत्वे तु तस्याः कारणस्याऽप्रच्युतत्वात् तथैवोपलब्धिप्रसङ्गः। अपि च, कारणनिवृत्तिस्तत्स्वरूपाद् भिन्ना, अभिन्ना वा? यद्यभिन्ना, निवृत्तिकालेऽपि कारणस्योपलब्धिप्रसङ्गः तन्निवृत्तेः कारणात्मकत्वात् स्वकालेऽपि वा कारणस्योपलब्धिर्न स्यात् तस्य तन्निवृत्तिरूपत्वात्। भिन्ना चेत् 'कारणस्य निवृत्तिः' इति सम्बन्धाभावात् अभिधानानुपपत्तिः। सङ्केतवशात् ३५अभिधानप्रवृत्तावपि आधेयनिवृत्तिकाले अधिकरणस्य सत्त्वम् असत्त्वं वेति वक्तव्यम्। सत्त्वे कारणविनाशानुपपत्तिः आधेयनिवृत्त्या कारणस्वरूपस्याऽऽधारस्याऽविरोधात् विरोधे वा कारण-तन्निवृ-

१ घटाद्यर्थ–मां० आ० वि०। २–रणे का–वृ० ल० बा० भा० विना।–रणका–भां०। ३–नाकारण–मां०। ४ कार्यकार–वा० बा० मा०। ५ "पृथगुपलम्भ."–मां० टि०। ६ पृ० १०६ पं० ९। ७–पाले–ष्वपल–वृ० ल०।–पालेष्वपल–वा० बा०। ८ "घटस्यानिवृत्ते"–मां० टि०। ९ प्र० पृ० पं० १२ तथा पं० २१। १० प्र० पृ० पं० १७ तथा २२। ११–गमे। ने–बृ०। १२ तस्य का–वृ०। ल० स०। १३ "कारण"स्वरूपात्–वृ० ल० टि०। १४ "आधेया चासौ निवृत्तिश्च"–मां० टि०।

स्योर्यौगपद्यासम्भवात् असत्त्वेऽप्यधिकरणत्वविरोधः असतोऽधिकरणत्वायोगात् तस्य वस्तुधर्म-
त्वात्। अथ कारणं निवृत्तेर्नाधिकरणम् अपि तु तद्धेतुः, न; निवृत्तेरुत्तरकार्यवत् तत्कार्यत्वप्रसङ्गात्
तदनभ्युपगमे कारणस्य तद्धेतुत्वप्रतिज्ञाहानिः अकार्यस्य तद्धेतुत्वविरोधात् अविरोधे वन्ध्याया अपि
सुतं प्रति हेतुत्वप्रसक्तेः। न च कारणाहेतुकैव कारणनिवृत्तिः, कारणानन्तरभावित्वविरोधात्। न वै
कारणहेतुका तन्निवृत्तिः, कारणसमानकालं तदुत्पत्तिप्रसङ्गतः प्रथमक्षण एव कारणस्यानुपलब्धि- ५
प्रसक्तेः उपलम्भे वा न कदाचित् कारणस्यानुपलब्धिर्भवेत् तन्निवृत्त्याऽविरुद्धत्वात्। न च
कारणनिवृत्तिः स्वहेतुका, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। न च निर्हेतुकैव कारणानन्तरमेव तस्या भाव-
विरोधात् अहेतोर्देशादिनियमाभावात्।

अथ न कारणं निवृत्तेर्हेतुः अधिकरणं वा किन्तु स्वयमेव न भवति, नन्वत्रापि किं स्वसत्ता-
समय एव स्वयं न भवति, आहोस्विदुत्तरकालमिति विकल्पद्वयानतिक्रान्तिः। यदि प्राक्तनविकल्पस्तदा १०
कारणानुत्पत्तिप्रसङ्गः प्रथमक्षण एव निवृत्त्याऽऽक्रान्तत्वात् उत्पत्त्यभावे न निवृत्तिरपि अनुत्पन्नस्य
विनाशासम्भवात्। नापि द्वितीयः तदा निवृत्तिभवने उत्पन्नाऽनुत्पन्नतया कारणस्वरूपाऽभवनयो-
स्तादात्म्यविरोधात् यदि हि स्वसत्ताकाल एव न भवेत् तदा भवनाऽभवनयोरविरोधात् "स्वयमेव
भावो न भवेत्" [ ] इति वचो घटेत नान्यथा। न च जन्मानन्तरं भावा-
भावस्य भावात्मकत्वात् तद्व्यतिरिक्त एवाभावः नन्वेवमपि जन्मानन्तरं 'स एव न भवति' इत्यनेन १५
अभावस्य भावरूपतैवोक्तेत्युत्तरकालमपि कारणानिवृत्तेस्तथैवोपलभ्यादिप्रसङ्गः। भावस्य अभावा-
त्मकत्वान्नायं दोष इति चेत्, न; अत्रापि पर्युदासाभावात्मकत्वं भावस्य, प्रसज्यरूपाभावात्मकत्वं
वा? प्रथमपक्षे स्वरूपपरिहारेण तदात्मकतां प्रतिपद्यते, अपरिहारेण वा? प्रथमपक्षे स्वभवन-
प्रतिषेधपर्यवसानत्वान्न पर्युदासाभावात्मको भावो भवेत्। न चासौ तथा तद्ग्राहकप्रमाणा-
भावात् तथाभूतभावग्राहकप्रमाणाभ्युपगमे च प्रसज्यपर्युदासात्मको भावो भवेदित्यनेकान्त- २०
प्रसिद्धिः। द्वितीयपक्षेऽपि न पर्युदासः अनिषिद्धतत्स्वरूपत्वात् पूर्वभावस्वरूपवत्। प्रसज्यरूपा-
भावात्मकत्वेऽपि भावस्य प्रतिषिध्यमानस्याश्रयो वक्तव्यः न तावत् मृत्पिण्डलक्षणं कारणमाश्रयः
तस्य प्रतिषिध्यमानत्वात् निषिध्यमानस्य चाश्रयत्वानुपपत्तेः। नापि घटलक्षणं कार्यमाश्रयः,
कारणनिवृत्तेर्हि प्राग् घटस्यासत्त्वेन 'अयम्' इतिप्रत्ययाविषयत्वात् 'अयं'प्रत्ययविषयत्वे च 'अयं
ब्राह्मणो न भवति' 'ब्राह्मणादन्योऽयम्' इति च प्रसज्यपर्युदासव्यवहारो दृष्टः नान्यथेति प्रतिषेध- २५
प्रधानविध्युपसर्जनविधिप्रधानप्रतिषेधोपसर्जनयोः शब्दयोः प्रवृत्तिनिमित्तधर्मद्वयाधारभूतं द्रव्यं
विषयत्वेनाभ्युपगन्तव्यमन्यथा तदयोगात्। तथा चानेकान्तवादापत्तिरयत्नसिद्धेति तथाभूतस्य तस्य
वस्तुनः प्रमाणबलायातस्य निषेद्धुमशक्यत्वात्। एकान्तेन घटस्योत्पत्तेः प्रागसत्त्वे क्रियायाः
प्रवृत्त्यभावः फलसद्भावात् तत्सद्भावेऽपि प्रवृत्तावनवस्थाप्रसक्तेः। कारणेऽप्येतदविशेषतस्तद्वत्
प्रसङ्गे द्वयोरप्यभावप्रसङ्गः। न चैतदस्ति तथाऽप्रतीतेः। तन्न मृत्पिण्डे घटस्य सत्त्वम्। ३०

नाप्येकान्ततोऽसत्त्वम्, मृत्पिण्डस्यैव कथञ्चित् घटरूपतया परिणतेः। सर्वात्मना पिण्डनि-
वृत्तौ पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः घटसदसत्त्वयोराधारभूतमेकं द्रव्यं मृल्लक्षणमेकाकारतया मृत्पिण्ड-
घटयोः प्रतीयमानमभ्युपगन्तव्यम्। न च कारणप्रवृत्तिकाले कारणगता मृद्रूपता तन्निवृत्तिकाले
च कार्यगता सापरैव नोभयत्र मृद्रूपताया एकत्वम्, भेदप्रतिपत्तावपि मृत्पिण्ड-घटरूपतया
कथञ्चिदेकत्वस्याबाधितप्रत्ययगोचरत्वात् उपलभ्यत एव हि कुम्भकारव्यापारसव्यपेक्षं मृद्द्रव्यं ३५

---

१ "कार्यत्ववत्"-वृ० टि०। २ "कार्यत्वा"नभ्युपगमे-वृ० टि०। ३ च कारण कारण हे-वृ० भां०
मां०। च कारणहे-वृ० स०। ४ घटते भां० मा०। घटेत प्र० मां० बहि। ५ जन्मान्तरं मा०। जन्मा-
नन्तरं प्र० मां० वहि। ६ "भावा"व्यतिरिक्त-वृ० ल० मा० टि०। ७-रण नि-मा०।-रणानि-प्र० मा०
बहि०। ८ "पर्युदासात्मको(ऽ)भाव"-वृ० ल० टि०। "पर्युदासात्मकोऽभाव."-मा० टि०। ९ तथा "स्वरूपपरि-
हाररूपतया"-वृ० ल० मां० टि०। १०-पगमे वा प्र-वृ० ल० वा० बा०। ११-त्मकेऽपि-मा०। १२-क्षण
का-आ०। १३-स्य वस्तु-वा० बा० आ०। १४-कान्तघट-आ०। १५ "सत्त्वा"विरोधात्-वृ० ल० मा०
टि०। १६ "कार्यवत्"-वृ० ल० मां० टि०। १७ प्रसङ्गेन द्व-आ०। "क्रियाया" प्रसङ्गे-वृ० ल० मां० टि०।
१८ "कारण-कार्ययोः"-वृ० ल० मां० टि०। १९ चैवत-आ०। २० कारणनिवृ-प्र० मा० बहि।

पिण्टाकारपरित्यागेन शिवकाद्याकारतया परिणममानम् नहि तत्र 'इदं कार्यमाधेयभूतं भिन्नमुपजातं पङ्के पङ्कजवत्' इति प्रतिपत्तिः। नापि तत्करणनिर्वर्त्यतया दण्डोत्पादितघटवत्। नापि तत्कर्तृतया कुविन्दव्यापारसमासादितात्मलाभपटवत्। नापि तदुपादानतया आम्रवृक्षोत्पादिताम्रफलवत्। तस्मात् पूर्वपर्यायविनाश उत्तरपर्यायोत्पादात्मकः, तद्देशकालत्वात्, उत्पादात्म-
५वत्। अभावरूपत्वाद्वा प्रदेशस्वरूपघटाद्यभाववत्। प्रागभावाभावरूपत्वाद्वा घटस्वात्मवत् एवमनभ्युपगमे पूर्वपर्यायस्य ध्वंसात् उत्तरस्य चानुत्पत्तेः शून्यताप्रसक्तिः। उत्तरपर्यायोत्पादाभ्युपगमे वा तदुत्पादः पूर्वपर्यायप्रध्वंसात्मकः प्रागभावाभावरूपत्वात् प्रध्वंसाभावाभाववत्। न च प्राक्तनपर्यायविनाशात्मकत्वे उत्तरपर्यायभवनस्य तद्विनाशे पूर्वपर्यायस्योन्मज्जनप्रसक्तिः अभावाभावमात्रत्वानभ्युपगमात् वस्तुनः तस्य प्रतिनियतपरिणतिरूपत्वात्। भावाभावोभयरूपतया प्रतिनियतस्य
१०वस्तुनः प्रादुर्भावे मुद्गरादिव्यापारानन्तरमुपलभ्यमानस्य कपालादेरभावस्य नाहेतुकता। न चोभयस्यैकव्यापारादुत्पत्तिविरोधः तथाप्रतीयमाने विरोधासिद्धेः। ततस्तद्विपरीत एव विरोधसिद्धेरुभयैकान्ते प्रमाणानवतारात्। तथात्मकैकत्वेन प्रतीयमानं प्रति हेतोर्जनकत्वविरोधे घटक्षणसत्तायाः स्व-परविनाशोत्पादकत्वं विरुध्येत, एवं चाकारणा घटक्षणान्तरोत्पत्तिर्भवेत्। न च विनाशस्य प्रसज्य-पर्युदासपक्षद्वयेऽपि व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तादिविकल्पतो हेत्वयोगान्निर्हेतुकता युक्ताः, सचा-
१५हेतुत्वेऽपि तथाविकल्पनस्य समानत्वेन प्राक् प्रदर्शितत्वात्।

यदपि 'विनाशस्य निर्हेतुकत्वात् स्वभावादनुबन्धितेति निरन्वयक्षणक्षयिता भावस्येति नान्वयः,' तदप्यसङ्गतम्; विनाशहेतोर्मुद्गरादेर्घटादिनाशस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। न ह्यध्यक्षसिद्धे वस्तुन्यनुमानं विपरीतधर्मोपस्थापकत्वेन प्रामाण्यमात्मसात्करोति। यदपि 'विनाशं प्रति तद्धेतोरसामर्थ्यात् क्रियाप्रतिषेधाच्च स्वरसवृत्तिर्विनाश इति नान्वयः,' तदप्यसङ्गतम्; विनाशहेतोर्भावाभावीकरणसामर्थ्यात्।
२०यथा हि भावहेतुर्भावीकरोति, अन्यथा स्वयमेव नाशोऽपि भावानां द्वितीयक्षणे 'स्वयमेवभावो भावीभवति' इति भवेत्। यथा हि निष्पन्नस्य भावस्य नाभावो नाम कश्चित् तत्सम्बन्धी यदन्योऽभावो भवेत् निष्पन्नस्य भावस्य तदा तेन तस्य सम्बन्धासिद्धेः पूर्ववद् दर्शनप्रसङ्ग इति 'स्वयमेव भावो न भवति' इत्यभिधीयते तथा न निष्पन्नस्य भावस्य भावो नामान्यः कश्चित् तेन तस्य सम्बन्धासिद्धेर्न भावस्य सत्ता भवेदिति 'स्वयमेव हेतुनिरपेक्षो भावो भवति' इत्येतदपि वक्तव्यम्। यदि पुनस्तत्र
२५न किञ्चिद् भवतीति क्रियाप्रतिषेधमात्रमिति न हेतुव्यापारः कथं तर्हि तदवस्थस्य भावस्य दर्शनादिक्रिया न भवेदिति वक्तव्यम्? स एव न भवतीति चेत्, तर्हि तस्यैवाभवनं करोति विनाशहेतुरित्यप्यभ्युपगन्तव्यमिति तद्धेतूनामकिञ्चित्करतयाऽनपेक्षणीयत्वमनुपपन्नम्। अत एवापेक्षणीयत्वोपपत्तिर्भावस्यान्यथाकरणात् कथञ्चिदन्यथा सहानवस्थानलक्षणविरोधासिद्धेः प्रतिनियतव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः। अपि च, यदि नाम स एव न भवति तथापि प्रध्वंसाभावः प्रागभावाभावात्मक उत्तरकार्य-
३०वदभ्युपगन्तव्यः तस्यापि तदनन्तरमुपलम्भात्। एतावान् विशेषः—विनाशप्रतिपादनाभिप्राये सति तत्प्राधान्येतरोपसर्जनविवक्षायाम् 'विनष्टो भावः' इति प्रयुज्यते प्रतिपत्तिरपि तथैव, विनाशोपसर्जनेतरप्राधान्यविवक्षायाम् 'उत्पन्नानि कपालानि' इति प्रयुज्यते प्रतिपत्तिरपि तथैव। परमार्थतस्तु उभयमप्युभयात्मकम् अन्यथा पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः। न च कारणस्य निरन्वयविनाशे कार्यस्यादलस्यात्यन्तासत उत्पत्तिर्घटते, विनष्टस्य सकलशक्तिविरहिणः कारणस्य कार्यक्रियाऽयोगात् अविनष्टस्य
३५स्वसत्ताकाले कार्यनिर्वर्त्तने हेतु-फलयोः सहभाव इति तद्व्यपदेशः सव्येतरगोविषाणयोरिव न भवेत्। स्वकाले पश्चात् कार्यस्य भावे तदा कारणस्य स्वसत्तामत्यजतः क्षणक्षयपरिक्षयोऽनिष्टोऽनुपज्यते।

---

१ शिविका–भां० मां०। २ "साध्यं भिन्नपि एकमेव"–बृ० ल० मां० टि०। ३–साभाववत्। भा०। ४ "यथाक्रमम्"–बृ० ल० मां० टि०। ५–रुध्यते भा० मां०। ६ एवं वा–आ०। ७ स्वभावहेतुबन्धितेति मां०। स्वभावानुबन्धितेति वा० बा०। ८ नाशोऽपि भा० आ०। ९–यमेवा भा–वा० बा०। १०–वन्यो भा–आ०। ११–सङ्गत इ–आ०। १२–पत्तिभा–बृ०। वा० स०। १३–धासिद्धिः प्र–वा० बा०। १४ "प्रध्वंसाभावस्य"–बृ० ल० टि०। १५ "प्रागभावा"नन्तरम्–बृ० ल० टि०। १६–क्रियायो–स० भा०। १७–निर्वर्तनो हे–वा० बा०।–निवर्तने स० आ०।

किञ्च, कारणसत्तासमये कार्यस्याभवतः स्वयमेव पश्चाद् भवतः तदकार्यत्वप्रसक्तिश्च। तथाहि-यस्मिन् सति यन्न भवति असति च भवति तत् तस्य न कार्यम् इतरच्च न कारणम्, यथा कुलालस्य पटादिः। क्षणक्षयपक्षे च प्रथमक्षणे कारणाभिमतभावसद्भावे न भवति कार्यम् असति तस्मिन् द्वितीयक्षणे भवति चेति न तत् तत्कार्यं इतरच्च तत्कारणमिति हेतुफलभावाऽभावस्य तन्मात्र-निबन्धनत्वात्। अत एव क्षणिकाद् अर्थक्रिया व्यावर्त्तमाना स्वं व्याप्यं सत्त्वलक्षणमादाय निवर्त्तत ५ इति यत्र सत्त्वं तत्राऽक्षणिकत्वं सिद्धिमासादयति। न च कार्यकालेऽभवतोऽपि कारणस्य प्राक्तना-नन्तरक्षणभावित्वात् कारणत्वम् कार्यकाले स्वयमेवाभवतोऽकारणान्तरवत् कारणत्वायोगात् कार्यस्य च कारणकाले आत्मनैवाऽभवतः कार्यान्तरवत् तत्कार्यत्वानुपपत्तेः। क्षणिकस्य च प्रमाणा-विषयत्वान्न तत्र कार्यकारणभावपरिकल्पना युक्तिसङ्गता। न चानुपलब्धेऽपि तत्र कार्यकारणभाव-व्यवस्था अतिप्रसङ्गात्। न च क्षणक्षयमीक्षमाणोऽपि सदृशापरापरोत्पत्त्यादिविभ्रमनिमित्ताद् १० नोपलक्षयतीति वक्तव्यम् यतो नाध्यक्षात् क्षणक्षयमलक्षयंस्तत्र कार्यकारणभावं व्यवस्थापयितुं शक्नोति, नाप्यनुमानात् क्षणिकत्वं व्यवस्थापयितुं समर्थः, तस्य स्वांशमात्रावलम्बितया वस्तु-विषयत्वायोगात्। न च मिथ्याविकल्पेनाध्यवसितं क्षणिकत्वं वस्तुतो व्यवस्थापितं भवति।

यदपि 'अक्षणिके क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्' इत्याद्युक्तम्, तदपि सहकारिसन्निधा-नवशादक्षणिकस्य क्रमेणार्थक्रियां निर्वर्त्तयतोऽयुक्तमेव। यदप्युक्तम् 'तत्करणस्वभावश्चेदक्षणिकः १५ प्रागेव तत्करणप्रसङ्गः पश्चादिव स्वभावाविशेषात्' इति, तदप्ययुक्तम्; यतो न वै किञ्चिदेकं जनकम् सामग्रीतः फलोत्पत्तेः। अक्षणिकश्च सामग्रीसन्निधानापेक्षया कार्यनिर्वर्त्तनस्वभावः केवलस्तु तदकरणस्वभावः। न च तदा भाविकार्याकरणादवस्तुत्वम्, क्षणिकेऽपि प्रथमक्षणे कार्या-करणादवस्तुत्वप्रसक्तेः। अत एकत्र कारणान्तरापेक्षानपेक्षाभ्यां जनकत्वाजनकत्वे अविरुद्धे यतः न क्षणिकैर्वाप्यभ्युपगतक्षणस्यापि सम्बन्ध्यन्तरसन्निधानासन्निधानकृतः स्वभावभेदः अन्यथा २० अनेकसामग्रीसन्निपातिन एकक्षणस्यैकदा विलक्षणानेककार्योत्पादनेऽनेकत्वप्रसक्तिर्भवेत् दृश्यते च प्रदीपक्षणस्य समानजातीयक्षणान्तरकज्जलचक्षुर्विज्ञानाद्यनेककार्यनिर्वर्त्तकत्वमेकस्य नानासामग्र्यु-पनिपातिन इति क्रमेणाप्यक्षणिकस्य तदविरुद्धम्। यथा चैकक्षणस्य स्वपरकार्यापेक्षयैकदा जनक-त्वाजनकत्वे अविरुद्धे तथा अक्षणिकस्यापि सहकारिकारणसन्निधानाऽसन्निधानाभ्यां क्रमेण कार्य-जनकत्वाजनकत्वे न [13]विरोत्स्येते। २५

विज्ञप्तिपरमाणुपक्षेऽपि यथैको ज्ञानपरमाणुः सम्बन्ध्यन्तरजनितस्वभावभेदेऽप्यभिन्नः अन्यथा दिक्षट्कयोगात् सावयवत्वकल्पनया अवस्तुत्वप्रसक्तेः सेना-वनादिवत् स्वसंविदि निर्विकल्पिकायाम-प्रतिभासतः सर्वप्रतिभासविरतिर्भवेत् एवमक्षणिकोऽपि क्रमभाव्यनेकतत्तत्सहकारिसम्बन्ध्यन्तरस-व्यपेक्षकार्यजननस्वभावभेदेऽप्यभिन्नोऽभ्युपगन्तव्यः जनकत्वाजनकत्वभेदेऽपि वाऽभिन्नस्वभाव इति नाक्षणिकेऽर्थक्रियाविरोधः। न च क्षणक्षये अध्यक्षप्रवृत्तिव्यतिरेकेण अक्षणिके अर्थक्रियाविरोधः सि- ३० ध्यति इतरेतराश्रयप्रसक्तेः—तथाहि—अक्षणिकत्वे अर्थक्रियाविरोधात् प्रतिक्षणविशरारुषु अध्यक्षप्र-

---

१-क्षाद्भाव-वृ०। "सत्वभवतः स्वयमेव नियमेन पश्चाद् भवतस्तत्कार्यत्वं विरुद्धम्" सति "कारणत्वेनाभिमते पूर्वक्षणे" अभवतः "उत्तरक्षणलक्षणकार्यस्य" स्वयमेव "पूर्वक्षणरूपकारणमन्तरेण" तत्कार्यत्वम् "पूर्वक्षणकार्यत्वम्" अष्टश० तथा टि०अं० २-३-४-५ अष्टस० पृ० ९० पं० १। २ न तत्का-भां० मां० आ०। ३-ना स्वव्या-वा० बा० आ०। ४ व्याप्य स-भां० मां०। ५-वतो का-वा० बा० भां० मां० आ०। ६ "अनुमानस्य" वृ० ल० टि०। ७-कल्पना-आ०। ८-स्तुनो व्य-वा० बा० भां० मां० विना।

९ "यथोक्तम्—

"न किञ्चिदेकमेकस्मात् सामग्र्याः सर्वसंभव"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १५५ पं० १४।

१० करत्वाद्य-वा० बा०।-कत्वाद्य-आ०। ११-कत्वाभ-ल० भां० मां०।-कत्वभ-प्र० मां० वहिः। १२-नादने-भां० मां०।-नाद्यने-प्र० मां० वहि.। १३ विरोत्स्येते वा०। विरोत्स्यते वा० बा०। १४-सु-म्बन्धान्त-आ०। १५-स्वभेदेऽप्यभिन्न-आ०।-स्वभेदेऽपि वा अभ्युपगन्तव्य भिन्न-भां० मां०। १६ "अभ्युपगन्तव्य." इती शेष.-मां० टि०।

वृत्तिसिद्धिः तस्याश्च अक्षणिके अर्थक्रियाविरोधसिद्धिरिति । न च अक्षणिकवादमतेऽप्ययं समानो दोषः, कालान्तरस्थायिनि भावेऽध्यक्षप्रवृत्तिनिश्चयादेव क्षणिकत्वेऽर्थक्रियाविरोधस्य सिद्धेः । न च क्षणिके अध्यक्षप्रवृत्तिरुपजातैव केवलं भ्रान्तिकारणसद्भावान्न निश्चितेति वक्तव्यम् विहितोत्तरत्वात् । सर्वैकान्तक्षणिकस्य अर्थक्रियाकरणलक्षणं सत्त्वम् अन्यस्य च सत्तासम्बन्धादेः सत्त्वस्य परेणानभ्युप-
५गमात् असन्त एकान्तक्षणिकाः । क्षणिकवद् एकान्ताक्षणिकेष्वप्यर्थक्रियालक्षणं सत्त्वं पूर्वोपदर्शित-न्यायेन व्यावृत्तम् सत्तासम्बन्धलक्षणस्य च सत्त्वस्यातिव्याप्त्याऽसम्भवादिदोषदुष्टत्वात् असत्त्व-मित्येकान्ताऽक्षणिका अप्यसन्तो भावा इत्युत्पाद-व्यय-ध्रौव्यलक्षणमेव भावानां सत्त्वमभ्युपगन्तव्य-मिति नैकान्ततः कारणेषु कार्यमसदिति न तत् इति पक्षो मिथ्यात्वमिति स्थितम् ।

[(५) अपराभिमतत्वेनोपन्यस्ते अद्वैतवादे निरसनीये सर्वेषां तत्त्व–द्रव्य–
१० प्रधान–शब्द–ब्रह्माद्वैतवादानां निरसनम्]

अपरस्तु कार्यकारणभावस्य कल्पनाशिल्पिविरचितत्वात् तदुभयव्यतिरिक्तमद्वैतमात्रं तत्त्वमि-त्यभ्युपपन्नः तन्मतमपि मिथ्या कार्यकारणोभयशून्यत्वात् खरविषाणवत् अद्वैतमात्रस्य व्योमोत्प-लतुल्यत्वात् । तथाहि—अद्वैतप्रतिपादकप्रमाणस्य सद्भावे द्वैतापत्तितो नाद्वैतम्, प्रमाणाभावे अद्वैतासिद्धिः प्रमेयसिद्धेः प्रमाणनिबन्धनत्वात् । किञ्च, 'अद्वैतम्' इत्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधः, पर्युदासो
१५वा? प्रसज्यपक्षे प्रतिषेधमात्रपर्यवसानत्वात् तस्य नाद्वैतसिद्धिः, प्रधानोपसर्जनभावेनाङ्गाङ्गि-भावकल्पनायां द्वैतप्रसक्तिः । द्वितीयपक्षेऽपि द्वैतप्रसक्तिरेव प्रमाणान्तरप्रतिपन्ने द्वैतलक्षणे वस्तुनि तत्प्रतिषेधेनाद्वैतसिद्धिः । द्वैतादद्वैतस्य व्यतिरेके च द्वैतप्रसक्तिरेव पररूपव्यावृत्तस्वरूपाऽव्यावृत्ता-त्मकत्वेन तस्य द्विरूपताप्रसक्तेः अव्यतिरेके पुनर्द्वैतप्रसक्तिः । न चाद्वैतस्य अविद्यमानाद् द्वैताद् व्यावृत्ततासम्भवः अविद्यमानस्यापि विद्यमानाद् व्यावृत्तिप्रसक्तेः अन्यथा सद्रूपताविशेषप्रसक्तिः
२०र्भवेत् । प्रमाणादिचतुष्टयसद्भावे च न द्वैतवादान्मुक्तिः तदभावे शून्यतावादादिति नाद्वैतकल्पना ज्यायसी । न च नित्यत्वाद्वैतकल्पना भावानामनेकत्वेऽपि युक्तिसङ्गता, सर्वदा सर्वभावानां नित्यत्वे ग्राह्यग्राहकरूपताऽभावप्रसक्तेः तद्भावाभ्युपगमे वा अनेकान्तवादाश्रयणम् ग्राह्यग्राहकरूपतायाः विकारिताव्यतिरेकेणायोगात् सा च कथञ्चिदेकस्यानेकरूपानुषङ्गादिति कथं नानेकान्तसिद्धिः?

द्रव्याद्वैतवादे रूपादिभेदाभावप्रसङ्गश्च । न च चक्षुरादिसम्बन्धात् तदेव द्रव्यं रूपादिप्रतिप-
२५त्तिजनकम् सर्वात्मना तत्सम्बन्धस्य तथैव प्रतीतिप्रसक्तेः रूपान्तरस्य तद्व्यतिरिक्तस्य तत्राभावात् । तन्न द्रव्याद्वैतमपि ।

प्रधानाद्वैतं त्वयुक्तमेव सत्त्वादिव्यतिरेकेण तस्याभावात् । न च सत्त्वादेस्तदव्यतिरेकादद्वैतं प्रधानस्य, सत्त्वाद्यव्यतिरेकात् द्वैतप्रसक्तेः महदादिविकारस्य चाभ्युपगमे कथमद्वैतम्? विकारस्य च विकारिणोऽत्यन्तमभेदे 'न विकारी' इति प्रतिपादितम् । भेदाभेदे अनेकान्तसिद्धिः व्यतिरेके द्वैता-
३०पत्तिरिति । प्रतिक्षिप्तश्च प्रधानाद्वैतवाद इति न पुनः प्रतिषिध्यते ।

शब्दाद्वैतं तु नामनिक्षेपावसरे प्रतिक्षिप्तमिति न तदभ्युपगमोऽपि श्रेयान् ।

ब्रह्माद्वैतवादस्यापि प्रागेव प्रतिषेधः कृत इति तदेव वा इति अयमपि पक्षो मिथ्यात्वम् । ततः कारणे परिणामिनि वा कार्यम् परिणामो वा सदेव तावेव तावसदेव वा तत् तत्रेति न कारणमेव

१–या विरोधस्य सिद्धेर्न वृ० ल० । २–क्षवृ–भा० मां० विना । ३ पृ० ४२७ पं० १० । ४ पृ० ४२२ गा० २७ ।

५ "हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद् हेतु–साध्ययोः । हेतुना चेद् विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम्" ॥२६॥
–आप्तमी० पृ० १८, अष्टस० पृ० १६० ।

६–तमिति प्र–आ० ।

"अद्वैतं न विना द्वैताद् अहेतुरिव हेतुना । संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्याद् ऋते क्वचित्" ॥ २७ ॥
–आप्तमी० पृ० १८, अष्टस० पृ० १६१ ।

७–रूपिता–भां० मां० आ० ।–रूपता प्र० मां० यहि ० । ८ तस्यापि विद्यमानत्वाद् द्वै–भां० मां० आ० ।
९ "प्रमेय–प्रमातृ–प्रमिति" प्रभृति–मां० टि० । १० पृ० ४२२ गा० २७ । ११ सदेना–आ० ।

कार्यम् परिणामी वा परिणामः। न कार्यम् नापि कारणम् अपि तु द्रव्यमात्रं तत्त्वमिति तदेव वेति नियमेन एकान्ताभ्युपगमे सर्वे एवैते मिथ्यावादा उक्तन्यायेन नियमेन मिथ्यात्वम् इत्यभिधानात् कथञ्चिदभ्युपगमे सम्यग्वादा एवैते इत्युक्तं भवति यत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकत्वे वस्तुनः स्थिते तद् वस्तु तत्तदपेक्षया कार्यम् अकार्यं च, कारणम् अकारणं च, कारणे कार्यं सच्च असच्च, कारणं कार्यकाले विनाशवत् अविनाशवच्च तथैव प्रतीतेरन्यथा चाऽप्रतीतेः॥ २७॥ ५

[स्वे स्वेंऽशे सत्यानामपि नयानां परांशविचालने मिथ्यात्वात् समयज्ञः सापेक्षावधारणं करोतीति वर्णनम्]

अत एकान्तरूपस्य वस्तुनोऽभावात् सर्वेऽपि नयाः स्वविषयपरिच्छेदसमर्था अपि इतरनय-विषयव्यवच्छेदेन स्वविषये वर्तमाना मिथ्यात्वं प्रतिपद्यन्त इत्युपसंहरन्नाह—

णिययवयणिज्जसच्चा सव्वनया परवियालणे मोहा। १०
ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा॥ २८॥

निजकवचनीये स्वांशे परिच्छेद्ये सत्याः सम्यग्ज्ञानरूपाः सर्वे एव नयाः संग्रहादयः परविचालने परविषयोत्खनने मोहाः मुह्यन्तीति मोहा मिथ्याप्रत्ययाः परविषयस्यापि सत्यत्वेनोन्मूलयितुमशक्यत्वात् तदभावे स्वविषयस्याप्यव्यवस्थितेः ततश्च परविषयस्याभावे स्वविषयस्याप्यसत्त्वात् तत्प्रत्ययस्य मिथ्यात्वमेव तद्व्यतिरिक्तग्राहकप्रमाणस्य चाभावात् तस्मात् तानेव नयान् १५ पुनः शब्दस्यावधारणार्थत्वात् न इति प्रतिषेधो विभजनक्रियायाः दृष्टः समयः सिद्धान्तवाच्यमनेकान्तात्मकं वस्तुतत्त्वं येन पुंसा स तथा स न विभजते सत्येतरतया-स्वेतरविषयमवधारयमाणोऽपि तथा तान् न विभजते अपि त्वितरनयविषयसव्यपेक्षमेव[1] स्वनयाभिप्रेतं विषयं सत्यमेवावधारयतीति यावत्। 'ग्राह्यसत्यासत्याभ्यां ग्राहकसत्यासत्ये' इत्येवमभिधानम् तच्च दृष्टाऽनेकान्ततत्त्वस्य विभजनम् 'स्यादस्त्येव द्रव्यार्थतः' इत्येवंरूपम्॥ २८॥ २०

[सर्वस्यापि वस्तुनोऽभेदरूपेण द्रव्यार्थिकपरिच्छेद्यस्यैव भेदरूपेण पुनः पर्यायार्थिकपरिच्छेद्यत्वाभिधानम्]

अतो नय-प्रमाणात्मकैकरूपताव्यवस्थितमात्मस्वरूपम् अनुगतव्यावृत्तात्मकम् उत्सर्गापवादरूपग्राह्यग्राहकात्मकत्वाद् व्यवतिष्ठत इत्यर्थप्रदर्शनायाह—

दव्वट्ठियवत्तव्वं सव्वं सव्वेण णिच्चमवियप्पं।
आरद्धो य विभागो पज्जववत्तव्वमग्गो य॥ २९॥ २५

यत् किञ्चिद् द्रव्यार्थिकस्य संग्रहादेः सदादिरूपेण व्यवस्थितं वस्तु वक्तव्यं परिच्छेद्यं तत् सर्वं सर्वेण प्रकारेण नित्यं सर्वकालम् अविकल्पं निर्भेदम् सर्वस्य सदसद्विशेषात्मकत्वात् तच्च भेदेन सम्पृक्तमिति दर्शयितुमाह—आरब्धश्च विभागः स पर्यायविभागः सत्तारूपो यो द्रव्यादिनाऽऽकारेण, प्रस्तुतश्च भेदः चशब्दस्य प्रक्रान्ताऽविभागानुकर्षणार्थत्वात् पर्यायव- ३० क्तव्यमार्गश्च पर्यायास्तिकस्य यद् वक्तव्यं विशेषः तस्य मार्गः पन्था जातः—पर्यायार्थिकपरिच्छेद्यस्वभावो विशेषः सम्पन्न इति यावत्॥ २९॥

---

१ सर्व वि-स० भां० मां०। २ "स्वेतरविषयतया"—भां० डे०। ३-च स्वनया-वृ० वा० बा०। -च स्वान्यनया-वृ० सं०। प्र० मां० वदि०। ४ सत्ये असत्ये वा अवधारयतीति प्र० मां० वदि। ५५ स० त०

[शब्दार्थगतत्वेन पर्यायस्य द्वैविध्यं प्रदर्श्य तस्य द्विविधस्यापि पुनर्भेदाभेदरूपेण विवेचनम्]

एवं भेदाभेदरूपं वस्तूपदर्श्य भेदस्य पर्यायार्थिकविषयस्य द्वैविध्यमाह—

सो उण समासओ चिय वंजणणिअओ य अत्थणिअओ य ।
अत्थगओ य अभिण्णो[1] भइयव्वो[3] वंजणवियप्पो[4] ॥ ३० ॥

५ **स पुनर्विभागः समासतः** संक्षेपतो **व्यञ्जननियतः** शब्दनयनिबन्धनः **अर्थनियतश्च** अर्थनयनिबन्धनश्च । तत्र **अर्थगतस्तु** विभागः **अभिन्नः** सङ्ग्रह–व्यवहार–ऋजुसूत्रार्थप्रधाननयविषयोऽर्थपर्यायोऽभिन्नः असदद्रव्यातीतानागतव्यवच्छिन्नाभिन्नार्थपर्यायरूपत्वात्, तद्विषया नया अपि 'अर्थगतो विभागोऽभिन्नः' इत्युच्यते[5] । **भाज्यो व्यञ्जनविकल्प** इति । विकल्पितः[6] शब्दपर्यायो भिन्नः अभिन्नश्चानेकाभिधान[7] एकः एकाभिधानश्चैकः इति कृत्वा, समानलिङ्ग–सङ्ख्या–काला-
१० दिरनेकशब्दो 'घटः' 'कुटः' 'कुम्भः' इत्यादिक एकार्थ इति शब्दनयः । समभिरूढस्तु[8] भिन्नाभिधेयौ घट–कुटशब्दौ, भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, रूप–रसादिशब्दवत् इत्येकार्थ एकशब्द इति मन्यते । एवंभूतस्तु चेष्टासमय एव घटो 'घट'शब्दवाच्यः अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । तदेवम् अभिन्नोऽर्थो वाच्योऽस्येत्यभिन्नार्थो घटशब्द[9] इति मन्यते ॥ ३० ॥

[एकस्यैव वस्तुनस्त्रैकालिकानन्तशब्दार्थपर्यायशालितयाऽनन्तप्रमाणत्वेन सर्वात्मकत्वाख्यानम्]

१५ यत् तदन्यतो विभक्तेन स्वरूपेणैकमनेकं च वस्तूक्तम् तद् अनन्तप्रमाणमित्याख्यातुमाह—

एगदवियम्मि जे अत्थपज्जया वयणपज्जया वावि ।
तीयाणागयभूया तावइयं तं हवइ दव्वं ॥ ३१ ॥

एकस्मिन् जीवादिद्रव्ये **अर्थपर्याया** अर्थग्राहकाः संग्रह–व्यवहार–ऋजुसूत्राख्याः तद्ग्राह्या वा अर्थभेदाः **वचनपर्यायाः** शब्दनयाः शब्द–समभिरूढ–एवंभूताः तत्परिच्छेद्या वस्त्वंशा वा
२० ते च **अतीतानागतवर्त्तमानरूपतया** सर्वदा विवर्त्तन्ते विवृत्ताः विवर्तिष्यन्त इति तेषामानन्त्याद् **वस्त्वपि तावत्प्रमाणं भवति** । तथाहि–अनन्तकालेन सर्वेण वस्तुना सर्वावस्थानां परस्परानुगमेनाऽऽसादितत्वात् अवस्थातुश्चावस्थानां कथञ्चिदनन्यत्वात् घटादिवस्तु पट–पुरुषादिरूपेणापि कथञ्चिद् विवृत्तमिति सर्वं सर्वात्मकं कथञ्चिदिति स्थितम् । दृश्यते चैकं पुद्गलद्रव्यं अतीताऽनागतवर्त्तमानद्रव्य–गुण–कर्म–सामान्य–विशेषपरिणामात्मकं[11] युगपत् क्रमेणापि तत् तथा-
२५ भूतमेव[10] । एकान्ताऽसत उत्पादायोगात् सतश्च निरन्वयविनाशासम्भवादिति प्रतिपादितत्वात् ॥३१॥

[व्यञ्जनार्थपर्यायभावनया पुरुषस्य भेदाभेदात्मकत्वसमर्थनेन वस्तुमात्रस्याऽनेकान्तरूपत्वसूचनम्]

एवं तावद् बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधस्यापि वस्तुनोऽनेकान्तात्मकत्वं प्रतिपाद्य तत्प्रतिपादनवाक्यनयानामपि तथाविधमेव स्वरूपम् नान्याद्दग्भूतमस्तीति प्रतिपादयन्नाह—

३० **पुरिसम्मि पुरिससद्दो जम्माई मरणकालपज्जन्तो ।**
तस्स उ बालाईया पज्जवजोया बहुवियप्पा ॥ ३२ ॥

१–ओ अ–ल० भां० विना । २–ण्णो इयइव्वो वज–वा० बा० । ३ भयइव्वो बृ० ल० । ४ विअप्पो बृ० ल० । ५–त्युच्यन्ते । बृ० ।–त्युच्यति । आ० । ६–कल्पितश्च–वा० बा० । ७ "अनेकमभिधानं यस्य"–बृ० ल० मा० टि० । ८ "समभिरूढनयाशयेन"–बृ० भां० टि० । ९ घटः कु–भां० । घट–पटश–० मा० । १०–गइभू–बृ० । ११–परिमाणात्म–आ० ।

अथवा अर्थ-व्यञ्जनपर्यायैः शक्ति-व्यक्तिरूपैरनन्तैरनुगतोऽर्थः सविकल्पः निर्विकल्पश्च[1] प्रत्यक्षतोऽवगतः, इदानीं पुरुषदृष्टान्तद्वारेण व्यञ्जनपर्यायं तदविकल्पकत्वनिबन्धनम् अर्थपर्यायं च तत्सविकल्पकत्वनिमित्तमाह—**पुरिसम्मि** इत्यादिना सूत्रेण—

अतीतानागतवर्त्तमानानन्तार्थ-व्यञ्जनपर्यायात्मके पुरुषवस्तुनि 'पुरुष'इति शब्दो यस्यासौ **पुरुषशब्दः** [2] तद्वाच्योऽर्थो[3] **जन्मादिर्मरणपर्यन्तो**[4]ऽभिन्न इत्यर्थः 'पुरुषः' इत्यभिधाभिधान-५ प्रत्ययव्यवहारप्रवृत्तेः **तस्यैव बालादयः पर्यययोगाः** परिणतिसम्बन्धा **बहुविकल्पा** अनेकभेदाः प्रतिक्षणसूक्ष्मपरिणामान्तर्भूता भवन्ति तत्रैव तथाव्यतिरेकज्ञानोत्पत्तेः एवं च 'स्यादेकः' इत्यविकल्पः 'स्यादनेकः' इति सविकल्पः सिद्धः, अन्यथाऽभ्युपगमे तदभाव एवेति विपक्षे **'अत्थि'त्ति णिव्वियप्पं'** इत्यनन्तरगाथया[5] बाधां दर्शयिष्यति।

द्वितीयपातनिकाऽऽयातगाथार्थस्तु-पुरुषवस्तुनि पुरुषध्वनिर्व्यञ्जनपर्यायः शेषो **बालादि-**१० धर्मकलापोऽर्थपर्याय इति गाथासमुदायार्थः।

[व्यञ्जनपर्यायप्रसङ्गेन वाचकशब्द-वाच्यतत्सम्बन्धयोस्स्वरूपमीमांसा]

ननु कोऽयं 'पुरुष'शब्दः कथं वा शब्दोऽर्थस्य पर्यायस्ततोऽत्यन्तभिन्नत्वात् घटस्येव पटः?

[वर्णेषु वाचकत्वं व्युदस्य स्फोटे तत् प्रतिपादयतो वैयाकरणमतस्य वर्णनम्]

अत्र वैयाकरणाः प्राहुः—{"यस्मात् उच्चरितात् ककुदादिमदर्थप्रतिपत्तिः स शब्दः"[6] [ ]१५ ननु अत्र किं गकार-औकार-विसर्जनीयाः ककुदादिमदर्थप्रतिपादकत्वेन शब्दव्यपदेशं लभन्ते,[7] आहोस्वित् तद्व्यतिरिक्तः पद-स्फोटादिः? तत्र न तावद् वर्णा अर्थप्रत्यायकाः यतस्ते किं समुदिता अर्थप्रतिपादकाः, उत व्यस्ताः? यदि व्यस्तास्तदैकेनैव वर्णेन गवाद्यर्थप्रतिपत्तिरुत्पादितेति द्वितीया-दिवर्णोच्चारणमनर्थकं भवेत्।[8] अथ समुदिता अर्थप्रत्यायकाः, तदपि न सङ्गतम्; क्रमोत्पन्नाना-मनन्तरविनष्टत्वेन समुदायासम्भवात्। न च युगपदुत्पन्नानां समुदायप्रकल्पना, एकपुरुषापेक्षया २०

१-कल्पकश्च भां० मा०। "सभेदः अभिन्नश्च"-बृ० टि०। "सभेदः अभेदश्च"-ल० भां० टि०। २ "वाचक-पुरुषवादे."-भां० टि०। ३ तद्वाच्य-"शब्द"वाच्यः-भा० टि०। ४-न्मादिम-भां०। ५ गा० ३३।

६ "येनोच्चारितेन सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर-विषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः."-महाभा० प्र० खं० पृ० १६ पं० १५। अनेकान्तज० पृ० ४४ प्र० पं० १० अम०।

७ "अथ 'गौः' इत्यत्र कः शब्दः? गकार-औकार-विसर्जनीया इति भगवान् उपवर्षः."-मीमां० पृ० १० पं० ११। प्रमेयक० पृ० १२६ प्र० पं० ५। स्याद्वादर० पृ० ३१७ प्र० पं० २। श्लो० वा० पार्थ० व्या० पृ० ५११ पं० १०।

८ "तद्वाचकस्तु पदादिस्फोट एव, न पुनर्वर्णाः। ते हि किं समस्ता व्यस्ता वा तद्वाचकाः? यदि व्यस्तास्तदैकेनैव वर्णेन गवाद्यर्थप्रतिपत्तिरुत्पादितेति द्वितीयादिवर्णोच्चारणमनर्थकम्" इत्यादिग्रन्थेनायं वैयाकरणपक्षः प्रसरतो वर्तते प्रमेयकमलमार्तण्डे-पृ० १३१ द्वि० पं० ११।

"तथाहि—न वर्णाः प्रत्येकमर्थविषयां धियमाविर्भावयन्ति शेषवर्णवैयर्थ्यात्, समुदायश्च तेषां न संभवति अन्त्यवर्ण-ग्रहणसमये पूर्वेषामसंभवात्" इत्यादि-प्रशस्त० कं० पृ० २६९ पं० २।

"न चास्य विषयो वर्णास्तेषु नैरर्थ्यधीर्भवेत्। न च तत्समुदायोऽपि कश्चिदस्त्यसंभवात्" ॥ ४ ॥
—स्फोटसि० पृ० १।

९ "तत्र तावद् गकारादेरेकैकस्य न वाच्यधीः। उदेति यदि चेदस्मिन् प्रथमेनैव गादिना" ॥ १२ ॥
"वर्णेनोच्चरितेनेह गवाद्यर्थाभिधायिना। उच्चारणं द्वितीयादिवर्णानां स्यान्निरर्थकम्" ॥ १३ ॥
—स्फोटसि० पृ० २।

१० "तदुच्चारणसामर्थ्यं नैकैकस्मात् ततोऽर्थधीः। समुदायोऽपि वर्णेषु क्रमजातेष्वसम्भवी" ॥ १४ ॥
—स्फोटसि० पृ० २।

युगपदुत्पत्त्यसम्भवात् प्रतिनियतस्थान-करण-प्रयत्नप्रभवत्वात् तेषाम्। न च भिन्नपुरुषप्रयुक्त गकार-औकार-विसर्जनीयानां समुदायेऽप्यर्थप्रतिपादकत्वं दृष्टम् प्रतिनियतक्रमवर्णप्रतिपत्युत्तरकालभावित्वेन शाब्द्याः प्रतिपत्तेः संवेदनात्। न चान्त्यो वर्णः पूर्ववर्णानुगृहीतो वर्णानां क्रमोत्पादे सत्यर्थप्रत्यायकः, पूर्ववर्णानामन्त्यवर्णं प्रत्यनुग्राहकत्वायोगात् यतो नान्त्यवर्णं प्रति जनकत्वं
५ पूर्ववर्णानां तदुपकारित्वम् वर्णाद् वर्णोत्पत्तेरभावात्—प्रतिनियतस्थान-करणादिसम्पाद्यत्वाद् वर्णानाम् वर्णाभावेऽपि च वर्णोत्पत्तिदर्शनाच्च वर्णजन्यत्वम्। अथार्थज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वं पूर्ववर्णानामन्त्यवर्णं प्रत्युपकारकत्वम्, एतदप्ययुक्तम्; अविद्यमानानां सहकारित्वानुपपत्तेः अत एव प्राक्तनवर्णविज्ञप्तीनामपि सहकारित्वमयुक्तम्। न च पूर्ववर्णसंवेदनप्रभवसंस्काराः तत्सहायतां प्रतिपद्यन्ते, यतः संस्काराः स्वोत्पादकविज्ञानविषयस्मृतिहेतवो नार्थान्तरज्ञानमुत्पादयितुं समर्थाः–
१० नहि घटज्ञानप्रभवः संस्कारः पटे स्मृतिं विदधद् दृष्टः। न च तत्संस्कारप्रभवाः स्मृतयः सहायतां प्रतिपद्यन्ते, युगपदयुगपद्विकल्पानुपपत्तेः। न हि स्मृतीनां युगपदुत्पत्तिः अयुगपदुत्पन्नानां वाऽवस्थितिरस्ति। न च समस्तसंस्कारप्रभवैका स्मृतिस्तत्सहकारिणी, परस्परविरुद्धानेकपदार्थाऽनुभवप्रभवप्रभूतसंस्काराणामप्येकस्मृतिजनकत्वप्रसक्तेर्नानेकवर्णसंस्कारजत्वं स्मृतेः संभवतीति कुतोऽस्या अन्त्यवर्णसहकारित्वम्? न चान्यविषया स्मृतिरन्यत्र प्रतिपत्तिं जनयति खदिरव्यापृतपर-
१५ शोः कदिरच्छेदक्रियाजनकत्वप्रसक्तेः। न चान्त्यवर्णनिरपेक्ष एव 'गौ.' इत्यत्रान्त्यो वर्णः ककुदादिमदर्थप्रत्यायकः पूर्ववर्णोच्चारणवैयर्थ्यप्रसक्तेः घटशब्दान्तव्यवस्थितस्यापि तत्प्रत्यायकत्वप्रसक्तेश्च तस्मान्न वर्णाः समस्त-व्यस्ता अर्थप्रत्यायकाः सम्भवन्ति।

अस्ति च गवादिशब्देभ्यः ककुदादिमदर्थप्रतिपत्तिरिति तदन्यथानुपपत्त्या वर्णव्यतिरिक्तोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुः स्फोटाख्यः शब्दो ज्ञायते। श्रोत्रविज्ञाने च वर्णव्यतिरिक्तः स्फोटात्मा निरवयवोऽक्रमः
२० स्फुटमवभातीति तस्याध्यक्षतोऽपि सिद्धिः। तथाहि—श्रवणव्यापारानन्तरभाविन्यभिन्नार्थावभासा संविदनुभूयते, न चासौ वर्णविषया, वर्णानां परस्परव्यावृत्तरूपत्वाद् एकावभासजनकत्वविरोधात् तदजनकस्यातिप्रसङ्गतस्तद्विषयत्वानुपपत्तेः। न चेयं[11] सामान्यविषया, वर्णत्वव्यतिरेकेणापरसामान्यस्य गकार-औकार-विसर्जनीयेष्वसम्भवात् वर्णत्वस्य च प्रतिनियतार्थप्रत्यायकत्वायोगात्। न चेयं भ्रान्ता, अबाध्यमानत्वात्। न चाबाध्यमानप्रत्ययगोचरस्यापि स्फोटाख्यस्य वस्तुनोऽसत्त्वम्,
२५ अवयविद्रव्यस्याप्यसत्त्वप्रसक्तेः। एवमप्यवयव्यभ्युपगमे स्फोटाभ्युपगमोऽवश्यंभावी तत्तुल्ययोगक्षेमत्वात्। स च वर्णेभ्यो व्यतिरिक्तः नित्यः अनित्यत्वे सङ्केतकालानुभूतस्य तदैव ध्वस्तत्वात् कालान्तरे देशान्तरे च गोशब्दश्रवणात् ककुदादिमदर्थप्रतिपत्तिर्न स्यात् असङ्केतिताच्छब्दादर्थप्रतिपत्तेरसम्भवात्। सम्भवे वा द्वीपान्तरादागतस्य गोशब्दाद् गवार्थप्रतिपत्तिर्भवेत् सङ्केतकरणवैयर्थ्यं च प्रसज्येत तस्मान्नित्यः स्फोटाख्यः शब्दो व्यापकश्च सर्वत्रैकरूपतया प्रतिपत्तेः } असदेतदिति
३० वैशेषिकाः।

१–न साध्याः प्र० मां० वहि।

२ "उपाकरिष्यद् वर्णेभ्योऽप्युदपत्स्यत वाच्यधीः। इदं तावद् भवानत्र प्रष्टव्यो मतिमत्तम" ॥ २२ ॥
"एकत्वेऽप्यन्त्यवर्णस्य गौरित्यादाविहार्थधीः। भिद्यते स तु भेदोऽत्र कस्मादिति च मन्यसे" ॥ २३ ॥
"सहायभेदाद् भेद स्यादिति नेह सहायता। कार्ये व्याप्रियमाणस्य सहायत्वं हि दृश्यते" ॥ २४ ॥
"असता पूर्ववर्णेन तदानीं व्याप्तृतिः कथम्?। असतामपि साहाय्यं वर्णानां यदि मिष्यते" ॥ २५ ॥
"केवलान्त्यप्रयोगेऽपि भवेदेवाभिधेयधीः" ॥ २६ ॥ इत्यादि-स्फोटसि० पृ० ३–४।

३ वर्णचित्तानामपि वा० बा०। ४ वित्तिर्ज्ञानम्। ५ "पूर्ववर्णसहायताम्"–बृ० ल० मा० टि०। ६–सक्तेः अने–बृ० ।–सक्ते अने–वा० बा०। ७ सम्भवीति बृ०। ८ "एकस्मृते"–बृ० ल० मां० टि०। ९ 'घट' इत्यत्र अन्ते स्थितस्य विसर्गस्यापि गवार्थप्रत्यायकत्वं स्यात्। १० तदजनकस्य "एकावभासाजनकस्य"–बृ० ल० मां० टि०। ११ इयम् "एकत्वप्रतिपत्ति"–बृ० ल० मा० टि०। १२–स्याप्यसत्त्व–वा० बा०। १३ "देशान्तरे असङ्केतितत्वेन शब्दात् अर्थप्रतिपत्तिर्भविष्यतीत्याशङ्कावारणाय आह"–बृ० मां० टि०।

[वर्णेषु वाचकत्वमभ्युपगम्य स्फोटे तन्निरस्यतो वैशेषिकमतस्य वर्णनम्]

ते ह्याहुः—एकदा प्रादुर्भूता वर्णाः स्वार्थप्रतिपादका न भवन्तीत्यत्राविप्रतिपत्तिरेव । क्रमप्रादुर्भूतानां न समुदाय इत्यत्राप्यविप्रतिपत्तिरेव । अर्थप्रतिपत्तिस्तु उपलभ्यमानात् पूर्ववर्णध्वंसविशिष्टादन्त्यवर्णात् । न चाभावस्य सहकारित्वं विरुद्धम् वृन्त-फलसंयोगाभावस्यैवाऽप्रतिबद्धगुरुत्वफलप्रपातक्रियाजनने, दृष्टं चोत्तरसंयोगं विदधत् प्राक्तनसंयोगाभावविशिष्टं कर्म परमाण्वग्निसंयोगश्च ५ परमाणौ तद्गतपूर्वरूपप्रध्वंसविशिष्टो रक्ततामुत्पादयन् ।

यद्वा उपलभ्यमानोऽन्त्यो वर्णः पूर्ववर्णविज्ञानाभावविशिष्टः पदरूपतामासादयन् पदार्थे प्रतिपत्तिं जनयति प्राक्तनवर्णसंवित्प्रभवसंस्कारसव्यपेक्षो वा ? न च संस्कारस्य विषयान्तरे कथं विज्ञानजनकत्वमिति प्रेर्यम् तद्भावभावितयार्थप्रतिपत्तेरुपलब्धेः पूर्ववर्णविज्ञानप्रभवसंस्कारश्चान्त्यवर्णसहायतां पूर्वपूर्वसंस्कारप्रभवतया प्रणालिकया विशिष्टः समुत्पन्नः सन् प्रतिपद्यते । तथाहि—१० प्रथमवर्णे तावद् विज्ञानम् तेन च संस्कारो जन्यते ततो द्वितीयवर्णविज्ञानम् तेन पूर्ववर्णविज्ञानाऽऽहितसंस्कारसहितेन विशिष्टः संस्कारो जन्यते ततस्तृतीयवर्णे ज्ञानम् तेन पूर्वसंस्कारविशिष्टेनापरो विशिष्टतरः संस्कारो निर्वर्त्यत इति यावदन्त्यः संस्कारोऽर्थप्रतिपत्तिजनकान्त्यवर्णसहायः तथाभूतसंस्कारप्रभवस्मृतिसव्यपेक्षो वाऽन्त्यो वर्णः पदरूपः पदार्थप्रतिपत्तिहेतुः ।

अथवा शब्दार्थोपलब्धिनिमित्ताऽदृष्टनियमादविनष्टा एव पूर्ववर्णसंवित्प्रभवाः संस्कारा अन्त्य- १५ संस्कारं विदधति तस्मात् पूर्ववर्णेषु स्मृतिरुपजाता अन्त्यवर्णेनोपलभ्यमानेन सहार्थप्रतिपत्तिमुत्पादयति, वाक्यार्थप्रतिपत्तौ वाक्यस्याप्ययमेव न्यायोऽङ्गीकर्तव्यः । वर्णाद् वर्णोत्पत्त्यभावप्रतिपादनं च सिद्धसाधनमेव । तदेवं यथोक्तसहकारिकारणसव्यपेक्षाद् अन्त्याद् वर्णाद् अर्थप्रतिपत्तिरन्वय-व्यतिरेकाभ्यामुपजायमानत्वेन निश्चीयमाना स्फोटपरिकल्पनां निरस्यति तदभावेप्यर्थप्रतिपत्तेरुक्तप्रकारेण सम्भवेऽन्यथानुपपत्तेः प्रक्षयात् । न हि दृष्टादेव कारणात् कार्योत्पत्तावदृष्टतदन्तरपरि- २० कल्पना युक्तिसङ्गता अतिप्रसङ्गात् ।

किञ्च, यद्युपलभ्यमाना वर्णा व्यस्त-समस्ता नार्थप्रतिपत्तिजननसमर्थाः स्फोटाभिव्यक्तावपि न समर्था भवेयुः । तथाहि—न समस्तास्ते स्फोटमभिव्यञ्जयन्ति सामस्त्यासम्भवात् । नापि प्रत्येकम् वर्णान्तरवैफल्यप्रसङ्गात् एकेनैव स्फोटाभिव्यक्तेर्जनितत्वात् । न च पूर्ववर्णैः स्फोटस्य संस्कारेऽन्त्यो वर्णस्तस्याभिव्यञ्जक इति न वर्णान्तरवैयर्थ्यम्, अभिव्यक्तिव्यतिरिक्तसंस्कारस्वरूपानवधारणात् । २५ तथाहि—न तावत् तत्र तैर्वेगाख्यः संस्कारो निर्वर्त्यते तस्य मूर्त्तेष्वेव भावात् । नापि वासनारूपः अचेतन-

---

१ "प्रतीयमानात् पूर्ववर्णध्वंसविशिष्टाद् अन्त्यवर्णाद् अर्थप्रतीतेरभ्युपगमाद् उक्तदोषाभाव । न चाभावस्य सहकारित्वं विरुद्धम्—वृन्तफलसंयोगाभावस्य अप्रतिबद्धगुरुत्वफलप्रपातक्रियाजनने तद्दर्शनात्" इत्यादिकोऽयं वैशेषिकपक्षः सर्वोऽक्षरशः प्रमेयकमलमार्तण्डेऽपि निर्दिष्ट—पृ० १३२ प्र० पं० १४–पृ० १३३ द्वि० पं० ८ ।

"शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिं कथयति—शब्दात् संयोगविभागनिष्पन्नात् वीचीसंतानवत् शब्दसंतानः यथा जलवीच्या तदव्यवहिते देशे वीच्यन्तरमुपजायते ततोऽपि अन्यत् ततोऽपि अन्यत् इत्यनेन क्रमेण वीचीसंतानो भवति तथा शब्दात् उत्पन्नात् तदव्यवहिते देशे शब्दान्तरम्—ततोऽपि अनयोर्गमनागमनाभावात् प्राप्तस्यैव उपलब्धिरिति—ततोऽपि अन्यत् ततोऽपि अन्यत् इत्यनेन क्रमेण शब्दसंतानो भवति । एवं संतानेन श्रोत्रदेशे समागतस्य अन्त्यशब्दस्य ग्रहणम्"— प्रशस्त० कं० पृ० २८९ पं० १०–१५ । २ "परमाणुगत"–वृ० मां० टि० । ३–ति प्रेर्यं स्फोटवादिना नितयार्थे—वा० वा० । अत्र 'स्फोटवादिना' इति टिप्पणमपि पाठे प्रविष्टम् । ४ "स्फोटवादिना" इति शेषः—वृ० मां० टि० । ५–यार्थप्र–आ० हा० । ६ "अथ प्रथमशब्दवर्णज्ञानम् तदनु संस्कारः तदनु द्वि(द्वि)तीयवर्णज्ञानम् तेन प्राक्तनेन संस्कारेण अन्यो विशिष्टः संस्कारो जन्यते इत्यनेन क्रमेण अन्ते निखिलवर्णविषयः संस्कारो जातः" इत्यादि प्रशस्त० कं० पृ० २६९ पं० ९–११ । ७–दन्त्य सं–आ० ।

"कृतानुग्रहसामर्थ्यो वर्णोऽन्त्यः प्रतिपादकः" ॥ ९७ ॥

"एष एव तु संस्कार इति केचित् प्रचक्षते" ॥ ९८ ॥—श्लो० वा० स्फोट० पृ० ५३५ ।

८ तदभावे "स्फोटाऽ"भावे–वृ० मां० टि० । ९ "वर्णाः"–वृ० मां० टि० । १०–रणत्वात् । आ० ।

त्वात् स्फोटस्य तथैतन्याभ्युपगमे वा स्वशास्त्रविरोधः। नापि स्थितस्थापकः तस्यापि मूर्त्तद्रव्यवृत्ति-
त्वात् स्फोटस्य चामूर्त्तत्वाभ्युपगमात्। किञ्च, असौ संस्कारः स्फोटस्वरूपः, तद्धर्मो वा? न तावदाद्यः
कल्पः स्फोटस्य वर्णोत्पाद्यत्वप्रसक्तेः। नापि द्वितीयः व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तविकल्पानुपपत्तेः।
तथाहि-असौ धर्मः स्फोटाद् व्यतिरिक्तः, अव्यतिरिक्तो वा? यद्यव्यतिरिक्तस्तदा तत्करणे स्फोट
५ एव कृतो भवेदिति तस्यानित्यत्वप्रसक्तेः स्वाभ्युपगमविरोधः। अथ व्यतिरिक्तस्तदा तत्सम्बन्धा-
नुपपत्तिस्तदनुपकारकत्वात्, तस्योपकाराभ्युपगमे व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तविकल्पः तत्रापि पूर्वोक्त एव
दोषोऽनवस्थाकारी। न च व्यतिरिक्तधर्मसद्भावेऽपि स्फोटस्यानभिव्यक्तिस्वरूपव्यवस्थितस्य पूर्ववदर्थ-
प्रतिपत्तिहेतुत्वम् तत्स्वरूपत्यागे वाऽनित्यत्वप्रसक्तिः। अथ न व्यतिरिक्तसंस्कारकृतमुपकारमपेक्ष्य
पूर्वरूपपरित्यागादसावर्थप्रतिपत्तिं जनयति किन्तु संस्कारसहायोऽविचलितरूप एव एककार्यका-
१० रित्वस्येव सहकारित्वाभ्युपगमात्; नन्वेवं वर्णानामप्यन्यकृतोपकारनिरपेक्षाणामेककार्यनिर्वर्त्तन-
लक्षणसहकारित्ववत् सहकारिसहितानामर्थप्रतिपत्तिजनने किमपरस्फोटकल्पनयाऽप्रमाणिकया का-
र्यम्? किञ्च, पूर्ववर्णैः संस्कारः स्फोटस्य क्रियमाणः किमेकदेशैः क्रियते, सर्वात्मना वा? यद्येक-
देशैस्तदा ते ततोऽर्थान्तरभूताः, अनर्थान्तरभूता वा? यद्यर्थान्तरभूतास्तदा तेषां तदनुपकारे
सम्बन्धासिद्धिः उपकारे व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तविकल्पोक्तदोषानुषङ्गः। न च समवायाद् अनुपका-
१५ रेऽपि तेषां तत्सम्बन्धिता तस्यानभ्युपगमात्, परैरभ्युपगमे च स्वकृतान्तविरोधः अर्थान्तरभूतत्वे
चैकदेशानाम् तेभ्य एवार्थप्रतिपत्तेः न स्फोटस्यार्थप्रत्यायकता। अपि चैकदेशानामर्थप्रतिपत्तिहे-
तुत्वाभ्युपगमे च वरं वर्णानामेव तदभ्युपगतम् एवं लोकप्रतीतिरनुसृता भवेत्। अथाव्यतिरिक्ता-
स्तदेकदेशास्तदा स्फोटस्यैकेनैव संस्कृतत्वाद् अपरवर्णोच्चारणवैयर्थ्यम्। न च पूर्ववर्णसंवित्प्रभव-
संस्कारसहितः तत्स्मृतिसहितो वाऽन्त्यवर्णः स्फोटसंस्कारकः एवंभूतस्यास्यार्थप्रतिपत्तिजननेऽपि
२० शक्तिप्रतिघाताभावात् स्फोटपरिकल्पना निरवसरैव।

अपि च, स्फोटसंस्कारः स्फोटविषयसंवेदनोत्पादनम्, उतावरणापनयनम्? यद्यावरणा-
पनयनम् तदैकत्रैकदाऽऽवरणापगमे सर्वदेशावस्थितैः सर्वदा व्यापिनित्यरूपतयोपलभ्येत तस्य
नित्यत्व-व्यापित्वाभ्यामपगतावरणस्य सर्वत्र सर्वदोपलभ्यस्वभावत्वात् अनुपलभ्यस्वभावत्वे वा
न केनचित् कदाचित् कुत्रचिदुपलभ्येत। अथैकदेशावरणापगमः क्रियते; नन्वेवमावृताऽनावृतत्वेन
२५ सावयवत्वमस्यानुषज्येत। अथ निर्विभागत्वादेकत्रानावृतः सर्वत्रानावृतोऽभ्युपगम्यते तदा तदव
स्थाऽशेषदेशावस्थितैरुपलब्धिप्रसक्तिः यथा च निरवयवत्वादेकत्रानावृतः सर्वत्रानावृतस्तथा तत
एवैकत्राप्यावृतः सर्वत्रैवावृतः इति मनागपि नोपलभ्येत। किञ्च, एकदेशाः स्फोटादर्थान्तरम्,
अनर्थान्तरं वा? अर्थान्तरत्वेऽपि शब्दस्वभावाः अशब्दात्मका वा? यद्यशब्दात्मका नार्थप्रति-
पत्तिहेतवः। अथ शब्दस्वभावास्तत्रापि यदि गोशब्दस्वभावास्तदा गोशब्दानेकत्वप्रसक्तिः। अथ
३० अगोशब्दस्वरूपा न तर्हि गवार्थप्रत्यायका भवेयुः। अथाव्यतिरिक्तास्तदा स्फोट एव संस्कृत इति
सर्वदेशावस्थितैर्व्यापिनस्तस्य प्रतिपत्तिप्रसक्तिरिति पूर्वोक्तमेव दूषणम्। किञ्च, एकदेशावरणापाये
स्फोटस्य खण्डशः प्रतिपत्तिः प्रसज्येत। अथ स्फोटविषयसंविदुत्पादस्तत्संस्कारः सोऽपि न युक्तः,
वर्णानामर्थप्रतिपत्तिजनन इव स्फोटप्रतिपत्तिजननेऽपि सामर्थ्यासम्भवात् न्यायस्य समानत्वात्।
यदि च स्फोट उपलभ्यस्वभावः सर्वदोपलभ्येत, अनुपलभ्यस्वभावत्वे आवरणापगमेऽपि तत्स्वभा-
३५ वानतिक्रमाद् मनागपि नोपलभ्येत इत्यर्थाप्रतिपत्तितः शाब्दव्यवहारविलोपः।

अनेनैव न्यायेन वायूनामपि तद्व्यञ्जकत्वमयुक्तम् वायूनां च व्यञ्जकत्वपरिकल्पने वर्णवैफ-
ल्यप्रसक्तिः स्फोटाभिव्यक्तावर्थप्रतिपादने वा तेषामनुपयोगाद् स्थिते च स्फोटस्य वर्णोच्चारणात्
प्राक् सद्भावे वर्णानाम् वायूनां वा व्यञ्जकत्वं परिकल्प्येत। न च तत्सद्भावः कुतश्चित् प्रमाणादवगत

१-याऽप्रामा-वा० वा०। २-गमे वा स्व-बृ० ल० वा० वा०। ३ तद् "अर्थप्रत्यायकत्वम्"-ल० टि०।
४-रक ए-बृ०। ५-तस्यार्थ-भा० मा०। ६ अस्य "अन्त्यवर्णस्य"-बृ० ल० टि०। ७-वा स्फो-वा० बा०
मो०। ८ "निरवयवत्वादेव"-बृ० ल० मां० टि०। ९ प्र० पृ० पं० २२। १०-मर्थ्याभावा-भां० मा०।
"स्फोट" व्यञ्जकत्वम्-बृ० ल० मां० टि०। १२ "वायुभिरेव तयोः कृतत्वात्"-बृ० ल० मां० टि०।

इति न तत्परिकल्पना ज्यायसी। यदपि 'प्रत्यभिज्ञाज्ञानं स्फोटस्य नित्यत्वप्रसाधकं वर्णोच्चारणात् प्रागप्यस्तित्वमवबोधयति' इत्यभ्युपगतम् तदपि—प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्य सादृश्यनिबन्धनत्वेनात्र विषये प्रतिपादितत्वात्—असङ्गतम्; एकगोव्यक्तौ संकेतितात् गोशब्दात् गोव्यक्त्यन्तरे अन्यत्रान्यत्रा च नित्यत्वमन्तरेणापि प्रतिपत्तिर्यथा सम्भवति तथा प्रतिपादितम् प्रतिपादयिष्यते च। नातोऽपि स्फोटस्य प्राग् व्यञ्जकात् सत्त्वसिद्धिरिति। ५

"नादेनाऽऽहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते॥" [वाक्यप० प्र० का० श्लो० ८५]

इति भर्तृहरिवचो निरस्तं द्रष्टव्यम्।

यदपि 'विभिन्नतनुषु वर्णेष्वभिन्नाकारं श्रोत्रान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यध्यक्षं स्फोटसद्भावमवबोधयति' इत्युक्तम् तदप्यसारम्; घटादिशब्देषु परस्परव्यावृत्तानेकवर्णव्यतिरिक्तस्य स्फोटात्मनो- १० ऽर्थप्रत्यायकस्यैकस्याध्यक्षप्रतिपत्तिविषयत्वेनाप्रतिभासनात्। न चाभिन्नावभासमात्राद् अभिन्नार्थव्यवस्था, अन्यथा दूराद् अविरलानेकतरुष्वेकतरुबुद्धेरेकत्वव्यवस्थाप्रसक्तेः न चाविरलानेकतरुष्वेकत्वबुद्धेर्बाध्यमानत्वात् नैकत्वव्यवस्थापकत्वम् स्फोटप्रतिभासबुद्धेरपि बाध्यत्वस्य दर्शितत्वात्। न चैकत्वावभासः स्फोटसद्भावमन्तरेणानुपपन्नः, वर्णत्वान्त्यवर्णविषयत्वेनाप्येकत्वावभासस्योपपद्यमानत्वात् निरवयवस्याक्रमस्य नित्यत्वादिधर्मोपेतस्य स्फोटस्यैकावभासज्ञानेनाननुभवात् अन्यथावभा- १५ सस्य चान्यथाभूतार्थाव्यवस्थापकत्वात् व्यवस्थापनेऽतिप्रसङ्गात् अवयवि द्रव्यं त्ववयवजन्यत्वेन तदाश्रितत्वेन चाध्यक्षप्रत्यये प्रतिभासत इति न तन्न्यायः स्फोटे उत्पादयितुं शक्यः। तन्न स्फोटात्मा शब्दो वर्णेभ्यो व्यतिरिक्तः। अथ तदव्यतिरिक्तोऽसावभ्युपगम्यते तदा वर्णनानात्वे तन्नानात्वप्रसक्तिः तदेकत्वे वा वर्णानामप्येकत्वप्रसक्तिः।

[सानुपूर्विकनित्यवर्णवाचकत्वपरं मीमांसकमतमुपन्यस्य तन्निरसनम्] २०

अथ गकाराद्यानुपूर्वीविशिष्टोऽन्त्यो वर्णः विशिष्टानुपूर्वीका वा गकारौकारविसर्जनीयाः शब्दः। तथा च मीमांसकाः प्राहुः—

"यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादकाः।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥"

[श्लो० वा० स्फोटवा० श्लो० ६९] इति। २५

एतदपि न सम्यक्; यतः आनुपूर्वी यद्यनर्थान्तरभूता तदा वर्णा एव नानुपूर्वी, ते च व्यस्ताः समस्ता वा अर्थप्रत्यायका न भवन्तीत्यावेदितम्। अथार्थान्तरभूता तदा वक्तव्यम् सा नित्या, अनित्या वा? न तावदनित्या स्वसिद्धान्तविरोधात्—वैदिकानुपूर्व्या नित्यत्वेनाभ्युपगमात्।

"वक्ता नहि मामं कंश्चित् स्वातन्त्र्येण प्रपद्यते।"

[श्लो० वा० शब्दनित्य० श्लो० २८८] ३०

---

१ "किञ्च शब्दस्य नित्यत्वं श्रोत्रजप्रत्यभिज्ञया। विभुत्वं च स्थितं तस्य कोऽप्यवस्येद् विपर्ययम्"॥
"तस्माद्वा सर्वकालेषु सर्वदेशेषु चैकता। प्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञानप्रसिद्धा नाऽस्य बाधिका"॥
तत्त्वसं० का० २११७–२११८ पृ० ५९०–५९१।

२ तत्त्वसं० पृ० ७२२ का० २७११। प्रमेयक० पृ० १३३ द्वि० पं० ३। "बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते"—वाक्यप०। तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ६३६ पं० ७। स्याद्वादर० पृ० ३१९ प्र० पं० ५। सर्वदर्शनसं० द० १३ पं० १८९ पृ० ३०३। ३ "दूरदेशावस्थितस्य हि विरलपदार्थस्य घनरूपताप्रतीतिः उत्तरकालभाविसञ्जिष्ठविरलरूपताप्रत्ययेन बाध्यत इति तत्र घनत्वप्रतीतिवशाद् व्यवस्थाप्यमानं घनत्वमस्तु अवास्तवम्" इत्यादिकं स्फोटप्रतिविधानावसरे—स्याद्वादर० पृ० ३२३ प्र० पं० ८।

"यथा हि दूरे दृश्यन्ते तरवः करिरूपिणः। (पूर्वं पश्चाच्च) तत्रस्थैस्त एव तरुरूपिणः"॥ १५९॥
"दर्शनाहितसंस्कारक्रमादेवमिहापि ते। नादात्यत्यपरिच्छेदे विपर्यासेऽपि कारिणः (?)॥ १६०॥
स्फोटसि० पृ० १८–१९।

४ यदर्थप्रतिपादने-मुद्रग्रन्थे संस्कार० प्रकाश० कं० पृ० २७० पं० १८। "तदुक्तं तौतातितैः" इति कृत्वा निर्दिष्टोऽयं श्लोकः-सर्वदर्शनसं० द० १३ पं० १६४ पृ० ३०२। ५ पृ० ४३१ पं० १७। ६ "आनुपूर्वी"—चू० ल० टि०। ७ कंचित् श्लो० वा०।

इत्याद्यभिधानात् । नापि नित्या स्फोटपक्षोदित[1]समस्तदोषप्रसक्तेः । न च वैदिकवर्णाद्यानुपूर्वी नित्या, लौकिकतदानुपूर्व्यविशेषात् । तथाहि-वैदिकवर्णाद्यानुपूर्वी अनित्या[2], वेदानुपूर्वीशब्दवाच्यत्वात् लौकिकवर्णाद्यानुपूर्वीवत् । न च लौकिकानुपूर्व्या विलक्षणेयम्, वैलक्षण्यासिद्धेः । तथाहि-किमपौरुषेयत्वमस्या वैलक्षण्यम्, आहोस्विद् विचित्ररूपता ? न तावदाद्यः पक्षः अपौरुषेयत्वस्य ५ निरस्[3]तत्वात् । नापि वैचित्र्यम् तस्यानित्यत्वेनाऽविरोधात् तत्सद्भावेऽपि नित्यत्वाप्रसाधकत्वात् लौकिकवाक्येष्वपि वैचित्र्यस्योपलब्धेश्च । न च वर्णानां[4] नित्यव्यापिनामानुपूर्वी सम्भवति, देश-कालकृतक्रमानुपपत्तेः । न चाभिव्यक्त्यानुपूर्वी तेषां सम्भविनी अभिव्यक्तेः प्राग् निरस्तत्वात्[5] । 'पूर्ववर्णसंवित्प्रभवसंस्कारसहितः तत्स्मृतिसहितो वा अन्त्यो वर्णः पदम्' इत्यभ्युपगमोऽपि न युक्तिसङ्गतः संस्कारस्मरणादेरनुपलभ्यमानस्य तदा सहकारित्वकल्पनायां १० प्रमाणाभावात् । न चार्थप्रति[6]पत्त्यन्यथानुपपत्तिस्त[7]त्कल्पनायां प्रमाणम्, तत्प्रतिपत्तेरन्यथा सिद्धत्वात् । न चानुपूर्वीसम्भवेऽपि परपक्षे वर्णा अर्थप्रतीतिहेतुतया सम्भवन्ति, तेषां तत्प्रतिपत्तिजननस्वभावत्वे सर्वदा तत्प्रतिपत्तिप्रसक्तेः तज्जननस्वभाव[8]स्य सर्वदा भावात् अतज्जननस्वभाव[9]त्वे न कदाचिदप्यर्थप्रतिपत्तिं जनयेयुः अनपगताऽतज्जननस्वभावत्वात् । न च सहकारिसन्निधानेऽपि तेषामतज्जननस्वभावतां[10] व्यपगच्छति अनित्यताप्रसक्तिदोषापत्तेः 'नित्याश्च' परैस्ते अभ्युपगता इत्य१५ भ्युपगमविरोधश्च ।

[वाच्य–वाचकयोः सम्बन्धस्य नित्यत्वं निषिध्य तस्य कृतकत्वव्यवस्थापनम्]

न च नित्यसम्बन्धवादिनस्त[11]दपेक्षा वर्णा अर्थप्रत्यायकाः सम्भवन्ति, नित्यस्यानुपका[12]रकत्वेनाऽपेक्षणीयत्वायोगात् । न च नित्यः सम्बन्धः शब्दार्थयोः प्रमाणेनावसीयते प्रत्यक्षेण तस्य अननुभवात् । तदभावे नानुमानेनापि, [13]तस्य तत्पूर्वकत्वाभ्युपगमात् । न च शब्दार्थयोः स्वाभाविकस२० म्बन्धमन्तरेण गोशब्दश्रवणानन्तरं ककुदादिमदर्थप्रतिपत्तिर्न भवेत् अस्ति च सा[14] इति शब्दस्य वाचिका शक्तिरवगम्यत इति वाच्यम्, अनवगतसम्बन्धस्यापि ततस्तदर्थप्रतिपत्तिप्रसक्तेः । न च सङ्केताभिव्यक्तः स्वाभाविकः सम्बन्धोऽर्थप्रतिपत्तिं जनयतीति नायं दोषः सङ्केतादेव अर्थप्रतिपत्तेः स्वाभाविकसम्बन्धपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तेः । तथाहि—सङ्केताद् व्युत्पाद्याः 'अनेन शब्देनेत्थम्भूतमर्थं व्यवहारिणः प्रतिपादयन्ति' इत्यवगत्य व्यवहारकाले पुनस्तथाभूतशब्दश्रवणात् सङ्केतस्मरणे तत्स२५ दृशं [15]तं चार्थं प्रतिपद्यन्ते न पुनः स्वाभाविकं सम्बन्धमवगत्य पुनस्तत्स्मरणे अर्थमवगच्छन्ति । न च वाच्य-वाचक[16]सङ्केतकरणे स्वाभाविकसम्बन्धमन्तरेणानवस्थाप्रसक्तिः वृद्धव्यवहारात् प्रभूतशब्दानां वाच्यवाचकस्वरूपावधारणात् । तथाहि—एको व्युत्पन्नव्यवहारः तथाभूताय 'गामभ्याज शुक्लां देवदत्त! दण्डेन' इति यदा व्यपदिशति द्वितीयस्तु तद्व्यपदेशानन्तरं तथैव विदधाति तदा अव्युत्पन्नसङ्केतः शिशुस्तं तथाकुर्वाणमुपलभ्यैवमवधारयति—'अनेन गोशब्दाद् गवार्थः प्रतिपन्नः ३० अभ्याजादिशब्दाद् अभ्याजिक्रियादिकः अन्यथा कथमपरनिमित्ताभावेऽपि गोपिण्डाऽऽनयनादिकं वाक्यश्रवणानन्तरं विदध्यात्' एवमपोद्धारकल्पनया अव्युत्पन्नानां सङ्केतग्रहणसम्भवान्नानवस्थादोषः । न च प्रथमसङ्केतविधायिनः स्वाभाविकसम्बन्धव्यतिरेकेण वाच्य-वाचकयोः कुतो वाच्यवाचकरूपावगतिरिति वक्तव्यम्, अनादित्वादस्य व्यवहारस्य अपरापरसङ्केतविधायिपूर्वकत्वेन निर्दोषत्वात् । न च वाच्यवाचकसम्बन्धस्य पुरुषकृतत्वे शब्दवदर्थस्यापि वाचकत्वम् अर्थवच्छब्दस्यापि ३५ वाच्यत्वं प्रसक्तमिति वक्तव्यम्, योग्यताऽनतिक्रमेण सङ्केतकरणात् । न च स्वाभाविकसम्बन्धव्य-

---

१ पृ० ४३४ पं० २१। २-स्या तदा-वृ० विना। ३ पृ० ३३ पं० २५। ४ "नित्यवर्णानाम्"-वृ० टि०। ५ पृ० ३४ पं० ३३। ६-पत्तिस्तत्प्रकल्प-वृ० वा० बा०। ७ तद् "संस्कारस्मरणादि"-वृ० टि०। ८-भावस्य सर्वे-वा० बा०।-भावः सर्वे-वृ०। ९-त्वे न सर्वदा कदा-भां० मां०। १०-ता व्युप-भां०।-ता ऽभ्युप-वृ० वा० बा०। ११ "नित्यसंबन्धापेक्षा"-वृ० टि०। १२-कारत्वेना-भां० मां०। १३ "अनुमानस्य"-वृ० टि०। १४ "अर्थप्रतिपत्ति"-वृ० टि०। १५ तं वार्थं वृ० वा० बा०। १६-कसंबन्धकर- भां० मां०।

तिरेकेण प्रतिनियतयोग्यताया अभावः, एतत्त्वेऽपि प्रतिनियतयोग्यतावतां भावानामुपलब्धेः। तथाहि—यत्र लोहत्वं छेदिकाशक्तिस्तत्रैव क्रियमाणा दृष्टा न जलादौ, यत्रैव तन्तुत्वमस्ति तत्रैव निष्पाद्यते पटोत्पादनशक्तिर्न तु वीरणादौ तत्र तन्तुत्वाभावात् एवं च यत् यथोपलभ्यते तत् तथैवाभ्युपगन्तव्यम्, दृष्टाऽनुमितानां नियोग-प्रतिषेधानुपपत्तेः। तेन यत्रैव वर्णत्वादिकं निमित्तं तत्रैव वाचिका शक्तिः सङ्केतेनोत्पाद्यते यत्र तु तन्नियतं निमित्तं नास्ति तत्र न वाचिका शक्तिरिति ५ न नित्यवाच्यवाचकसम्बन्धपरिकल्पनया प्रयोजनम्। एकान्तनित्यत्वे तु ज्ञानजनकत्वे सर्वदा ज्ञानोत्पत्तिः। तदजननस्वभावत्वे न कदाचिद् विज्ञानोत्पत्तिरिति प्राक् प्रतिपादितम्। समयबलेन तु शब्दाद् अर्थप्रतिपत्तौ यथासङ्केतं विशिष्टसामग्रीतः कार्योत्पत्तौ न कश्चिद् दोषः।

[अनुमानात् शब्दस्य प्रमाणान्तरत्वप्रसाधनम्]

अत एवानुमानात् प्रमाणान्तरं शाब्दम् अनुमानं हि पक्षधर्मत्वान्वयव्यतिरेकवल्लिङ्गबलादुद- १० यमासादयति, शाब्दं तु सङ्केतसव्यपेक्षशब्दोपलम्भात् प्रत्यक्षाऽनुमानाऽगोचरेऽर्थे प्रवर्तते। स्वसाध्याव्यभिचारित्वमप्यनुमानस्य निरूपलिङ्गोद्भूतत्वेनैव निश्चीयते शाब्दस्य त्वाप्तोक्तत्वनिश्चये सति शब्दस्योत्तरकालमिति। किञ्च, शब्दो यत्र यत्रार्थे प्रतिपादकत्वेन पुरुषेण प्रयुज्यते तं तमर्थं यथासङ्केतं प्रतिपादयति, न त्वेवं धूमादिकं लिङ्गं पुरुषेच्छावशेन जलादिकं प्रतिपादयतीत्यनुमानात् प्रमाणान्तरं सिद्धः शब्दः। न च शब्दाद् अर्थप्रतिपत्तौ शब्दस्य धर्मत्वमस्ति, यतो न तस्य पक्षधर्मता १५

---

१ नित्यत्वाद्वाच्य-भां० मा०। २-त्वत्वस्य भां० मा०। ३ पृ० ४३६ पं० १२। ४-शब्दार्थप्र- भां० मा०। ५ "अन्तरा तुण्डं निक्षिप्य वदतस्तथागतस्यास्य मतं निरस्यन्नाह"-न्या० कु० टि०।

६ 'शब्दप्रमाणमनुमानप्रमाणान्तर्भावि' इति पक्षं स्वीकुर्वाणस्य वचनमिदम्—"यदपि उच्यते 'शब्दो हि यत्रैव पुरुषेच्छया विनियुज्यते संकेतितं तदेव प्रत्याययति न तथा धूमादय अतोऽनुमानात् भेदः' तदपि अनैकान्तिकम्, हस्तादिचेष्टाना लिङ्गानामपि यथेष्टविनियोगेन प्रत्यायकत्वदर्शनात् इत्याह—

यथेष्टविनियोगेन प्रतीतिर्याऽपि शब्दतः। न धूमादेरितीहापि व्यभिचारोऽस्त्यलिङ्गिनि।" ॥ इत्यादि।

यत्रार्थस्तत्र धर्मिणि शब्दस्याऽवृत्तेः गोपिण्डाधारेण प्रदेशेन शब्दस्याश्रयाश्रयिभावस्य जन्यजनकभाव-निबन्धनस्याभावात् अतः 'गोपिण्डवानयं देशः गोशब्दवत्त्वात्' इति नाभिधातुं शक्यम्। नापि गोपिण्डे गोशब्दो वर्त्तते आधाराधेयवृत्त्या जन्यजनकभावेन वा गोपिण्डाभावेऽपि गोशब्दस्य दर्शनात्। न च गम्यगमकभावेन तत्रासौ वर्त्तते पक्षधर्मत्वाभावे तस्यैवानुपपत्तेः वाच्यवाचकभावेन वृत्तावनुमा-
५नात् प्रमाणान्तरत्वम्। तेन 'गोपिण्डो गोत्ववान् गोशब्दवत्त्वात्' अयमपि प्रयोगोऽनुपपन्न एव। नापि गोत्वे गोपिण्डविशेषणे वर्त्तते तत् सामान्येनाश्रयाश्रयिभावस्य जन्यजनकभावस्य वा अस्याभावात्। अतः 'गोत्वं गोपिण्डवत् गोशब्दवत्त्वात्' इत्यपि वक्तुमशक्यम्। विशेषे च साध्ये अनन्वयश्चात्र पक्षे दोषः। न च "'गोशब्दो गवार्थवान् गोशब्दत्वात्' इति प्रयोगो युक्तः तथाप्रतीत्यभावात्। न हि 'गौर्गच्छति' इत्युक्ते गमनक्रियाविशिष्टगवार्थप्रतीतिमन्तरेण गोपिण्डेन तद्वान् शब्दो लोकेनाव-
१० गम्यते, न च गोशब्दो गवार्थवाचकत्वेन गोशब्दत्वाद् अनुमीयते किन्तु गवार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या गवार्थवाचकत्वं तस्य गम्यते। प्रतिनियतपदार्थनिवेशिनां तु देवदत्तादिशब्दानां नान्वयः नापि

निराकृतं पक्षधर्मत्वम्, सपक्षान्वयमिदानीं दूषयति—

अन्वयो न च शब्दस्य प्रमेयेण निरूप्यते। व्यापारेण हि सर्वेषामन्वितत्वं प्रतीयते ॥
यत्र धूमोऽस्ति तत्राग्नेरस्तित्वेनाऽन्वयः स्फुटः। न त्वेवं यत्र शब्दोऽस्ति तत्राऽर्थोऽस्तीति निश्चयः ॥
न तावत्तत्र देशोऽसौ तत्काले वाऽवगम्यते। भवेन्नित्यविभुत्वाच्चेत्सर्वार्थेषु च तत्समम् ॥
तेन सर्वत्र दृष्टत्वाद् व्यतिरेकस्य चाऽगतेः। सर्वशब्दैरशेषार्थप्रतिपत्तिः प्रसज्यते" ॥ ९८–८८
"ननु ये ज्ञातसम्बन्धास्तेषां दृष्टोऽन्वयः स्फुटः। यद्येवमन्वयात् पूर्वं संबन्धः कोऽपि कल्पितः ॥
नाऽज्ञमर्थधियामेषा भवेदन्वयकल्पना। अन्वयाऽधीनजन्मत्वमनुमानस्य च स्थितम् ॥
ज्ञाते प्रतीतिसामर्थ्ये तद्वशादेव जायते। पश्चादन्वय इत्येष कारणं कथमुच्यते ॥
तस्मात्तन्निरपेक्षैव शब्दशक्तिः प्रतीयते। न च धूमाऽन्वयात् पूर्वं शक्तत्वमवगम्यते ॥
व्यतिरेकोऽप्यविज्ञातादर्थाच्छब्दधियो यदि। सोऽपि पश्चात् स्थितत्वेन नाऽर्थप्रत्ययसाधनम् ॥
सम्बन्धं यं तु वक्ष्यामस्तस्य निर्णयकारणम्। स्यादन्वयोऽतिरेकश्च न त्वर्थाऽधिगमस्य तौ ॥

तदिदं त्रैलक्षण्याभावेन विषयभेदेन चोपपादितम् अननुमानत्वं प्रयोगेण दर्शयति—

तस्मादननुमानत्वं शब्दे प्रत्यक्षवद् भवेत्। त्रैरूप्यरहितत्वेन तादृग्विषयवर्जनात्" ॥ ९२–९८
"प्रमिते च प्रवृत्तत्वात् स्मृतेर्नास्ति प्रमाणता। परिच्छेदफलत्वाद्धि प्रामाण्यमुपजायते ॥
तादात्विकपरिच्छेदफलत्वेन प्रमाणता। प्रत्यभिज्ञानवत् यस्मात् स्मृतेरपि न कल्प्यते ॥
यावान् पूर्वपरिच्छिन्नस्तावानेवावधार्यते। स्मृत्या तदनुसारेण तदाऽसत्त्वेऽस्य नैव धीः" ॥
–१०४–१०६ श्लो० वा० शब्दप० पार्थ० व्या० पृ० ४२४, ४२६, ४२७, ४३०।

"शब्दज्ञानात् परोक्षार्थज्ञानं शाब्दं परे जगुः। तच्चाकर्तृकतो वाक्यात् तथाप्रत्ययितोदितात् ॥
इदं च किल नाध्यक्षं परोक्षविषयत्वतः। नानुमानं च घटते तल्लक्षणवियोगतः ॥
धर्मी धर्मविशिष्टो हि लिङ्गीत्येतत् सुनिश्चितम्। न भवेदनुमानं च यावत् तद्विषयं न तत् ॥
यश्चात्र कल्प्यते धर्मी प्रमेयोऽस्य स एव च। न चानवधृते तस्मिंस्तद्धर्मत्वावधारणा ॥
प्राक् स चेत् पक्षधर्मत्वाद् गृहीतः किं ततः परम्। पक्षधर्मादिभिर्ज्ञातैर्येन स्यादनुमानता ॥
अन्वयो न च शब्दस्य प्रमेयेण निरूप्यते। व्यापारेण हि सर्वेषामन्वेतृत्वं प्रतीयते ॥
यत्र धूमोऽस्ति तत्राग्नेरस्तित्वेनान्वयः स्फुटम्। नत्वेवं यत्र शब्दोऽस्ति तत्रार्थोऽस्तीति निश्चितम् ॥
न तावत् तत्र देशेऽर्थो न तत्काले च गम्यते। भवेन्नित्यविभुत्वाच्चेत् सर्वशब्देषु तत्समम् ॥
तेन सर्वत्र दृष्टत्वाद्व्यतिरेकस्य चागतेः। सर्वशब्दैरशेषार्थप्रतिपत्तिः प्रसज्यते ॥
तस्मादननुमानत्वं शाब्दे प्रत्यक्षवद् भवेत्। त्रैरूप्यरहितत्वेन तादृग्विषयवर्जनात्" ॥
–तत्त्वसं० का० १४८९–१४९८ पृ० ४३३–४३५। स्याद्वादर० पृ० १२४ द्वि० पं० ७–पृ० १२५ द्वि० पं० ७।

१ तत्र "गोपिण्डे" असौ "गोशब्द."–वृ० ल० टि०। २–त्त्वेन गो–वृ०। ३ "यतः गोशब्दवत्त्वं गम्य-गमकभावेन, आहोस्वित् वाच्यवाचकभावेन? पक्षद्वये दूषणमुक्तम्"–वृ० ल० टि०। ४ साध्येऽन्व–भा० मा०। ५ गोशब्दो गवार्थगोशब्दः गवार्थगोशब्दत्वात्–भां० मां०।

पक्षधर्मता दृष्टान्ताभावात् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभेदे चानुमानप्रवृत्तेः। न च शाब्दं स्वभावलिङ्गजमनुमानम् शब्दस्यार्थस्वभावत्वासिद्धेः आकारभेदात् प्रतिनियतकरणग्राह्यत्वात् वाचकस्वभावत्वाच्च तस्य। नापि कार्यलिङ्गजम् अर्थाभावेऽपीच्छातः शब्दस्योत्पत्तेः। न च न बाह्यार्थविषयत्वेन शब्दस्यानुमानता सौगतैरभ्युपगम्यते अपि तु विवक्षाविषयत्वेनेति वक्तव्यम्, यतो यथा न तैदर्थो विवक्षा तथा शब्दप्रामाण्यप्रतिपादनेऽभिहितम् न पुनरुच्यते। ५

[परकल्पितां वर्णानां नित्यताम् तत्पदादिप्रक्रियां च प्रदूष्यानेकान्तदृष्ट्या शब्द–तदर्थसम्बन्धयोः स्वरूपनिरूपणम्]

न च मीमांसकाभिप्रायेण वर्णानां वाचकत्वम् अभिव्यक्तानभिव्यक्तपक्षद्वयेऽपि दोषात् अनभिव्यक्तानां ज्ञानजनकत्वे सर्वपुरुषान् प्रति सर्वे सर्वदा ज्ञानजनकाः स्युः केनचित् प्रत्यासत्ति–विप्रकर्षाभावात् अभिव्यक्तानां ज्ञानजनकत्वे एकवर्णाऽऽवरणापाये सर्वेषां समानदेशत्वेनाऽभिव्य- १० क्तत्वात् युगपत् सर्वश्रुतिप्रसक्तिरित्युक्तं प्राक्। इन्द्रियसंस्कारपक्षेऽपि पूर्वप्रतिपादितमेव दूषणमनुसर्त्तव्यम्। किञ्च, यद्यनवगतसम्बन्धा वर्णा अर्थप्रत्यायकास्तदा नालिकेरद्वीपवासिनोऽप्युपलभ्यमाना अर्थावगतिं विदध्युः। अथावगतसम्बन्धाः तथासति पदस्य स्मारकत्वमेव स्यात् न वाचकत्वम् तथा चानधिगतार्थाधिगमहेतुत्वाभावात् न प्रमाणता भवेत्। तदुक्तम्—

"पदं त्वभ्यधिकाभावात् स्मारकान्न विशिष्यते। १५
अथाधिक्यं भवेत् [1] किञ्चित् स पदस्य न गोचरः" ॥

[श्लो० वा० शब्दप० श्लो० १०७] इति।

तत्र मीमांसकमतेनापि वर्णानां शब्दत्वम्। कथं तर्हि वर्णाः शब्दरूपतां प्रतिपद्यन्ते? उक्तमत्र परिमितसङ्ख्यानां पुद्गलद्रव्योपादानाऽपरित्यागेनैव परिणतानामश्रावणस्वभावपरित्यागाऽऽप्तश्रावणस्वभावानां विशिष्टानुक्रमयुक्तानां वर्णानां वाचकत्वात् शब्दत्वम् अन्यथोक्तदोषानतिवृत्तेः। २० वैशेषिकपरिकल्पितपदादिप्रक्रिया त्वनुभवबाधितत्वादयुक्ता। न च निरन्वयविनाशिनां विज्ञानहेतुता सम्भवतीत्यसकृत् प्रतिपादितम्। षड्क्षणावस्थायित्वलक्षणमप्यनित्यत्वं तत्परिकल्पितं निरन्वयविनाशपक्षे अर्थक्रियानिर्वर्त्तनानुपयोगि तेषाम्। न च षड्क्षणावस्थानमपि सम्भवति, प्रथमक्षणसत्ताया द्वितीयक्षणसत्तानुप्रवेशे तत्क्षणसत्ताया अप्युत्तरक्षणसत्तानुप्रवेशपरिकल्पनायां क्षणिकत्वमेव अननुप्रवेशेऽपि परस्परविविक्तत्वात् क्षणस्थितीनां तदेव क्षणिकत्वमिति कुतः षड्क्षणावस्थानमेकस्य? २५ अक्षणिकत्वे चार्थक्रियाविरोधः प्रतिपादित एवेति न पदादिपरिकल्पना वैशेषिकपक्षे युक्तियुक्तेति स्थितम्। ननु भवत्पक्षेऽपि क्रमस्य वर्णेभ्यो व्यतिरेके न वर्णविशेषणत्वम् अव्यतिरेके वर्णा एव केवलाः ते च न व्यस्तसमस्ता अर्थप्रतिपादका इति पूर्वमेव प्रतिपादितमिति न शब्दः कश्चिदर्थप्रत्यायकः, असदेतत्; वर्णव्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तस्य क्रमस्य प्रतिपत्तेः। तथाहि–न वर्णेभ्योऽर्थान्तरमेव क्रमः वर्णानुविद्धतया तस्य प्रतीतेः। नापि वर्णा एव क्रमः तद्विशिष्टतया तेषां प्रतिपत्तेः। न ३० च तद्विशेषणत्वेन प्रतीयमानस्य क्रमस्यापह्नवो युक्तिसङ्गतः वर्णेष्वपि तत्प्रसक्तेः। न च भ्रान्तिरूपा प्रतिपत्तिरियम्, वर्णानां तद्विशिष्टतयाऽबाधिताध्यक्षगोचरतया प्रसाधितत्वात् अर्थप्रतिपत्तिकारणतोऽनुमितत्वाच्च। न चाभावः कस्यचिद् भावाध्यवसायितया विशेषणम् नाप्यर्थप्रतिपत्तिहेतुः न च क्रमोऽप्यहेतुः तथात्मकवर्णेभ्योऽर्थप्रतीतेः। ततो भिन्नाभिन्नानुपूर्वीविशिष्टा वर्णा विशिष्टपरिणतिमन्तः शब्दः स च पद-वाक्यादिरूपतया व्यवस्थितः तेन विशिष्टानुक्रमवन्ति तथाभूतपरिणति- ३५ माप्नानि पदान्येव वाक्यमभ्युपगन्तव्यम्। तद्व्यतिरिक्तस्य तस्य पदवदनुपपद्यमानत्वात्।

---

१ "शब्दस"–बृ० ल० टि०। २ न च वा–भां० मां०। ३ "शब्दार्थ."–बृ० ल० टि०। ४ पृ० १८५ पं० ११। ५ पृ० ३५ पं० १२ तथा पृ० ४३४ पं० २२। ६ पृ० ३६ पं० ४। ७ न च वा–मां० आ०। ८ पदमभ्यधि–श्लो० वा०। ९ पदाधिक्यं श्लो० वा०। १० किञ्चित् तत् पदस्य श्लो० वा०। ११ पृ० १३६ पं० १३। १२–क्तानां वाच–बृ० ल० वा० मा०। १३ "वैशेषिकाणाम्" बृ० ल० टि०। १४ पृ० ४३१ पं० १७। १५ "अपह्नव" प्रसक्ते–बृ० ल० टि०। १६ "वर्णविशेषणत्वेन क्रमप्रतीतिः"–बृ० ल० टि०। १७ "क्रमविशिष्टतया"–बृ० ल० टि०।

यच्च 'कथं शब्दो वस्त्वन्तरत्वात् पुरुषादेर्वस्तुनो धर्मो येनासौ तस्य व्यञ्जनपर्यायो भवेत्' इत्युक्तम् तत्र नामनयाभिप्रायात् नाम-नामवतोरभेदात् 'पुरुष'शब्द एव पुरुषार्थस्य व्यञ्जनपर्यायः यद्वा 'पुरुष'इति शब्दो वाचको यस्यार्थगततद्वाच्यधर्मस्यासौ पुरुषशब्दः स चाभिधेयपरिणामरूपो व्यञ्जनपर्यायः कथं नार्थधर्मः? स च व्यञ्जनपर्यायः पुरुषोत्पत्तेरारभ्य आ पुरुषविनाशाद् भवति इति
५ जन्मादिर्मरणसमयपर्यन्त उक्तः, तस्य तु बालादयः पर्याययोगा बहुविकल्पाः तस्य पुरुषाभिधेयपरिणामवतो बालकुमारादयस्तत्रोपलभ्यमाना अर्थपर्याया भवन्त्यनन्तरूपाः। एवं च पुरुषो व्यञ्जनपर्यायेणैकः बालादिभिस्त्वर्थपर्यायैरनेकः ॥ ३२ ॥

[पुरुषस्य भेदाभेदैकान्ताभ्युपगमे अभावरूपतापत्त्या दूषणम्]

यथा पुरुषस्तथा सर्वं वस्त्वेकम् अनेकं वा सर्वस्य तथैवोपलब्धेः अन्यथाभ्युपगमे एकान्तरू-
१० पमपि तत्र भवेदिति दर्शयन्नाह—

अत्थि त्ति णिव्वियप्पं पुरिसं जो भणइ पुरिसकालम्मि ।
सो बालाइवियप्पं न लहइ तुल्लं व पावेज्जा ॥ ३३ ॥

इति ।

'अस्ति' इति एवं निर्विकल्पं निष्क्रान्ताशेषभेदस्वरूपं पुरुषम् एकरूपं पुरुषद्रव्यं यो
१५ ब्रवीति पुरुषकाले पुरुषोत्पत्तिक्षण एव असौ बालादिभेदं न लभते बालादिभेदरूपतया नासौ स्वयमेव व्यवस्थितिं प्राप्नुयात्। नापि तद्रूपतया अपरमसौ पश्येत्। एवं चाभेदरूपमेव तत् पुरुषवस्तु प्रसज्येत। तुल्यं वा प्राप्नुयात्—तदप्यभेदरूपं बालादितुल्यतामेव अभावरूपतया प्राप्नुयात् भेदाऽप्रतीतावभेदस्याप्यप्रतीतेरभाव इति भावः।

यद्वा 'अस्ति' इति एवं निर्विकल्पम्-निर्श्चितो विकल्पो भेदो यस्मिन् पुरुषद्रव्ये तद् निर्वि-
२० कल्पं भेदरूपं पुरुषं तत्स्वरूपलाभकाले भणति असौ बालादिविकल्पं न लभेत तुल्यम् इति द्रव्यतुल्यतामेवासौ प्राप्नुयात्। अत्रापि पूर्ववत् तदग्रहे तदग्रहाद् भेदरूपतया अप्यभाव इति भावः। न चैवमेवास्त्विति वक्तव्यम् सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेरिति भेदाभेदरूपमेव वस्त्वस्तु ॥ ३३ ॥

[पुरुषे शब्दार्थ-पर्यायाभ्यां भेदाभेदरूपत्वस्य व्यवस्थापनम्]

अस्यैवोपसंहारार्थमाह—

२५ वंजणपज्जायस्स उ पुरिसो 'पुरिसो' त्ति णिच्चमवियप्पो ।
बालाइवियप्पं पुण पासइ से अत्थपज्जाओ ॥ ३४ ॥

शब्दपर्यायेणाऽविकल्पः पुरुषः बालादिना त्वर्थपर्यायेण सविकल्पः सिद्ध इति गाथातात्पर्यार्थः।
"व्यञ्जयति व्यनक्ति वाऽर्थानिति व्यञ्जनम्—शब्दः न पुनः शब्दनयः तस्य ऋजुसूत्रार्थनयविषयत्वात्" इति केचित्—तस्य पर्यायः आ जन्मनो मरणान्तं यावदभिन्नस्वरूपपुरुषद्रव्यप्रतिपादकत्वम्
३० तद्द्वारेण तत्प्रतिपाद्यं वस्तुस्वरूपमत्र ग्राह्यम् उपचारात् एवं च द्वितयमप्येतत् 'पुरुषः 'पुरुषः' इति अभेदरूपतया न भिद्यते—व्यञ्जनपर्यायमतेन पुरुषवस्तु सदा अविकल्पम् भेदं न प्रतिपद्यत इति यावत्। बालादिविकल्पं बालादिभेदं पुनस्तस्यैव पश्यति अर्थपर्यायः ऋजुसूत्राय-

---

1 पृ० ४३१ पं० १३। 2—व्यस्य ध—वृ०। 3 दिर्मारण—वृ० बां० बा०। 4 यथा पुरुषस्त—वृ०। 5—वस्वरू—आं०। 6—श्चिनोति वि—भां० मां०। 7 "अभेदतुल्यताम्"—वृ० ल० टि०। 8 "यथा अभेदरूपता नास्ति तन्मते तथा भेदरूपताऽपि न स्यात् अभेदाभावे भेदावस्थानाभावात्"—वृ० ल० टि०। 9 "शब्द" यशेन—० ल० टि०। 10 पुरुषः इ—आ०। 11 "पुरुषवस्तुनः"—वृ० टि०। 12 अर्थप्रायः ल०।

र्थनयः। अत्रापि विषयिणा विषयः ऋजुसूत्रार्थनयविषयः अभिन्ने पुरुषरूपे भेदस्वरूपो निर्दिष्टः उपचारात्। एवं चाभिन्नं पुरुषवस्तु भेदं प्रतिपद्यत इति यावत् ॥ ३४ ॥

[वस्तुनोऽनेकान्तात्मकत्वेऽप्येकान्तरूपत्वं वदतोऽप्रमाणत्वख्यापनम्]

एवं निर्विकल्प-सविकल्पस्वरूपे प्रतिपाद्ये पुरुषादिवस्तुनि तद्विपर्ययेण तद् वस्तु प्रतिपादयन् वस्तुस्वरूपानवबोधं स्वात्मनि ख्यापयतीति दर्शनार्थमाह— ५

सवियप्प-णिव्वियप्पं इय पुरिसं जो भणेज्ज अवियप्पं।
सवियप्पमेव वा णिच्छएण ण स निच्छिओ समए ॥ ३५ ॥

सविकल्पनिर्विकल्पं स्यात्कारपदलाञ्छितं **पुरुषद्रव्यं यः** प्रतिपादकः तद् वस्तु **ब्रूयात् अविकल्पमेव सविकल्पमेव वा निश्चयेन** इत्यवधारणेन **स** यथावस्थितवस्तुप्रतिपादने प्रस्तुते अन्यथाभूतं वस्तुतत्त्वं प्रतिपादयन् **न निश्चित** इति निश्चयो निश्चितम् तद् अस्यास्तीति १० निश्चितः-अर्शआदित्वात् अच्-**समये** परमार्थेन वस्तुसत्त्वस्य परिच्छेत्तेति यावत्। तथाहि— प्रमाणपरिच्छिन्नं तथैवाविसंवादि वस्तु प्रतिपादयन् वस्तुनः प्रतिपादक इत्युच्यते। न च तथाभूतं वस्तु केनचित् कदाचित् प्रतिपन्नम् प्राप्यते वा येन तथाभूतं तद्वचस्तत्र प्रमाणं भवेत् तथाभूतवचनाभिधाता वा तज्ज्ञानं वा प्रमाणतया लोके व्यपदेशमासादयेत् ॥ ३५ ॥

[सप्तभङ्गीस्वरूपविचारणा] १५

परस्पराक्रान्तभेदाभेदात्मकस्य वस्तुनः कथञ्चित् सदसत्त्वमभिधाय तथा तदभिधायकस्य वचसः पुरुषस्यापि तदभिधानद्वारेण सम्यग्मिथ्यावादित्वं प्रतिपाद्य अधुना भावाभावविषयं तत्रैवैकान्तानेकान्तात्मकमंशं प्रतिपादयतो विवक्षया सुनय-दुर्नय-प्रमाणरूपतां तत्प्रतिपादकं वचो यथा अनुभवति तथा प्रपञ्चतः प्रतिपादयितुमाह—

यद्वा यथैव तद् वस्तु व्यवस्थितं तथैव वचनात् प्रतिपादयतो वक्तुर्निपुणत्वं भवति अन्यथा २० साङ्ख्य-बौद्ध-कणभुजामिव अभिन्न-भिन्न-परस्परनिरपेक्षोभयवस्तुस्वरूपाभिधायिनाम् अर्हन्मतानुसारिणामपि 'स्यादस्ति' इत्यादिसप्तविकल्परूपतामनापन्नवचनं वक्तॄणां स्यात्कारपदाऽलाञ्छितवस्तुधर्मं प्रतिपादयतामनिपुणता भवेदिति प्रपञ्चतः सप्तविकल्पोत्थाननिमित्तमुपदर्शयितुं गाथासमूहमाह—

अत्थंतरभूएहि य णियएहि य दोहि समयमाईहिं। २५

१-त्मार्थेन-आ०। २-पयेऽभि-वा० बा०। ३-यत् च-बृ० ल० विना। ४ अविअप्पं ल०। ५ अच-आ०। अत्-बृ०। अन्-मा०। अन-वा० बा०। "अर्शआदिभ्योऽच्" ॥ ५।२।१२७। अ० १९३३ सिद्धान्तकौ०। "अभ्रादिभ्यः" ॥ ७।२।४६। हैम०। ६ "एकान्तविकल्पादिरूपम्"-बृ० ल० टि०। ७-प्यते येन बृ० वा० बा० मा० विना। ८ यथा य-बृ०। ९-चनवक्तृ-भा० मा०।-चन वक्तृ-वा० बा०।

१० श्रीभगवतीसूत्रे सप्तभङ्ग्या बीजभूतवाक्यत्रयमेवमुपलभ्यते

प्र०-"से नूण भंते! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ?

उ०-हंता, गोयमा! जाव परिणमइ"। इत्यादि—भगवती० श० १ उ० ३ पृ० ५५। प्रश्नसूत्रांक ३२।

प्र०-"आया भंते! रयणप्पभा पुढवी अन्ना रयणप्पभा पुढवी?

उ०-गोयमा! रयणप्पभा सिय आया, सिय नोआया, सिय अवत्तव्वं आया ति य नो आया ति य"। इत्यादि— भगवती० श० १२ उ० १० पृ० ५९२ द्वि०-५९४ द्वि० सूत्रांक ४६९।

अयं च भगवतीसूत्रगतोऽस्त. नयचक्रेऽपि ज्ञापकत्वेन इत्थं वर्णितः —

"भावः पर्यव प्रवेश. समन्तात् अव पर्यवः इति 'परि'शब्द(ब्द) समन्तादर्थ(र्थे) 'अव'शब्द प्रवेशार्थे.। तद् वस्तुतो दर्शयति—समन्तात् प्रविशति एकताम् अन्यताम् उभयताम् अनुभयतां च योऽर्थः स पर्यवः ××× पर्यवे

वयणविसेसाईयं दव्वमवत्तव्वयं पडइ ॥ ३६ ॥

अस्यास्तात्पर्यार्थः—अर्थान्तरभूतः पटादिः निजो घटः ताभ्यां निजार्थान्तरभूताभ्यां सदसत्त्वं घटवस्तुनः प्रथम-द्वितीयभङ्गनिमित्तं प्रधान-गुणभावेन भवतीति प्रथम-द्वितीयौ भङ्गौ १-२। यदा तु द्वाभ्यामपि युगपत् तद् वस्तु अभिधातुमभीष्टं भवति तदा अवक्तव्यभङ्गकनिमित्तम् तथाभूतस्य ५वस्तुनोऽभावात् प्रतिपादकवचनातीतत्वात् तृतीयभङ्गसद्भावः वचनस्य वा तथाभूतस्याभावाद् अवक्तव्यं वस्तु ३।

आस्तिकः पर्यायास्तिकः इति मूलभेदा अस्य नयस्य शब्दस्य (?) किमेताः समनीषिरा उच्यन्ते उत अस्य(स्य)स्य उपनिबन्धनम् आर्षम् (आर्षम्) अपीति । अस्तीत्युच्यते, उपनिबन्धनमस्य तदुभयः स आदिष्टः इत्यादि ।

" 'इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी आता नोआता ?' इति पृष्टे भगवद्वचनम्—'गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया, परस्स आदिट्ठे नोआया, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं आता ति य णोआता ति य' " इति । एवम् अवक्तव्यत्वम् आत्माऽनात्मपर्यायाभ्यामादेशेऽत्र ज्ञापकनिबन्धनमुच्यते इति ।

नियमभङ्गो नवमोऽरः श्रीमल्लवादिप्रणीतनयचक्रस्य टीकायां न्यायागमानुसारिण्यां सिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमणव्याख्यायां समाप्तः।"—नयचक्रलि० को० पृ० ९२९ पं० ३-१४। अनुयोग० पृ० ५५ द्वि० सूत्रांक ७६। १-साइय ल० विना। २ प्रमेयर० को० पृ० १२-पृ० २० सप्तभङ्गीस्थापनम्।

३ १ 'स्याद् अस्ति' २ 'स्यान्नास्ति'
३ 'स्याद् अवक्तव्यः' ४ 'स्याद् अस्तिनास्ति'

इत्येवं भङ्गक्रमः अत्र मूले टीकायां चास्ति। एवमेव च तत्क्रमः तत्त्वार्थसूत्रभाष्ये, विशेषावश्यकभाष्ये, दिगम्बरीयप्रवचनसारेऽपि दृश्यते। तथाहि—

"उत्पन्नास्तिकस्य उत्पन्नं वा, उत्पन्ने वा, उत्पन्नानि वा, सत्"।

"अनुत्पन्नं वा, अनुत्पन्ने वा, अनुत्पन्नानि वा असत्"।

"अर्पिते अनुपनीते न वाच्यम्—सदिति असदिति वा"—तत्त्वार्थसू० भा० अ० ५ सू० ३१ पृ० ४०६ पं० २० तथा पृ० ४१० पं० २९।

"सब्भावाऽसब्भावोभयप्पिओ सपरपज्जओभयओ। कुंभाऽकुंभऽवत्तव्वोभयरूवाइभेओ सो" ॥
—विशेषाव० भा० गा०२२३२ पृ० ९१०।

"अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं। पज्जाएण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा" ॥२३॥
—प्रवचनसा० पृ० १६१। प्रवचनसारटीकायामपि तथैवास्ति। "अयं च (स्याद् अवक्तव्यमेव) भङ्गः कैश्चित् ('स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव' इति) तृतीयभङ्गस्थाने पठ्यते। तृतीयश्च एतस्य स्थाने"—रत्नाकराव० चतु० परि० सू० १८ पृ० ६२ पं० २६।

१ 'स्याद् अस्ति' २ 'स्यान्नास्ति'
३ 'स्याद् अस्तिनास्ति' ४ 'स्याद् अवक्तव्यः'

इत्येवं तृतीय-चतुर्थभङ्गयोः स्थानव्यत्ययः श्वेताम्बरीयप्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार-रत्नाकरावतारिका-स्याद्वादमञ्जरी-नयोपदेशेषु दिगम्बरीयपञ्चास्तिकाय-आप्तमीमांसा-तत्त्वार्थराजवार्तिक-तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-सप्तभङ्गीतरङ्गिणीषु च वर्तते। तथाहि—

१ "स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः"।
२ "स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः"।
३ "स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधि-निषेधकल्पनया तृतीयः"।
४ "स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद् विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः"।

—प्रमाणनयत० चतु० परि० सू० १७-१८। रत्नाकराव० चतु० परि० सू० १७-१८ पृ०६२। स्याद्वादमञ्ज० पृ० १८९ पं० ८ आ०। नयोप० पृ० १२ द्वि० पं० ९।

"सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं। दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि" ॥ १४ ॥
—पञ्चास्तिका० पृ० ३०।

प्रवचनसार-पञ्चास्तिकाययोः समानकर्तृकतायामपि प्रवचनसारे पूर्वोक्तः क्रमः पञ्चास्तिकाये तु ततो भिन्नः क्रमः।

"कथंचित् ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्। तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा" ॥ १४ ॥
—आप्तमीमां० पृ० १२।

[मूलभङ्गत्रयं विवेच्य तत्समर्थकानां षोडशानामपेक्षाभेदानां व्यावर्णनम्]

तथाहि—असत्त्वोपसर्जनसत्त्वप्रतिपादने प्रथमो भङ्गः। तद्विपर्ययेण तत्प्रतिपादने द्वितीयः। द्वयोस्तु धर्मयोः प्राधान्येन गुणभावेन वा प्रतिपादने न किञ्चिद् वचः समर्थम् यतो न तावत् समासवचनं तत्प्रतिपादकम् नापि वाक्यं सम्भवति। समासपक्षे तावन्न बहुव्रीहिरत्र समर्थः तस्यान्यपदार्थप्रधानत्वात् अत्र चोभयप्रधानत्वात्। अव्ययीभावोऽपि नात्र प्रवर्त्तते तस्यात्रार्थेऽसम्भवात्।५ द्वन्द्वसमासे तु यद्यप्युभयपदप्राधान्यम् तथापि द्रव्यवृत्तिस्तावन्न प्रकृतार्थप्रतिपादकः गुणवृत्तिरपि द्रव्याश्रितगुणप्रतिपादकः द्रव्यमन्तरेण गुणानां तिष्ठत्यादिक्रियाधारत्वासम्भवात् तस्या द्रव्याश्रितत्वान्न प्रधानभूतयोर्गुणयोः प्रतिपाद्यत्वम्। तत्पुरुषोऽपि नात्र विषये प्रवर्त्तते तस्याप्युत्तरपदार्थप्रधानत्वात्। नापि द्विगुः सङ्ख्यावाचिपूर्वपदत्वात् तस्य। कर्मधारयोऽपि न, गुणाधारद्रव्यविषयत्वात्। न च समासान्तरसद्भावः येन युगपद् गुणद्वयं प्रधानभावेन समासपदवाच्यं स्यात् अत एव न १० वाक्यमपि तथाभूतगुणद्वयप्रतिपादकं सम्भवति तस्य वृत्त्यभिन्नार्थत्वात्। न च केवलं पदम् वाक्यं वा लोकप्रसिद्धम् तस्यापि परस्परापेक्षद्रव्यादिविषयतया तथाभूतार्थप्रतिपादकत्वायोगात्।

न च "तौ सत्" [३।२।१२७ सिद्धान्तकौ० सं० ३१०६] इति शतृ-शानचोरिव सङ्केतितैकपदवाच्यत्वम् विकल्पप्रभवशब्दवाच्यत्वप्रसक्तेः। विकल्पानां च युगपदप्रवृत्तेर्नैकदा तयोस्तद्वाच्यतासम्भवः। न च निजार्थान्तरैकान्ताभ्युपगमेऽप्यर्थस्य वाच्यता, तथाभूतस्य तस्यात्यन्ताऽसत्त्वात्—१५ सर्वथा सत्त्वेऽन्यतोऽव्यावृत्तत्वात् महासामान्यवद् घटार्थत्वानुपपत्तेः। अर्थान्तरत्वे पररूपादिव स्वरूपादपि व्यावृत्तेः खरविषाणवद् असत्त्वादवाच्यतैव। न च घटत्वे घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्ते विधिरूपे सिद्धेऽसम्बद्ध एव तत्र पटाद्यर्थप्रतिषेध इति वाच्यम् पटादेस्तत्राभावाभावे घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य घटत्वस्यैवाऽसिद्धेः। शब्दानां चार्थज्ञापकत्वं न कारकत्वमिति तथाभूतार्थप्रकाशनं तथाभूतेनैव शब्देन विधेयमिति नासम्बद्धस्तत्र पटाद्यर्थप्रतिषेधः। अथवा 'सर्वं सर्वात्मकम्' इति २० सांख्यमतव्यवच्छेदार्थं तत्प्रतिषेधो विधीयते तत्र तस्य प्रतीत्यभावात् १।

यद्वा नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभिन्नेषु विधित्सिताऽविधित्सितप्रकारेण प्रथम-द्वितीयौ भङ्गौ। तत्प्रकाराभ्यां युगपद् अवाच्यम् तथाभिधेयपरिणामरहितत्वात् तस्य यतो यदि अविधित्सितरूपेणापि घटः स्यात् प्रतिनियतनामादिभेदव्यवहाराभावप्रसक्तिः तथा च विधित्सितस्यापि नात्मलाभ इति सर्वाभाव एव भवेत्। तथा यदि विधित्सितप्रकारेणाप्यघटः स्यात् तदा तन्निबन्धनव्यवहारो-२५ च्छेदप्रसक्तिरेव। एकपक्षाभ्युपगमेऽपि तदितराभावे तस्याप्यभाव इति अवाच्यः २।

---

१ 'स्याद् घटः'	२ 'स्याद् अघटः'
३ 'स्याद् घटश्च अघटश्च'	४ 'स्याद् अवक्तव्यः'

—१-६ तत्त्वार्थराजवा० पृ० २४ भा० ५।

१ "स्यादस्त्येवाखिलं यद्वत् स्वरूपादिचतुष्टयात्" ॥ ४९ ॥
२ "स्यान्नास्त्येव विपर्यासादिति कश्चिन्निषेधने।
३ स्याद् द्वैतमेव तद्द्वैतादित्यस्तित्व-निषेधयोः ॥ ५० ॥
४ क्रमेण यौगपद्याद्वा स्यादवक्तव्यमेव तत्" ॥ ५१ ॥

—१-६ तत्त्वार्थश्लो० वा० पृ० १२८।

१ "स्यादस्त्येव घटः।	२ स्यान्नास्त्येव घटः।
३ स्यादस्ति नास्ति च घटः।	४ स्यादवक्तव्य एव"।

—सप्तभङ्गीत० पृ० २ पं० २।

१ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० २५० प्र० पं० ७-११। २ तस्याप्युत्तरामि-भा० मा०। ३ तथापूर्वभूमा०। ४-नयोरिव मु० ल० वा० मा०। ५ न चानि-मु०।

६ अत्रत्याः सत्त्वासत्त्वाऽवक्तव्यत्वसमर्पणपराः दशापेक्षाप्रकाराः तत्त्वार्थराजवार्त्तिके दृश्यन्ते—१, ६ भा० ५ पृ० २४ पं० २१-पृ० २५ पं० १८। त एव च दश प्रकाराः प्रमेयरत्नकोषे समुद्धृताः-पृ० ५ पं० २३-पृ० ८ पं० १०। शास्त्रवार्तासमुच्चयटीकायामत्रत्याः सर्वेऽपि तथैव परिगृहीताः- पृ० २५० द्वि० पं० १४-पृ० २५२ द्वि० पं० ६।

अथवा स्वीकृतप्रतिनियतप्रकारे तत्रैव नामादिके यः संस्थानादिः तत्स्वरूपेण घटः इतरेण चा-
घट इति प्रथम-द्वितीयौ, ताभ्यां युगपदभिधातुमशक्तेरवाच्यः। विवक्षितसंस्थानादिनेव यदीतरे-
णापि घटः स्याद् एकस्य सर्वघटात्मकत्वप्रसक्तिः अथ विवक्षितेनाप्यघटः पटादाविव घटार्थिनस्तत्रा-
प्यप्रवृत्तिप्रसक्तिः। एकान्ताभ्युपगमेऽपि तथाभूतस्य प्रमाणाविषयत्वतोऽसत्त्वादवाच्यः ३।
५ यदि वा स्वीकृतप्रतिनियतसंस्थानादौ मध्यावस्था निजं रूपम् कुशूल-कपालादिलक्षणे पूर्वोत्त-
रावस्थे अर्थान्तररूपम् ताभ्यां सदसत्त्वे प्रथम-द्वितीयौ। युगपत् ताभ्यामभिधातुमसामर्थ्याद् अवा-
च्यलक्षणस्तृतीयो भङ्गः। तथाहि—मध्यावस्थावदितरावस्थाभ्यामपि यदि घटः स्यात् तस्य अनाद्य-
नन्तत्वप्रसक्तिः अथ मध्यावस्थारूपेणाप्यघटः सर्वदा घटाभावप्रसक्तिः। एकान्तपक्षेऽप्ययमेव
प्रसङ्ग इत्यसत्त्वादेव अवाच्यः ४।
१० अथवा तस्मिन्नेव मध्यावस्थास्वरूपे वर्त्तमानाऽवर्त्तमानक्षणरूपतया सदसत्त्वात् प्रथम-द्वितीय-
भङ्गौ। ताभ्यां युगपदभिधातुमशक्तेरवाच्यलक्षणस्तृतीयः। तथाहि—यदि वर्त्तमानक्षणवत् पूर्वोत्तर-
क्षणयोरपि घटः स्यात् वर्त्तमानक्षणमात्रमेवासौ जातः पूर्वोत्तरयोर्वर्त्तमानताप्राप्तेः। न च वर्त्तमान
क्षणमात्रमपि पूर्वोत्तरापेक्षस्य तदभावे असम्भवात्। अथातीनानागतक्षणवद् वर्त्तमानक्षणरूपतया
अप्यघटः प्रध्वंसति सर्वदा तस्याभावप्रसक्तिः, एकान्तपक्षेऽप्ययमेव दोष इत्यभावादेव अवाच्यः ५।
१५ यद्वा क्षणपरिणतिरूपे घटे लोचनजप्रतिपत्तिविषयत्वाविषयत्वाभ्यां निजार्थान्तरभूताभ्यां
सदसत्त्वात् प्रथम-द्वितीयौ भङ्गौ। ताभ्यां युगपदादिष्टोऽवाच्यः। तथाहि—लोचनजप्रतिपत्तिविषय-
त्वेनेव यदीन्द्रियान्तरजप्रतिपत्तिविषयत्वेनापि घटः स्यात् इन्द्रियान्तरकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तिः इन्द्रि-
यसङ्करप्रसक्तिश्च। अथेन्द्रियान्तरजप्रतिपत्तिविषयत्वेनेव चक्षुर्जप्रतिपत्तिविषयत्वेनापि न घटस्तर्हि
तस्यारूपत्वप्रसक्तिः एकान्तवादेऽपि तदितराभावे तस्याप्यभावादवाच्य एव ६।
२० अथवा लोचनजप्रतिपत्तिविषये तस्मिन्नेव घटे 'घट'शब्दवाच्यता निजं रूपम् 'कुट'शब्दाभिधेय-
त्वमर्थान्तरभूतं रूपम् ताभ्यां सदसत्त्वात् प्रथम-द्वितीयौ। युगपत् ताभ्यामभिधातुमिष्टोऽवाच्यः।
यदि हि 'घट'शब्दवाच्यत्वेनेव 'कुट'शब्दवाच्यत्वेनापि घटः स्यात् तर्हि त्रिजगत एकशब्दवाच्यता-
प्रसक्तिः घटस्य वाऽशेषपटादिशब्दवाच्यत्वप्रसक्तिरिति घटशब्दवाच्यत्वप्रतिपत्तौ समस्ततद्वाच-
कशब्दप्रतिपत्तिप्रसङ्गश्च। तथा घटशब्देनापि यद्यवाच्यः स्यात् घटशब्दोच्चारणवैयर्थ्यप्रसक्तिः।
२५ एकान्ताभ्युपगमेऽपि घटस्यैवासत्त्वात् सङ्केतद्वारेणापि न तद्वाचकः कश्चित् शब्द इत्यवाच्य एव ७।
अथवा घटशब्दाभिधेये तत्रैव घटे हेयोपादेयान्तरङ्गबहिरङ्गोपयोगानुपयोगरूपतया सदसत्त्वात्
प्रथम-द्वितीयौ। ताभ्यां युगपदादिष्टोऽवाच्यः। यदि हि हेयबहिरङ्गानर्थक्रियाकार्यसन्निहितरूपेणा-
प्यर्थक्रियाक्षमादिरूपेणेव घटः स्यात् पटादीनामपि घटत्वप्रसक्तिः तद्वद् यद्युपादेयसन्निहितादिरू-
पेणाप्यघटः स्यात् अन्तरङ्गस्य वक्तृ-श्रोतृगतहेतुफलभूतघटाकारावबोधकविकल्पोपयोगस्याप्यभावे
३० घटस्याप्यभावप्रसङ्ग इत्यवाच्यः। एकान्ताभ्युपगमेऽप्ययमेव प्रसङ्ग इत्यवाच्यः ८।
अथवा तत्रैवोपयोगेऽभिमतार्थावबोधकत्वानभिमतार्थानवबोधकत्वतः सदसत्त्वात् प्रथम-
द्वितीयौ। ताभ्यां युगपदादिष्टोऽवाच्यः। विवक्षितार्थप्रतिपादकत्वेनेवेतरेणापि यदि घटः स्यात्
प्रतिनियतोपयोगाभावः तथाभ्युपगमे विविक्तरूपोपयोगप्रतिपत्तिर्न भवेत्। तदुपयोगरूपेणापि यद्य-
घटो भवेत् तदा सर्वाभावः अविशेषप्रसङ्गो वा। न चैवम् तथाऽप्रतीतेः। एकान्तपक्षेऽप्ययमेव
३५ प्रसङ्ग इत्यवाच्यः ९।
अथवा सत्त्वम् असत्त्वं वा अर्थान्तरभूतम् निजं घटत्वम् ताभ्यां प्रथम-द्वितीयौ, अभेदेन
ताभ्यां निर्दिष्टो घटोऽवक्तव्यो भवति। तथाहि—यदि सत्त्वमनूद्य घटत्वं विधीयते तदा सत्त्वस्य
घटत्वेन व्याप्तेर्घटस्य सर्वगतत्वप्रसङ्गः तथाभ्युपगमे प्रतिभासबाधा व्यवहारविलोपश्च। तथा अस-
त्त्वमप्यनूद्य यदि घटत्वं विधीयते तर्हि प्रागभावादेश्चतुर्विधस्यापि घटेन व्याप्तेर्घटत्वप्रसङ्गः। अथ
४० घटत्वमनूद्य सदसत्त्वे विधीयेते तदा घटत्वं यत् तदेव सदसत्त्वे इति घटमात्रं सदसत्त्वे प्रसज्येते
तथा च पटादीनां प्रागभावादीनां चाभावप्रसक्तिरिति प्राक्तनन्यायेन विशेषणविशेष्यलोपात् 'सन्
घटः' इत्येवमवक्तव्यः 'असन् घटः' इत्येवमप्यवक्तव्यः। न चैतस्(चैकान्त)तोऽवाच्यः अनेकान्तपक्षे
तु कथञ्चिदवाच्य इति न कश्चिद् दोषः १०।

---

१ कुसूल-बृ० वा० बा०। २ "ताभ्या सदसत्त्वात्"—शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० २५१ प्र० पं० ८। ३ प्र-गां०। ४ "घटत्वेन"—शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० २५२ प्र० प० २। ५-नां वा भा-बृ० ल० गां० विना

यद्वा व्यञ्जनपर्यायोऽर्थान्तरभूतः तद्गतद्विषयत्वात् तस्य, घटार्थपर्यायस्त्वन्यप्रावृत्तेर्निजः ताभ्यां प्रथम-द्वितीयौ, अभेदेन ताभ्यां निर्देशोऽवक्तव्यः। यतोऽत्रापि यदि व्यञ्जनमनूद्य घटार्थपर्यायविधिः तदा तस्याशेषघटात्मकताप्रसक्तिरिति भेदनिबन्धनतद्व्यवहारविलोपः। अथार्थपर्यायमनूद्य व्यञ्जनपर्यायविधिः तत्रापि कार्यकारणव्यतिरेकाभावप्रसक्तिः सिद्धविशेषानुवादेन घटत्वसामान्यस्य विधाने तस्याऽकार्यत्वात्। एवं च घटस्याभावादवाच्यः। अनेकान्तपक्षे तु युगपदभिधातुमशक्यत्वात् कथञ्चिदवाच्यः सिद्धः ११।

यद्वा सत्त्वमर्थान्तरभूतम् तस्य विशेषवदेकत्वादनन्वयिरूपता अत एव न तद्वाच्यमन्त्यविशेषवत् अन्त्यविशेषस्तु निजः सोऽप्यवाच्योऽनन्वयात् प्रत्येकावक्तव्याभ्यां ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः। अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चिदवक्तव्यः १२।

अथवा 'संद्रुतरूपाः सत्त्वादयो घटः' इत्यत्र दर्शने अर्थान्तरभूताः सत्त्वादयः, निजं संद्रुतरूपम् ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः यतः संद्रुतरूपस्य सत्त्वरजस्तमस्सु सत्त्वे सत्त्वरजस्तमसामभावप्रसक्तिः तेषां परस्परवैलक्षण्येनैव सत्त्वादित्वात् सन्द्रुतरूपत्वे च वैलक्षण्याभावादभाव इति विशेष्याभावादवाच्यः। असत्त्वे स्वसत्कार्योत्पादप्रसङ्गः। न चैतदभ्युपगम्यते अभ्युपगमेऽपि विशेषणाभावादवाच्यः १३।

अथवा रूपादयोऽर्थान्तरभूताः असंद्रुतरूपत्वं निजम् ताभ्यामादिष्टोऽवक्तव्यः। यथाहि-अरूपादिव्यावृत्ता रूपादयस्ते। एवं च रूपादीनां घटताऽवाच्या अरूपादित्वाद् घटस्य। नहि परस्परविलक्षणबुद्धिग्राह्या रूपादय एकानेकात्मकप्रत्ययग्राह्याऽरूपादिरूपघटतां प्रतिपद्यन्त इति विशेष्यलोपादवाच्यः। अथाप्यरूपादिरूपा रूपादयः; नन्वेवमपि रूपादय एव न भवन्तीति तेषामभावे केऽसंद्रुतरूपतया विशेष्या येनासंद्रुतरूपा रूपादयो घटो भवेत् इत्येवमप्यवाच्यः अनेकान्तवादे तु कथञ्चिदवाच्यः १४।

यदि वा रूपादयोऽर्थान्तरभूताः मतुवर्थो निजः ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः रूपाद्यात्मैकैकाकारावभासप्रत्ययविषयव्यतिरेकेणापरसम्बन्धानवगतेर्विशेष्याभावात् 'रूपादिमान् घटः' इत्यवाच्यः। न चैकाकारप्रतिभासग्राह्यव्यतिरेकेणापररूपादिप्रतिभास इति विशेषणाभावादप्यवाच्यः। अनेकान्ते तु कथञ्चिदवाच्यः १५।

अथवा बाह्योऽर्थान्तरभूतः उपयोगस्तु निजः ताभ्यामादिष्टोऽवक्तव्यः। तथाहि-य उपयोगः स घट इति यद्युच्येत तर्ह्युपयोगमात्रकमेव घट इति सर्वोपयोगस्य घटत्वप्रसक्तिरिति प्रतिनियतस्वरूपाभावादवाच्यः। अथ यो घटः स उपयोग इत्युच्येत तथाप्युपयोगस्यार्थत्वप्रसक्तिरित्युपयोगाभावे घटस्याप्यभावः ततश्च कथं नावाच्यः? १६।

"एते च त्रयो भङ्गा गुण-प्रधानभावेन सकलधर्मात्मकैकवस्तुप्रतिपादकाः स्वयं तथाभूताः सन्तो निरवयवप्रतिपत्तिद्वारेण सकलादेशाः वक्ष्यमाणास्तु चत्वारः सावयवप्रतिपत्तिद्वारेणाशेषधर्माक्रान्तं वस्तु प्रतिपादयन्तोऽपि विकलादेशाः" इति केचित् प्रतिपन्नाः। वाक्यं च सर्वमेकानेकात्मकं सत् स्वाभिधेयमपि तथाभूतमवबोधयति यतो न तावन्निरवयवेन वाक्येन वस्तुस्वरूपाभिधानं सम्भवति अनन्तधर्माक्रान्तैकात्मकत्वाद् वस्तुनः निरवयववाक्यस्य त्वेकस्वभाववस्तुविषयत्वात् तथाभूतस्य च वस्तुनोऽसम्भवात् न निरवयवस्य तस्य वाक्यमभिधायकम्। नापि सावयवं वाक्यं वस्त्वभिधायकं सम्भवति वस्तुन एकात्मकत्वात्। न च वस्तुनो व्यतिरिक्तास्तदंशाः, तद्व्यतिरेकेण तेषामप्रतीतेः—एकस्वरूपव्यासानेकांशप्रतिभासात्। न च तद् एकात्मकमेव अनेकांशानुरक्तस्यैव एकात्मनः प्रतिभासात् अतो वस्तुन एकानेकस्वभावत्वात् तथाभूतवस्त्वभिधायकाः

१ "घटोऽर्थपर्यायः"-राजवा० स्याद्वादक० पृ० २५२ प्र० पं० ६। २ "सत्त्वाऽन्त्यविशेषाभ्याम्"- बृ० ल० टि०। ३ संद्रूतरू-वा० बा०। ४ "यतो रूपादि-" राजवा० स्याद्वादक० पृ० २५२ द्वि० पं० २। ५-व्या रूपादि-वा० बा०। ६-रूपत्वादि-भ० विना। ७-ग्राहरू-वा० बा०। ८ मतुवजर्थो वा० बा०। ९-त्मैकैकारा-भ० मां०।-त्मकैकारा-गां०।-त्मकोकारा-आ०। १०-पररूपसम्ब-आ० हा० वि०। "अपरम्परासम्बन्धानवगतेर्विशेष्याभावाद् न रूपादिमान्"-राजवा० स्याद्वादक० पृ० २५२ द्वि० पं० ६। ११-भावे स-शा०। १२-द्वारेण दो-भ०।

शब्दा अपि तथाभूता एव नैकान्ततः सावयवा उभयैकान्तरूपा वा। तत्र विवक्षाकृतप्रधानभाव-सदाद्येकधर्मात्मकस्यापेक्षितापराशेषधर्मक्रोडीकृतस्य वाक्यार्थस्य स्यात्कारपदलाञ्छितवाक्यात् प्रतीतेः स्यादस्ति घटः १ स्यान्नास्ति घटः २ स्यादवक्तव्यो घटः ३ इत्येते त्रयो भङ्गाः सकलादेशाः। विवक्षाविरचितद्वित्रिधर्मानुरक्तस्य स्यात्कारपदसंसूचितसकलधर्मस्वभावस्य धर्मिणो वाक्यैर्थरूपस्य
५ प्रतिपत्तेश्चत्वारो वक्ष्यमाणका विकलादेशाः–स्यादस्ति च नास्ति घट इति प्रथमो विकलादेशः १। स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घट इति द्वितीयः २। स्यात् नास्ति चाऽवक्तव्यश्च घट इति तृतीयः ३। स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति चतुर्थः ४। एत एव सप्त भङ्गाः स्यात्पदलाञ्छनविरहिणोऽवधारणैकस्वभावा विषयाभावतो दुर्नया भवन्ति। धर्मान्तरोपादानप्रतिषेधाकरणात् स्वार्थमात्रप्रतिपादनप्रवणा एते एव सुनयरूपतामासादयन्ति। स्यात्पदलाञ्छनविवक्षितैकधर्मावधारणवशाद् वा
१० सुनयाः सद्व्यादेरेकदेशस्य व्यवहारनिबन्धनत्वेन विवक्षितत्वात् धर्मान्तरस्य चानिषिद्धत्वात्। अतः 'स्यादस्ति' इत्यादि प्रमाणम् 'अस्त्येव' इत्यादि दुर्नयः 'अस्ति' इत्यादिकः सुनयो नैनु (न तु) संव्यवहाराङ्गम् 'स्यादस्त्येव' इत्यादिस्तु नय एव व्यवहारकारणं स्वपराव्यावृत्तवस्तुविषयप्रवर्त्तकवाक्यस्य व्यवहारकारणत्वात् अन्यथा तदयोगात् ॥ ३६॥

[चतुर्थभङ्गनिरूपणम्]

१५ एवं निरवयववाक्यस्वरूपं भङ्कत्रयं प्रतिपाद्य सावयववाक्यरूपचतुर्थभङ्गकं प्रतिपादयितुमाह–

अह देसो सब्भावे देसोऽसब्भावपज्जवे णियओ।
तं दवियमत्थि णत्थि य आएसविसेसियं जम्हा ॥ ३७॥

अथ इति यदा **देशो** वस्तुनोऽवयवः **सद्भावे**ऽस्तित्वे नियतः 'सन्नेवायम्' इत्येवं निश्चितः अपरश्च **देशोऽसद्भावपर्याये**–नास्तित्व एव–**नियतः**–'असन्नेवायम्' इत्यवगतः अवयवेभ्यो-
२० ऽवयविनः कथञ्चिदभेदाद् अवयवधर्मैस्तस्यापि तथाव्यपदेशः यथा 'कुण्ठो देवदत्त' इति। ततोऽवयवसत्त्वासत्त्वाभ्यामवयवी अपि सदसन् सम्भवति। ततः **तद् द्रव्यमस्ति च नास्ति** चेति भवत्युभयप्रधानावयवभागेन **विशेषितं यस्मात्**। तथाहि-यद् अवयवेन विशिष्टधर्मेण आदिश्यते तद् अस्ति च नास्ति च भवति। तथा, सद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैर्विभक्तो घटः स्वद्रव्यादिरूपेणास्ति परद्रव्यादिरूपेण च स एव नास्ति। तथा च पुरुषादि वस्तु विवक्षितपर्यायेण बालादिना
२५ परिणतम् कुमारादिना चापरिणतमित्यादिष्टमिति योज्यम् ॥ ३७॥

[पञ्चमभङ्गप्रदर्शनम्]

पूर्वभङ्गकप्रदर्शितन्यायेन पञ्चमभङ्गकप्रदर्शनायाह–

सब्भावे आइट्ठो देसो देसो य उभयहा जस्स।
तं अत्थि अवत्तव्वं च होइ दविअं वियप्पवसा ॥ ३८॥

३० **सद्भावे**ऽस्तित्वे **यस्य** घटादेर्धर्मिणो **देशो** धर्मः **आदिष्टो**ऽवक्तव्यानुविद्धस्वभावे अन्यथा तदसत्त्वात्। न ह्यपरधर्माप्रविभक्ततामन्तरेण विवक्षितधर्मास्तित्वमस्य सम्भवति खरविषाणादेरिव। तस्यैवापरो **देश उभयथा** अस्तित्वनास्तित्वप्रकाराभ्यामेकदैव विवक्षितोऽस्तित्वानुविद्ध एवावक्तव्यस्वभावः अन्यथा तदसत्त्वप्रसक्तेः न ह्यस्तित्वाभावे उभयाविभक्तता शशशृङ्गादेरिव तस्य सम्भविनी, प्रथम-तृतीयकेवलभङ्गव्युदासस्तथाविवक्षावशादत्र कृतो द्रष्टव्यः तत्र प्रथम-तृती-

---

१-घ्यार्थस्वरूप-आ०। २-भावात् दु-आ०। ३ न तु वृ० स०। ४-स्यादिसुन-वृ० वा० विना।-स्यादिसुन-भा०। ५-रण स्व-वृ० ल० विना०। ६-भावो वृ० ल०। ७-द्भाव एव प-वृ० वा० बा० मां०। ८ पञ्चमभङ्गप्र-वृ० ल० वा० बा० विना। ९-इट्ठो ल०। १० अव्वत्त-वृ० ल०। अवत्तयं च -भा०।

यदोर्भङ्गकयोः परस्पराविशेषणभूतयोः प्रतिपाद्येनाधिगन्तुमिष्टत्वात् प्रतिपादकेनापि तथैव विवक्षितत्वात् अत्र तु तद्विपर्ययात् अनन्तधर्मात्मकस्य धर्मिणः प्रतिपाद्यानुरोधेन तथाभूतधर्मैकान्तत्वेन वक्तुमिष्टत्वात् तद् द्रव्यमस्ति च अवक्तव्यं च भवति तद्धर्मविकल्पनवशात् धर्मयोस्तथापरिणतयोस्तथाव्यपदेशे धर्म्यपि तद्द्वारेण तथैव व्यपदिश्यते ॥ ३८ ॥

[षष्ठभङ्गप्रदर्शनम्]

५

षष्ठभङ्गकं दर्शयितुमाह—

आइट्ठोऽसब्भावे देसो देसो य उभयहा जस्स ।
तं णत्थि अवत्तव्वं च होइ दवियं वियप्पवसा ॥ ३९ ॥

यस्य वस्तुनो देशोऽसत्त्वे निश्चितः 'असन्नेवायम्' इत्यवक्तव्यानुविद्धः अपरश्चासदनुविद्ध उभयथा 'सन्नसंश्च' इत्येवं युगपन्निश्चितस्तदा तद् द्रव्यं नास्ति च अवक्तव्यं च भवति १० विकल्पवशात् तद्यपदेश्यावयववशात् द्रव्यमपि तद्व्यपदेशमासादयति । केवलद्वितीयतृतीयभङ्गकव्युदासेन षष्ठभङ्गः प्रदर्शितः ॥ ३९ ॥

[सप्तमभङ्गप्रकाशनम्]

सप्तमप्रदर्शनायाह—

सब्भावाऽसब्भावे देसो देसो य उभयहा जस्स । १५
तं अत्थि णत्थि अवत्तव्वयं च दवियं वियप्पवसा ॥ ४० ॥

यस्य देशिनो देशोऽवयवः देशो धर्मो वा सद्भाव नियतो निश्चितः अपरस्तु असद्भावे असत्त्वे तृतीयस्तु उभयथा इत्येवं देशानां सदसदवक्तव्यव्यपदेशात् तद् अपि द्रव्यमस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च भवति विकल्पवशात् तथाभूतविशेषणाध्यासितस्य द्रव्यस्यानेन प्रतिपादनादपरभङ्गव्युदासः । एते च परस्पररूपापेक्षया सप्तभङ्ग्यात्मकाः प्रत्येकं स्वार्थं प्रतिपादयन्ति २० नान्यथेति प्रत्येकं तत्समुदायो वा सप्तभङ्गात्मकः प्रतिपाद्यमपि तथाभूतं दर्शयतीति व्यवस्थितम् ।

अत्र चाद्यभङ्गकस्त्रिधा, द्वितीयोऽपि त्रिधैव, तृतीयो दशधा, चतुर्थोऽपि दशधैव, पञ्चमादयस्तु त्रिंशदधिकशतपरिमाणाः प्रत्येकं श्रीमन्मल्लवाद्यादिप्रभृतिभिर्दर्शिताः । पुनश्च षड्विंशत्यधिकचतुर्दशशतपरिमाणास्त एव च द्व्यादिसंयोगकल्पनया कोटीशो भवन्तीत्यभिहितं तैरेव । अत्र तु ग्रन्थविस्तरभयात् तथा न प्रदर्शितास्तत एवावधार्याः । २५

अथानन्तधर्मात्मके वस्तुनि तत्प्रतिपादकवचनस्य सप्तधा कल्पने अष्टमवचनविकल्पपरिकल्पनमपि किं न क्रियत इति न वक्तव्यम् तत्परिकल्पननिमित्ताभावात् । तथाहि–न तावत् सावयवात्मकमन्योन्यनिमित्तकं तत् परिकल्पयितुं युक्तम् चतुर्थादिवचनविकल्पेषु तस्यान्तर्भावप्रसक्तेः । नापि निरवयवात्मकमन्योन्यनिमित्तकं तत् परिकल्पनामर्हति प्रथमादिष्वन्तर्भावप्रसक्तेः । न च गत्यन्तरमस्तीति नाष्टमभङ्गपरिकल्पना युक्ता । किञ्च, असौ क्रमेण वा तद्धर्मद्वयं प्रतिपादयेत्, ३० यौगपद्येन वा? प्रथमपक्षे गुणप्रधानभावेन तत्प्रतिपादने प्रथमद्वितीययोरन्तर्भावः प्रधानभावेन तत्प्रतिपादने चतुर्थे । यौगपद्येन तत्प्रतिपादने तृतीये, भङ्गकसंयोगकल्पनया भङ्गान्तरकल्पनायां प्रथमद्वितीयभङ्गकसंयोगे चतुर्थभङ्गक एव प्रसज्यते, प्रथमतृतीयसंयोगात् पञ्चमप्रसक्तिः, द्वितीयतृतीयसंयोगात् षष्ठप्रसक्तिः, प्रथमद्वितीयतृतीयसंयोगात् सप्तमः, प्रथमचतुर्थादिसंयोगकल्पनायां पुनरुक्तदोषः । तस्मान्न कथञ्चिदष्टमभङ्गसम्भव इत्युक्तन्यायात् वस्तुप्रतिपादने सप्तविध एव ३५ वचनमार्गः ॥ ४० ॥

---

१ "धर्म" द्वारेण–बृ० ल० टि० । २ "न हि अपरधर्म–इत्यादिभावना अत्रापि कार्या–" बृ० ल० टि० । सा ४४६ पं० ३१ । ३–मभङ्गम–आ० । ४ "प्रथम–द्वितीय–तृतीय"भङ्गव्युदास –बृ० ल० टि० । . सप्तभङ्गा–वा० बा० । ६–कमपरं निमित्तं तत् परि–बृ० त० वा० बा० ।

[सप्तानां भङ्गानामर्थनये शब्दनये च यथासंभवं विभजनम्]

अन्योन्यापरित्यागव्यवस्थितस्वरूपवाक्यनयानां शुद्ध्यशुद्धिविभागेन संग्रहादिव्यपदेशमासादयतां द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयावेव मूलाधार इति प्रदर्शनार्थमाह—

एवं सत्तवियप्पो वयणपहो होइ अत्थपज्जाए।
५ वंजणपज्जाए उण सवियप्पो णिव्वियप्पो य ॥ ४१ ॥

एवं इत्यनन्तरोक्तप्रकारेण **सप्तविकल्पः** सप्तभेदः वचनमार्गो **वचनपथः भवत्यर्थपर्याये** अर्थनये संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्रलक्षणे सप्ताप्यनन्तरोक्ता भङ्गका भवन्ति। तत्र प्रथमः संग्रहे *सामान्यग्राहिणि, 'नास्ति' इत्ययं तु व्यवहारे विशेषग्राहिणि*, ऋजुसूत्रे तृतीयः, चतुर्थः संग्रह-व्यवहारयोः, पञ्चमः संग्रह-ऋजुसूत्रयोः, षष्ठो व्यवहार-ऋजुसूत्रयोः, सप्तमः संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्रेषु। १० **व्यञ्जनपर्याये** शब्दनये **सविकल्पः** प्रथमे पर्यायशब्दवाच्यताविकल्पसद्भावेऽप्यर्थस्यैकत्वात्। द्वितीय तृतीययो**र्निर्विकल्पः** द्रव्यार्थात् सामान्यलक्षणान्निर्गतपर्यायाभिधायकत्वात् समभिरूढस्य पर्यायभेदभिन्नार्थत्वात् एवंभूतस्यापि विवक्षितक्रियाकालार्थत्वात् लिङ्ग-संख्या-क्रियाभेदेन भिन्नस्यैकशब्दावाच्यत्वात्। शब्दादिषु तृतीयः, प्रथम-द्वितीयसंयोगे चतुर्थः तेष्वेव चानभिधेयसंयोगे पञ्चम-षष्ठ-सप्तमा वचनमार्गा भवन्ति।

१५ अथवा प्रदर्शितस्वरूपा सप्तभङ्गी संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्रेष्वेवार्थनयेषु भवतीत्याह-**एवं सत्तवियप्पो** इत्यादिगाथाम्। अस्यास्तात्पर्यार्थः—

अर्थनय एव सप्त भङ्गाः शब्दादिषु तु त्रिषु नयेषु प्रथम-द्वितीयावेव भङ्गौ। यो ह्यर्थमाश्रित्य वक्तृस्थः संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्राख्यः प्रत्ययः प्रादुर्भवति सोऽर्थनयः अर्थवशेन तदुत्पत्तेः अर्थं प्रधानतयासौ व्यवस्थापयतीति कृत्वा, शब्दं तु स्वप्रभवमुपसर्जनतया व्यवस्थापयति तत्प्रयोगस्य २० परार्थत्वात्। यस्तु श्रोतरि तच्छब्दश्रवणादुद्गच्छति शब्द-समभिरूढ-एवंभूताख्यः प्रत्ययस्तस्य शब्दः प्रधानम् तद्वशेन तदुत्पत्तेः *अर्थस्तूपसर्जनम्* तदुत्पत्तावनिमित्तत्वात् स शब्दनय उच्यते। तत्र च वचनमार्गः सविकल्प-निर्विकल्पतया द्विविधः—सविकल्पं सामान्यम् निर्विकल्पः पर्यायः तदभिधानाद् वचनमपि तथा व्यपदिश्यते। तत्र शब्द-समभिरूढौ संज्ञा-क्रियाभेदेऽप्यभिन्नमर्थं प्रतिपादयत इति तदभिप्रायेण सविकल्पो वचनमार्गः प्रथमभङ्गकरूपः। एवंभूतस्तु क्रियाभेदाद् २५ भिन्नमेवार्थं तत्क्षणे प्रतिपादयतीति निर्विकल्पो द्वितीयभङ्गकरूपस्तद्वचनमार्गः। अवक्तव्यभङ्गकस्तु व्यञ्जननये न सम्भवत्येव यतः श्रोत्रभिप्रायो व्यञ्जननयः स च शब्दश्रवणादर्थं प्रतिपद्यते न शब्दाश्रवणात् अवक्तव्यं तु शब्दाभावविषय इति नावक्तव्यभङ्गकः व्यञ्जनपर्याये सम्भवतीत्यभिप्रायवता व्यञ्जनपर्याये तु सविकल्प-निर्विकल्पौ प्रथमद्वितीयावेव भङ्गावभिहितावाचार्येण 'तु'शब्दस्य गाथायामेवकारार्थत्वात्॥ ४१॥

---

३० [केवलपर्यायार्थिकनयस्य मतमुपदर्श्य तस्यापूर्णत्वाभिधानम्]

इदानीं परस्परूपापरित्यागप्रवृत्तसंग्रहादिनयप्रादुर्भूततथाविधा एव वाक्यनयास्तथाविधार्थप्रतिपादका इत्येतत् प्रतिपाद्य अन्यथाभ्युपगमे तेषामप्यध्यक्षविरोधतोऽभाव एवेत्येतदुपदर्शनाय केवलानां तेषां तावन्मतमुपन्यस्यति—

---

[1] "अस्तित्वनिषेधेन द्वितीयभङ्गस्य 'नास्ति'इत्यस्य प्रवृत्ते"–बृ० ल० टि०। [2] त श-बृ०। [3] तदुप- ०° वा० भा० विना। तदुप तदुपपत्ते-मां०।

जह दवियमप्पियं तं तहेव अत्थि त्ति पज्जवणयस्स ।
ण य स समयपन्नवणा पज्जवणयमेत्तपडिपुण्णा ॥ ४२ ॥

यथा वर्त्तमानकालसम्बन्धितया यद् द्रव्यमर्पितं प्रतिपादयितुमभीष्टं तत् तथैवास्ति नान्यथा अनुत्पन्न-विनष्टतया भावि-भूतयोरविद्यमानत्वेनाप्रतिपत्तेः अप्रतीयमानयोश्च प्रतिपादयितुमशक्तेरतिप्रसङ्गाद् वर्त्तमानसम्बन्धिन एव तस्य प्रतीतेः इति पर्यायार्थिकनयवाक्यस्याभिप्रायः। एतद् अनेकान्तवादी दूषयितुमाह-न इति प्रतिषेधे, स इति तथाविधो वाक्यनयः परामृश्यते समय इति सम्यग् ईयते परिच्छिद्यत इति समयोऽर्थस्तस्य प्रज्ञापना प्ररूपणा पर्यायनयमात्रे द्रव्यनयनिरपेक्षे पर्यायनये प्रतिपूर्णा पुष्कला सम्पद्यते। न स वाक्यनयः सम्यगर्थप्रत्यायनां पूरयतीति यावत् पर्यायनयस्य सावधारणैकान्तप्रतिपादनरूपस्याध्यक्षबाधनात् तद्बाधां चाग्रतः प्रतिपादयिष्यति ॥ ४२ ॥ १०

[केवलद्रव्यार्थिकनयमतस्य प्रदर्शनम्]

द्रव्यार्थिकवाक्यनयेऽप्ययमेव न्याय इति तदभिप्रायं तावदाह—

पडिपुण्णजोव्वणगुणो जह लज्जइ बालभावचरिएण ।
कुणइ य गुणपणिहाणं अणागयसुहोवहाणत्थं ॥ ४३ ॥

प्राप्तयौवनगुणः पुरुषो लज्जते बालभावसंवृत्तात्मीयानुष्ठानस्मरणात् 'पूर्वमहमप्यस्पृश्यसंस्पर्शादिव्यवहारमनुष्ठितवान्' यथा इत्युदाहरणार्थो गाथायामुपन्यस्तः यथैव ततोऽतीत-वर्त्तमानयोरेकत्वमवसीयते। करोति च गुणेषु उत्साहादिषु प्रणिधानमैकाग्र्यम् अनागतं यत् सुखं तस्योपधानं प्राप्तिस्तस्यै तदर्थम् 'मयैतस्मात् सुखसाधनात् सुखमासव्यम्' इति। यतश्चैवमतोऽनागत-वर्त्तमानयोरैक्यम् ॥ ४३ ॥ १५

[केवलद्रव्यार्थिकनयमतस्याप्यपूर्णत्वमिति प्रदर्शनेन वस्तुनो भेदाभेदरूपत्वसूचनम्] २०

अत्रापि मते यथावस्थितवस्तुस्वरूपप्ररूपणा न प्रतिपूर्यत इति सूत्रान्तरेण दर्शयति—

१-यमेत्तिप-बृ० वा० बा०।-यमित्तिप-ल० मां० भा०। २ वर्तमानं का-मां०। ३-कालंसम्ब-बृ० भां० मा० आ० हा० वि०। ४ साधारणै-बृ० ल०।

५ "तदिदं लोकानुभवतोऽपि साधयन्नाह-

लज्जते बाल्यचरितैर्बाल एव न चापि यत्। युवा न लज्जते चान्यस्वैरायत्वैव चेष्टते" ॥ २९ ॥

"लज्जते बाल्यचरितैः चौर्याऽसस्पृश्यस्पर्शक्रीडादिभिः अतो बाल एव युवा 'अहमेव पूर्वं चौर्यादि अनुष्ठितवान्' इति लज्जानिबन्धनाऽभेदप्रत्यभिज्ञानाद् बाल-यूनोरभेदसिद्धेः। न चापि एकान्तः बाल एव यद् यस्माद् युवा, एवं हि 'अयमिदानीं युवा न बाल.' इति भेदप्रतिभासो नानुरुद्ध. स्यात्। न च बालस्वभावापरित्यागे युवस्वभावपरिग्रहोऽपि स्यात् उत्तरस्वभावे पूर्वस्वभावपरित्यागस्य हेतुत्वात्। न च तत्काले यूनि बालसामान्यभेद एव 'इदानीं युवा न बालः' इतिप्रतीतेरिति वाच्यम्, यतो न चान्यः भिन्नसंतानान्तरयुवा तैः बाल्यचरितैः लज्जते अतस्तत्र न तत्संतानीयबालभेद एव। तदेवमतीत-वर्तमानयोर्भेदाभेदो भावितः। एवमनागत-वर्तमानयोरपि, यत आयत्यैव वार्धके सुखहेतुधनार्थमेव चेष्टते। अतो युव-वृद्धयोरभेदः। नहि अन्योऽन्यार्थं चेष्टत इति" ॥ २९ ॥ शास्त्रवा० समु० स्त० ७, स्याद्वादक० पृ० २५७ द्वि०। ६ गुणेष्वुत्सा-वा० बा०। गुणेषु उत्सा-ल०। गुणेषु तु उत्सा-भां० मां०।

ण य होइ जोव्वणत्थो बालो अण्णो वि लज्जइ ण तेण ।
ण वि य अणागयवयगुणपसाहणं जुज्जइ विभत्ते ॥ ४४ ॥

न च भवति यौवनस्थः पुरुषो बालः अपि त्वन्य एव अन्योऽपि न लज्जते बालचरितेन पुरुषान्तरवत् [2]तेनानन्यः। नाप्यनागतवृद्धावस्थायां गुणप्रसाधनार्थमुत्साहस्तस्य ५युज्यते [3]अत्यन्तभेदे। एतदेवाह—विभक्त इति विभक्तिर्भेदः। अकारप्रश्लेषाद् अविभक्ते भेदाभावेऽविचलितस्वरूपतया तत्प्रसाधकगुणयत्नासम्भवात्। तस्मान्नाऽभेदमात्रं तत्त्वम् कथञ्चिद्भेदव्यवहृतिप्रतिभासबाधितत्वात्। नापि भेदमात्रम् एकत्वव्यवहारप्रतिपत्तिनिराकृतत्वादिति भेदाभेदात्मकं तत्त्वमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः ॥ ४४ ॥

[पुरुषदृष्टान्ते भेदाभेदात्मकत्वपरिणतिर्बाह्यप्रत्यक्षेण सिद्धेति प्रदर्शनम्]

१० एवमभेदभेदात्मकस्य पुरुषतत्त्वस्य यथा अतीतानागतदोषगुणनिन्दाभ्युपगमाभ्यां सम्बन्धः तथैव भेदाभेदात्मकस्य तस्य सम्बन्धादिभिर्योग इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपसंहारार्थमाह—

जाइ-कुल-रूव-लक्खण-सण्णा-संबंधओ अहिगयस्स ।
बालाइभावदिट्ठविगयस्स जह तस्स संबंधो ॥ ४५ ॥

जातिः पुरुषत्वादिका, कुलं प्रतिनियतपुरुषजन्यत्वम्, रूपं चक्षुर्ग्राह्यत्वलक्षणम्, लक्षणं १५तिलकादि सुखादिसूचकम्, संज्ञा प्रतिनियतशब्दाभिधेयत्वम्, एभिर्यः सम्बन्धस्तदात्मपरिणामः ततस्तमाश्रित्य अधिगतस्य ज्ञानस्य(ज्ञातस्य) तदात्मकत्वेनाभिन्नावभासविषयस्य यद्वा सम्बन्धो जन्यजनकभावः एभिर्[5]रधिगतस्य तत्स्वभावस्यैकात्मकस्येति यावत् बालादिभावैर्दृष्टैर्विगतस्य तैरुत्पादविगमात्मकस्य तथाभेदप्रतीतेस्तस्य यथा तस्य सम्बन्धो भेदाभेदपरिणतिरूपो भेदाभेदात्मकत्वप्रतिपत्तेर्बाह्याध्यक्षतः ॥ ४५ ॥

---

२० [आध्यात्मिकप्रत्यक्षतोऽपि तत्र दृष्टान्ते यथा भेदाभेदात्मकत्वसिद्धिस्तथा दार्ष्टान्तिके जीवेऽपि तद्योजनम्]

आध्यात्मिकाध्यक्षतोऽपि तथाप्रतीतेस्तथारूपं तद् वस्त्विति प्रतिपादयन्नाह दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपसंहारद्वारेण—

तेहिं अतीताणागयदोसगुणदुगुंछणऽब्भुवगमेहिं ।
२५ तह बंध-मोक्ख-सुह-दुक्खपत्थणा होइ जीवस्स ॥ ४६ ॥

ताभ्यामतीतानागतदोष-गुणजुगुप्सा-ऽभ्युपगमाभ्यां यथा भेदाभेदात्मकस्य पुरुषत्वस्य सिद्धिः तथा दार्ष्टान्तिकेऽपि तह बंध-मोक्ख-सुह-दुक्खपत्थणा होइ जीवस्स

---

१ "न चाप्यभेद एव इत्याह—
'युवैव न च वृद्धोऽपि नान्यार्थं चेष्टनं च तत्। अन्वयादिमयं वस्तु तदभावोऽन्यथा भवेत्'' ॥३०॥
"न च युवैव वृद्धोऽपि सर्वथा वृद्धपर्यायापन्न एव 'इदानीमयं युवा न वृद्ध' इतिप्रतीतेः । न च तत्काले तत्र यूनि तादैतानीयवृद्धभेद एव यत 'अन्यार्थं सतानान्तरवृद्धवत् न च चेष्टनं कायव्यापाररूपम्। तत् तस्मात् वस्तु अन्वयादिमयम् आदिना व्यतिरेकग्रहाद् अन्वय–व्यतिरेकशबलम् अन्यथा तदभावः अधिकृतवस्तुभावो भवेत् सर्वथा असतसद्भावविरोधात्" ॥३०॥ शास्त्रवा० समु० स्तब० ७, स्याद्वादक० पृ० २५८ प्र० । २ तेनान्यः पृ० ल० भा० मां० विना । ३ अत्यन्तभेदे–आ० हा० वि० विना । ४ हिययस्स पृ० । ५–ज्ञातत्वलक्षणं तिल–वा० बा० ।–ज्ञातत्वं लक्षणं — भा० । ६–रभिगतस्य लक्षणं तत्स्व–पृ० ।–रवि तस्य लक्षणं तत्स्व–वा० बा० ।

इति तथा बन्ध मोक्ष-सुख दुःखप्रार्थना तत्साधनोपादानपरित्यागद्वारेण भेदाभेदात्मकस्यैव जीवद्रव्यस्य भवति बालाद्यात्मकपुरुषद्रव्यवत्। न च जीवस्य पूर्वोत्तरभवानुभवितुरभावाद् बन्ध-मोक्षभावाभावः उत्पाद व्यय-ध्रौव्यात्मकस्य तस्यानाद्यनन्तस्य प्रसाधितत्वात्।

[उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मकतया जीवतत्त्वस्य साधनम्]

तथाहि-मरणचित्तं भाव्युत्पादस्थित्यात्मकम् मरणचित्तत्वात् जीवदवस्थाविनाशचित्तवत्^५ तथा जन्मादौ चित्तप्रादुर्भावोऽतीतचित्तस्थितिविनाशात्मकः चित्तप्रादुर्भावत्वात्, मध्यावस्थाचित्तप्रादुर्भाववत् अन्यथा तस्याप्यभावप्रसक्तिः, न चास्याभावः हर्षविषादाद्यनेकविवर्त्तात्मकस्यानन्यवेद्यस्यान्तर्मुखाकारतया स्वसंवेदनाध्यक्षतः शरीरवैलक्षण्येनानुभूतेः। न च तथाप्रतीयमानस्याप्यभावः शरीरादेरपि बहिर्मुखाकारतया प्रतीयमानस्याभावप्रसक्तेः। न च नित्यैकान्तरूपे आत्मनि जन्म-मरणे अपि संभवतः कुतो बन्धमोक्षप्रसक्तिः? न च नित्यस्याप्यात्मनोऽ-१० भिनवबुद्धिशरीरेन्द्रियैर्योगो जन्म तद्वियोगो मरणमिति कल्पना सङ्गता अस्याः पूर्वं निषिद्धत्वात्। न चैकान्तोत्पाद-विनाशात्मके चित्ते इहलोक-परलोकव्यवस्था बन्धादिव्यवस्था वा युक्ता यत ऐहिककायत्यागेनाऽऽमुष्मिकतदुपादानमेकस्य परलोकः पूर्वग्रामपरित्यागायाततदन्तरैकपुरुषवत्। न च दृष्टान्तेऽप्येकत्वमसिद्धम् उभयावस्थयोस्तस्यैकत्वेन प्रतिपत्तेः। न चेयं मिथ्या बाधकाभावात् विरुद्धधर्मसंसर्गादेर्बाधकस्याध्यक्षबाधादिना निरस्तत्वात्। न च पूर्वावस्थात्याग एकस्योत्तरावस्थोपादा-१५ नमन्तरेण दृष्टः पृथुबुध्नोदराद्याकारविनाशवत् मृद्द्रव्यस्य कपालोपादानमन्तरेण तस्यादर्शनात्। न च कपालोत्पादमन्तरेण घटविनाश एव न सिद्धः घट-कपालव्यतिरेकेणापरस्य नाशस्याप्रतीतेरिति वक्तव्यम् कपालोत्पादस्यैव कथञ्चिद् घटविनाशात्मकतया प्रतिपत्तेः अत एव सहेतुकत्वं विनाशस्य कपालोत्पादस्य सहेतुकत्वात्। न च कपालानां भावरूपतैव केवला घटानिवृत्तौ तद्विविक्ततायास्तेष्वभावप्रसक्तेः। न चैकस्योभयत्र व्यापारविरोधः दृष्टत्वात्। न च घटनिवृत्ति-कपालयोरेका-२० न्तेन भेदः कथञ्चिदेकत्वप्रतीतेः। न च मुद्गरादेर्नाशं प्रत्यव्यापारे क्वचिदप्युपयोगः कपालेषु न तदुपयोगः अन्त्यावस्थायामपि घटक्षणान्तरोत्पत्तिप्रसक्तेः। तस्य तदुत्पादनसामर्थ्याविनाशात् तस्य स्वरसतो विनाशात् तदव्यतिरिक्तसामर्थ्यस्यापि विनाशः, न; पूर्वं तद्विनाशेऽपि तस्याविनाशात् विरोधिमुद्गरसन्निधानात् समानजातीयक्षणान्तरं न जनयतीति चेत्, न; 'घटविरोधी न च तं विनाशयति' इति व्याहतत्वात्। न च तद्धेत्वभावात् सामर्थ्याभावः तथाविधकार्यजननसमर्थहेतोर्भावात्२५ अन्यथा प्रागपि तथाविधफलोत्पत्तिर्न भवेत्। न च स्वहेतुनिर्वर्त्तित एव दण्डादिसन्निधौ सामर्थ्याभावः दण्डादिसन्निधिमपेक्षमाणस्य तस्य तद्धेतुत्वोपपत्तेः अन्यत्रापि तद्भावस्य तन्मात्रनिबन्धनत्वात्। न च तद्व्यापारानन्तरं तदुपलम्भात् तस्य तत्कार्यत्वे मृद्द्रव्यस्यापि तत्कार्यताप्रसक्तिः तस्य सर्वदोपलम्भात्, सर्वदा तस्यानभ्युपगमे उत्पाद-विनाशयोरभावप्रसक्तिश्चेति प्रतिपादितावाध। तस्यैव सद्रूपतया परिणतौ कथञ्चिदुत्पादस्यापीष्टत्वात्। यदा च पूर्वोत्तराकारपरित्यागोपादानतयैकं मृदा-३० दिवस्त्वध्यक्षतोऽनुभूयते तदा तत् तदपेक्षया कारणम् कार्यम् विनष्टम् अविनष्टं च उत्पन्नम् अनुत्पन्नं च एककालम् अनेककालं च भिन्नम् अभिन्नं चेति कथं नाभ्युपगमविषयः?

न चात्र विरोधः मृद्व्यतिरिक्ततया घट-कपालयोरुत्पन्नविनष्टस्थितिस्वभावतया प्रतीतेः। न च प्रतीयमाने वस्तुस्वरूपे विरोधः अन्यथा ग्राह्यग्राहकाकाराभ्यामेकत्वेन स्वसंवेदनाध्यक्षतः प्रतीयमानस्य संवेदनस्य विरोधप्रसक्तेः। न च संशयदोषप्रसक्तिरपि उत्पत्ति-स्थिति-निरोधानां ३५ निश्चितरूपतया वस्तुन्यवगमात्। न च 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति प्रतिपत्ताविव प्रकृतनिश्चये

१-त्मपु-भां०। २ पृ० ७८ पं० २४। ३ भावाव्यु-ल० विना। ४-दभ्युप-पू० ल० बा० बा०। -दप्यभ्यु-आ०। ५-नाशोऽपि पू० ल० विना। ६-धानान्न स-पू०।-धानान्न स-बा० बा०।

७ एकान्तवादिना अनेकान्तवादे समुद्भावितानां विरोधादीनामष्टानां दोषाणां परिहारोऽन्यत्र-प्रमेयक० पृ० १५८ प्र०। स्याद्वादमञ्ज० श्लो० २४ पृ० १९७ आ०। सप्तभङ्गीत० पृ० ८१।

८-सक्तिरिति उत्प-बा० बा०। ९-न्यधिग-पू०।-न्यविग-बा० बा०।

"सामान्यप्रत्यक्षात् विशेषाप्रत्यक्षात् विशेषस्मृतेश्च संशयः" [वैशेषिकद० २, २, १७] इति निमित्तमस्ति। न च व्यधिकरणतादोषासक्तिरपि घटकपालविनाशोत्पादयोर्मृद्द्रव्याधिकरणतया प्रतिपत्तेः। न चोभयदोषानुषङ्गः त्र्यात्मकस्य वस्तुनो जात्यन्तरत्वात्। सङ्करदोषप्रसक्तिरपि नास्ति अनुगतव्यावृत्तयोस्तदात्मके वस्तुनि स्वस्वरूपेणैव प्रतिभासनात्। अनवस्थादोषोऽपि न सम्भवी
५ मिथोत्पाद-व्यय-ध्रौव्यव्यतिरेकेण तदात्मकस्य वस्तुनोऽध्यक्षे प्रतिभासनात् स्वयमतदात्मकस्यापरयोगेऽपि तदात्मकतानुपपत्तेरन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। तथाप्रतिभासादेव अभावदोषोऽपि न सम्भवी अबाधितप्रतिभासस्य तदभावे अभावात् भावे वा न ततो वस्तुव्यवस्थितिरिति सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः। न च त्र्यात्मकत्वमन्तरेण घटस्य कपालदर्शनाद् विनाशानुमानं सम्भवति तत्र तेषां प्रतिबन्धानवधारणात् नहि तद्विनाशनिमित्तानि तानि मुद्गरादिहेतुत्वात् अभावस्य कारण-
१० त्वाभावाच्च। यद्यपि घटहेतुकानि तानि तथापि घटसद्भावमेव गमयेयुर्न तदभावम् नहि धूमः पावकहेतुकस्तदभावगमक उपलब्धः। न चाभिन्ननिमित्तजन्यता तयोः प्रतिबन्धः अभावस्याकार्यत्वाभ्युपगमात्। नापि तादात्म्यलक्षणः तयोस्तादात्म्यायोगात्। न च घटस्वरूपव्यावृत्तत्वात् तेषां तदभावप्रतिपत्तिजनकत्वम् सकलत्रैलोक्याभावप्रतिपत्तिजनकत्वप्रसक्तेः तेषां ततोऽपि व्यावृत्तस्वरूपत्वात्। न च घटविनाशरूपत्वात् तेषां नायं दोषः तेषां वस्तुरूपत्वात् विनाशस्य च निःस्व-
१५ भावत्वात् तथा च तादात्म्यविरोधः अन्यथा घटानुपलम्भवत् तेषामपि तदाऽनुपलब्धिर्भवेत् तस्मात् प्रागभावात्मकः सन् घटः प्रध्वंसाभावात्मकतां प्रतिपद्यत इत्यभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तिः। सत्त्वलक्षणस्यापि हेतोर्गमकत्वमनेनैव प्रकारेण सम्भवति अन्यथा उत्पत्त्यभावात् स्थित्यभावः तदभावे विनाशस्याप्यभावः असतो विनाशायोगादिति त्र्यात्मकमेकं वस्त्वभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा तदनुपपत्तेरिति प्राक् प्रदर्शितत्वान्न पुनरुच्यते। यथा चात्मनः परलोकगा-
२० मित्वम् शरीरमात्रव्यापकत्वं च तथा प्रतिपादितमेव। ननु शरीरमात्रव्यापित्वे तस्य गमनाभावाद् देशान्तरे तद्गुणोपलब्धिर्न भवेत्, न; तदधिष्ठितशरीरस्य गमनाविरोधात् पुरुषाधिष्ठितदारुयन्त्रवत्। न च मूर्त्तामूर्त्तयोर्घटाकाशयोरिव प्रतिबन्धाभावात् मूर्त्तशरीरगमनेऽपि नामूर्त्तस्यात्मनो गमनमिति वक्तव्यम्, संसारिणस्तस्यैकान्तेनामूर्त्तत्वासिद्धेस्तत्प्रतिबद्धत्वाभावासिद्धेः ॥ ४६ ॥

[जल-दुग्धदृष्टान्तेन जीव-कर्मणोरविभागकथनम्]

२५ एतदेवाह—

अण्णोण्णाणुगयाणं 'इमं व तं व' त्ति विभयणमजुत्तं।
जह दुद्ध-पाणियाणं जावंत विसेसपज्जाया ॥ ४७ ॥

अन्योन्यानुगतयोः परस्परानुप्रविष्टयोः आत्म-कर्मणोः **'इदं वा तद् वा' इति** 'इदं कर्म अयमात्मा' इति यद् **विभजनं** पृथक्करणं तद् **अयुक्तम्** अघटमानकम् प्रमाणाभावेन
३० कर्त्तुमशक्यत्वात्। **यथा दुग्ध-पानीययोः** परस्परप्रदेशानुप्रविष्टयोः। किंपरिमाणोऽयमविभागो जीवकर्मप्रदेशयोः? इत्याह—**यावन्तो विशेषपर्यायास्तावान्**। अतः परमवस्तुत्वप्रसक्तेः अन्त्यविशेषपर्यन्तत्वात् सर्वविशेषाणाम् 'अन्त्य' इति विशेषणान्यथानुपपत्तेः ॥ ४७ ॥

---

१ "समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः"—१, १, २३ न्यायद० पृ० ४५।

२-दोषप्रसक्ति-वा० बा० भां० मां०। ३ यथा चात्म-आ० विना। ४ पृ० ७२ पं० ३ तथा पृ० ११४ ३१। ५-स्तावन्तः पर-भां० मां०।

[जीव-कर्मणोरन्योन्यानुप्रवेशेन तदाश्रितज्ञानादि-रूपादीनामपि परस्परानुप्रवेशवर्णनम्]

जीव-कर्मणोरन्योन्यानुप्रवेशे तदाश्रितानामन्योन्यानुप्रवेश इत्याह—

रूआइपज्जवा जे देहे जीवदवियम्मि सुद्धम्मि ।
ते अण्णोण्णाणुगया पण्णवणिज्जा भवत्थम्मि ॥ ४८ ॥

रूप-रस गन्ध स्पर्शादयो ये पर्याया देहाश्रिता जीवद्रव्ये विशुद्धस्वरूपे च ये ज्ञाना- ५
दयस्तेऽन्योन्यानुगता जीवे रूपादयो देहे ज्ञानादय इति प्ररूपणीया भवस्थे संसारिणि अकार-
प्रश्लेषाद् वा असंसारिणि । न च संसारावस्थायां देहात्मनोरन्योन्यानुबन्धात् रूपादिभिस्तद्व्यपदेशः
मुक्त्यवस्थायां तु तदभावात् नासौ युक्त इति वक्तव्यम्, तदवस्थायामपि देहाद्याश्रितरूपादिग्रहण-
परिणतज्ञान-दर्शनपर्यायद्वारेणात्मनस्तथाविधत्वात् तथाव्यपदेशसम्भवात् आत्मपुद्गलयोश्च रूपादि-
-ज्ञानादीनामन्योन्यानुप्रवेशात् कथञ्चिद् एकत्वम् अनेकत्वं च, मूर्त्तत्वम् अमूर्त्तत्वं चाव्यतिरेकात् १०
सिद्धमिति ॥ ४८ ॥

[परस्परानुप्रवेशादात्म-पुद्गलयोः कथंचिदेकत्वस्यानेकत्वस्य चोपपादनम्]

एतदेवाह—

एवं "एगे आया एगे दंडे य होइ किरिया य" ।
करणविसेसेण य तिविहजोगसिद्धी वि अविरुद्धा ॥ ४९ ॥ १५

एवं इत्यनन्तरोदितप्रकारेण मनो-वाक्-कायद्रव्याणामात्मन्यनुप्रवेशात् आत्मैव न तद्व्यति-
रिक्तास्त इति तृतीयाङ्गैकस्थाने "एगे आया" [स्थाना० सू० २ पृ० १०] इति प्रथमसूत्रप्रतिपा-
दितः सिद्धः एक आत्मा एको दण्ड एका क्रियेति भवति मनो-वाक्-कायेषु दण्ड-क्रिया-
शब्दौ प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयौ करणविशेषेण च मनो-वाक्-कायस्वरूपेणात्मन्यनुप्रवेशाबाप्तत्रि-
विधयोगस्वरूपत्वात् त्रिविधयोगसिद्धिरपि आत्मनः अविरुद्धैवेति एकस्य सतस्तस्य त्रिवि- २०
धयोगात्मकत्वात् अनेकान्तरूपता व्यवस्थितैव । न चान्योन्यानुप्रवेशात् एकात्मकत्वे बाह्याभ्यन्तर-
विभागाभाव इति अन्तर्हर्षविषादाद्यनेकविवर्त्तात्मकमेकं चैतन्यम् बहिर्बाल-कुमार-यौवनाद्यनेका-
वस्थैकात्मकमेकं शरीरमध्यक्षतः संवेद्यत इत्यस्य विरोधः बाह्याभ्यन्तरविभागाभावेऽपि निमित्ता-
न्तरतः तद्व्यपदेशसम्भवात् ॥ ४९ ॥

[आत्म-पुद्गलयोर्वस्तुतो बाह्याभ्यन्तरविभागाभावेऽप्यभ्यन्तरव्यपदेशस्य मनोनिमित्तकत्वेन समर्थनम्] २५

एतदेवाह—

ण य बाहिरओ भावो अब्भंतरओ य अत्थि समयम्मि ।
णोइंदियं पुण पडुच होइ अब्भंतरविसेसो ॥ ५० ॥

आत्म-पुद्गलयोरन्योन्यानुप्रवेशात् उक्तप्रकारेण अर्हत्प्रणीतशासने न बाह्यो भावः अ- ३०
भ्यन्तरो वा संभवति मूर्त्तामूर्त्तरूपादितयाऽनेकान्तात्मकत्वात् संसारोदरवर्त्तिनः सकल-
वस्तुनः । 'अभ्यन्तर' इति व्यपदेशस्तु नोइन्द्रियं मनः प्रतीत्य तस्यात्मपरिणतिरूपस्य परा-
प्रत्यक्षत्वात् शरीर-वाचोरिव । न च शरीरात्मावयवयोः परस्परानुप्रवेशात् शरीरादभेदे आत्म-

---

१-स्थायां तद्-मो० आ० । २ "एगे आया । एगे दंडे । एगा किरिया"-स्थाना० सू० २-३-४ पृ० १० तथा १३ ।

नोऽपि तद्वत् परप्रत्यक्षताप्रसक्तिः इन्द्रियज्ञानस्यादोषपदार्थस्वरूपग्राहकत्वायोगादित्यस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् अतः 'शरीरप्रतिबद्धत्वमात्मनो न भवति अमूर्त्तत्वात्' अत्र प्रयोगे हेतुरसिद्धः। यदि चात्मपरिणतिरूपमनसः शरीरादात्यन्तिको भेदः स्यात् तद्विकाराऽविकाराभ्यां शरीरस्य तत्त्वं न स्यात् तदुपकारापकाराभ्यां वा आत्मनः सुख-दुःखानुभवश्च न भवेत् शरीरविघातकृतश्च ५ हिंसकत्वमनुपपन्नं भवेत् शरीरपुष्ट्यादेः रागाद्युपचयहेतुत्वम् शरीरस्य 'कृशोऽहं स्थूलोऽहम्' इति प्रत्ययविषयत्वं च दूरोत्सारितं भवेत्। पुरुषान्तरशरीरस्येव घटाकाशयोरपि प्रदेशान्योन्यप्रवेशलक्षणो बन्धोऽस्त्येवेत्ययुक्तो दृष्टान्तः अन्यथा घटस्यावस्थितिरेव न भवेत्। न चान्योन्यानुप्रवेशसद्भावेऽप्याकाशवत् शरीरपरतन्त्रता आत्मनोऽनुपपन्ना, मिथ्यात्वादेः पारतन्त्र्यनिमित्तस्यात्मनि भावात् आकाशे च तदभावात्। न च शरीरायत्तत्वे सति तस्य मिथ्यात्वादिबन्धहेतुभिर्योगः १० तस्माच्च तत्प्रतिबद्धत्वम् इतीतरेतराश्रयत्वम् अनादित्वाभ्युपगमेनास्य निरस्तत्वात्। न च शरीरसम्बन्धात् प्राग् आत्मनोऽमूर्त्तत्वम् सदा तैजस-कार्मणशरीरसम्बन्धित्वात् संसारावस्थायां तस्य अन्यथा भवान्तरस्थूलशरीरसम्बन्धित्वायोगात् पुद्गलोपष्टम्भव्यतिरेकेणोर्ध्वगतिस्वभावस्यापरदिग्गमनासम्भवात् स्थूलशरीरेणातिसूक्ष्मस्य रज्ज्वादिनेवाकाशस्य सम्बन्धायोगात् संसारिशून्यमन्यथा जगत् स्यादिति संसार्यात्मनः सूक्ष्मशरीरसम्बन्धित्वं सर्वदाभ्युपगन्तव्यम्।

१५ अथ शरीरात्मनोस्तादात्म्ये शरीरावयवच्छेदे आत्मावयवस्यापि छेदप्रसक्तिः अच्छेदे तयोर्भेदप्रसङ्गः, न; कथञ्चित् तच्छेदस्याभ्युपगमात् अन्यथा शरीरात् पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न भवेत्। न च छिन्नावयवानुप्रविष्टस्य पृथगात्मत्वप्रसक्तिः, तत्रैव पश्चादनुप्रवेशात् छिन्ने हस्तादौ कम्पादितल्लिङ्गादर्शनादियं कल्पना। न चान्यत्र गमनात् तस्य तल्लिङ्गानुपलब्धिः एकत्वादात्मनः शेषस्यापि तेन सह गमनप्रसक्तेः। न चैकत्र सन्ततावनेक आत्मा अनेककार्यानावसेयानामेकत्रानुभ- २० वाधारेऽप्रतिभासप्रसक्तेः शरीरान्तरव्यवस्थितात्मान्तरवत्। न च पृथग्भूतहस्ताद्यवयवस्थितोऽसौ तत्रैव विनष्ट इति कल्पनापि युक्तिसंगता, शेषस्याप्येकत्वेन तद्वद् विनाशप्रसक्तेः ततोऽन्यत्राऽगतेः तत्रासत्त्वात् अविनष्टत्वाच्च तदनुप्रवेशोऽवसीयते गत्यन्तराभावात्। न चैकत्वे आत्मनो विभागाभावाच्छेदाभाव इति वक्तव्यम्, शरीरद्वारेण तस्यापि सविभागत्वात् अन्यथा सावयवशरीरव्यापिता तस्य कथं भवेत्? न चारभ्यमूर्त्तद्रव्यावच्छिन्नावयवस्(?) सर्वदैव तस्य तथाभावः—उत्तरकालमपि २५ तदवयवोपष्टम्भोपलब्धस्यार्थस्य तथैव स्मरणात् अन्यत्वे चैतददर्शनात्। न चासावारभ्यमूर्त्तद्रव्यवद् द्व्यणुकादिप्रक्रमेणावस्थितसंयोगैस्तैरारब्धः येन तद्वत् तस्य तथैव भावप्रसक्तिः। न चानारब्धत्वात् तस्य निरवयवत्वम् शरीरसर्वगतत्वाभावप्रसक्तेः। न च शरीराऽसर्वगतोऽसौ, तत्र सर्वत्रैव स्पर्शोपलम्भात्। न तदव्यापकस्य तच्छेदे छेदः अतिप्रसङ्गात्। न च तदवयवच्छेदे न छिन्नः तत्र कम्पाद्युपलब्धेः अतस्तत्रैवानुप्रविष्ट एकत्वादिति ज्ञायते। कथं छिन्नाच्छिन्नयोः संघटनं पश्चादिति ३० चेत्? न; एकान्तेन छेदाभावात् पद्मनालतन्तुवदविच्छेदाभ्युपगमात् संघटनमपि तथाभूतादृष्टवशादविरुद्धमेव। न चात्मनः शरीरमात्रव्यापकत्वे अन्यत्र शरीरान्तरसम्बन्धान्यथानुपपत्त्या गतिक्रियाप्रसक्तेरनित्यत्वप्रसक्तिर्दोषः, कथंचित् तस्येष्टत्वात् गृहान्तर्गतप्रदीपप्रभावत् संकोच-विकाशात्मकत्वेन तस्य न्यायप्राप्तत्वात्। न च देहात्मनोरन्योन्यानुवद्धत्वे देहप्रसक्तसद्भावे आत्मनोऽपि तथात्वप्रसक्तिः, क्षीरोदकवत् तयोर्लक्षणभेदतो भेदात्। नहि भिन्नस्वरूपयोरन्योन्यानुप्रवेशे सत्यप्येक- ३५ क्षयेऽपरस्य क्षयः यथा पच्यमाने क्षीरे प्रथममुदकक्षयेऽपि न क्षीरक्षयः। न चेह लक्षणभेदो नास्ति। तथाहि—रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादिधर्मवन्तः पुद्गलाः चेतनालक्षणश्चात्मेति सिद्धस्तयोर्लक्षणभेदः। यथा चैकान्तामूर्त्तादिरूपत्वे अर्थक्रियादेर्व्यवहारस्याभावस्तथा प्रतिपादितमनेकधेति मूर्त्तामूर्त्ताद्यनेकान्तात्मकत्वमात्मनोऽभ्युपगन्तव्यम्॥ ५०॥

---

१ यदि वा—वा० मा० आ०। २ तस्या तथा—वा०। प्रमेयक० पृ०—१७१ प्र०—पृ० १७६ द्वि०। रत्नाकराव० परि० ७, ५६ पृ० १४९ पं० २४-पृ० १५३। स्याद्वादमञ्ज० श्लो० ९ पृ० ५९-६६ आ०। शास्त्रवा० समु० स्तब० ३ श्लो० ३२ स्याद्वादक० पृ० ११११। ३—था पचाप्यमा—मा०।—था कथ्य—भा० पु०। ४ "स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः"—तत्त्वार्थ० अ० ५ सू० २३। ५ "उपयोगो लक्षणम्"—अ० २ सू० ८।

[निरपेक्षयोर्द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिकयोर्मतेन यथा यथा कर्मबन्धस्तत्फलप्ररूपणा भवति तथोपवर्णनम्]

अस्य च मिथ्यात्वादिपरिणतिवशोपात्तपुद्गलाङ्गाङ्गिभावलक्षणो बन्धः तद्वशोपनतसुख-दुःखानुभवस्वरूपश्च भोगः अनेकान्तात्मकत्वे सत्युपपद्यते अन्यथा तयोरयोग इति प्रतिपादनार्थमाह— दव्वट्ठियस्स इत्यादि।

अथवा परस्परसापेक्षद्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिकयोः प्ररूपणा प्रदर्शितन्यायेन सम्भविनी निरपेक्षयोः कथं सा? इत्याह— ५

दव्वट्ठियस्स आया बंधइ कम्मं फलं च वेएइ।
बीयस्स भावमेत्तं ण कुणइ ण य कोइ वेएइ ॥ ५१ ॥

द्रव्यास्तिकस्येयं प्ररूपणा-आत्मा एकः स्थायी कर्म ज्ञानादिविबन्धकं बध्नाति १० स्वीकरोति तस्य कर्मणः फलं च कार्यरूपं वेदयते भुङ्क्ते आत्मैव। द्वितीयस्य तु पर्यायार्थिकस्येयं प्ररूपणा-नैवात्मा स्थाय्यस्ति किन्तु भावमात्रं विज्ञानमात्रमिति न करोति न च कश्चिद् वेदयते उत्पत्तिक्षणानन्तरध्वंसिनः कर्तृत्वाऽनुभवितृत्वायोगात् ॥ ५१ ॥

तथेयमपि तयोस्तथाभूतयोः प्ररूपणेत्याह—

दव्वट्ठियस्स जो चेव कुणइ सो चेव वेयए णियमा।
अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ पज्जवणयस्स ॥ ५२ ॥ १५

य एव करोति स एव वेदयते नित्यत्वात् द्रव्यास्तिकस्यैतन्मतम्। अन्यः करोत्यन्यश्च भुङ्क्ते क्षणिकत्वात् पर्यायनयस्य। ननु पूर्वगाथोक्तमेव पुनरभिदधता पिष्टपेषणमाचार्येण कृतं भवेत्, न, उत्पत्तिसमनन्तरध्वस्तेन करणम् भोगो वा सम्भवीति प्राक् प्रतिपादितम् इह तु उत्पत्तिक्षण एव कर्ता तदनन्तरक्षणश्च भोक्तेति न पुनरुक्तता। उक्तं च परैः—२० "भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते"[1] [ ] इति ॥ ५२ ॥

[सापेक्षनयद्वयाश्रितानामेव कथंचित्पदाङ्कितानां वचसां स्वसमयप्ररूपणात्वं नान्येषामित्यभिधानम्]

इयमसंयुक्तयोरनयोः स्वसमयप्ररूपणा न भवति या तु स्वसमयप्ररूपणा तामाह— २५

जे वयणिज्जवियप्पा संजुज्जंतेसु होन्ति एएसु।
सा ससमयपण्णवणा तित्थयराऽऽसायणा अण्णा ॥ ५३ ॥

ये वचनीयस्याभिधेयस्य विकल्पास्तत्प्रतिपादका अभिधानभेदाः संयुज्यमानयोरन्योन्यसम्बद्धयोर्भवन्त्यनयोर्द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिकवाक्यनययो। ते च—'कथंचिन्नित्य आत्मा कथञ्चिदमूर्त्तः' इत्येवमादयः। सा एषा स्वसमयस्येति तदर्थस्य प्रज्ञापना निदर्शना अन्या तु ३० निरपेक्षयोरनयोरेव नययोर्या प्ररूपणा सा तीर्थकरस्यासादनाऽधिक्षेपः। "एगमेगेणं जीवस्स

---

1 "क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया?। भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते"॥-बोधिचर्यावता० प्रज्ञपार० पञ्जि० परि० ९ पृ० ३७६ पं० २। २, २, २० ब्रह्म० भामती पृ० ५३१। रत्नाकराव० परि० १-१५ पृ० २९ पं० १४। स्याद्वादमञ्ज० श्लो० १६ पृ० १२८ पं० ७ आ०। मध्यमकवृ० पृ० ११६ टि० १। 2 प्र०—"एगमेगस्स णं भंते! जीवस्स एगमेगे जीवपएसे णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स केवइएहिं अविभागपलिच्छेदेहिं आवेढिए परिवेढिए सिया? उ०—गोयमा! सिय आवेढियपरिवेढिए सिय नो आवेढियपरिवेढिए। जइ आवेढियपरिवेढिए नियमा अणंतेहिं"।-भगवती० शत० ८ उद्दे० १० सू० ३५५।

पएसे अणंतेहिं णाणावरणिज्जपोग्गलेहिं आवेढियपवेढिए" [ ] इति तीर्थकृद्वचने णोपपन्ने सत्यपि—

"नामूर्त्तं मूर्त्ततामेति मूर्त्तं नायात्यमूर्त्तताम् ।
द्रव्यं कालत्रयेऽपीत्थं च्यवते नात्मरूपतः" ॥ [ ] इति ।

५ तीर्थकृन्मतमेवैतन्नयवादनिरपेक्षमिति कैश्चित् प्रतिपादयद्भिस्तस्याधिक्षेपप्रदानात् ॥ ५३ ॥

[स्याद्वादज्ञः अधिकारिविशेषे सति निरपेक्षनयद्वयाश्रितान्यपि वचांसि प्रयुञ्जानो न दोषभागिति प्रथनम्]

परस्परनिरपेक्षयोरनयोः प्रज्ञापना तीर्थकरासादना इत्यस्यापवादमाह–

पुरिसज्जायं तु पडुच्च जाणओ पण्णवेज्ज अण्णयरं ।
१० परिकम्मणाणिमित्तं दाएही सो विसेसं पि ॥ ५४ ॥

पुरुषजातं प्रतिपन्नद्रव्यपर्यायान्यतरस्वरूपम् श्रोतारं वा प्रतीत्य आश्रित्य ज्ञा... स्याद्वादवित् प्रज्ञापयेत् आचक्षीत अन्यतरत् पर्यायम् द्रव्यं वा—अभ्युपेतपर्यायाय द्रव्यमे... अङ्गीकृतद्रव्याय च पर्यायमेव कथयेत् । किमित्येकमेव कथयेत्? परिकर्मनिमित्तं बुद्धिसंस्क... रार्थम् । परिकर्मितमतये दर्शयिष्यत्यसौ स्याद्वादाभिज्ञः विशेषमपि द्रव्य-पर्याययोः प... १५ रस्पराविनिर्भागरूपमेकांशविषयविज्ञानस्यान्यथा विपर्ययरूपताप्रसक्तिः स्यात् तदितराभावे तद्वि... यस्याप्यभावात् ॥ ५४ ॥

इति तत्त्वबोधविधायिन्यां सम्मतिटीकायां प्रथमकाण्डम् ॥

---

१ "पर शङ्कते" इति निर्दिश्य समुद्धृतमिदं पद्यमित्थम्—
"नामूर्तं मूर्ततां याति मूर्तं नायात्यमूर्तताम् ।
यतो बन्धाद्यतो न्यायादात्मनोऽसंगतं तथा ॥ ४१ ॥–शास्त्रवा॰ समु॰ स्तब ३ ।
२ सम्मति–बृ॰ भा॰ वा॰ । संमति–ल॰ भां॰ भा॰ । ३ प्रथमं काण्डं पू॰ ।